UNIVERSITY OF TORONTO
3 1761 00670778 0

Digitized by the Internet Archive
in 2010 with funding from
University of Toronto

http://www.archive.org/details/nyyastra00gaut

न्याय सूत्र

महामुनि गौतम कृत

और

विश्वनाथ तर्क पञ्चानन कृत वृत्ति का

हिन्दी अनुवाद

पण्डित सुख दयाल शास्त्री कृत ॥

पञ्जाब महाविद्यालय के निमित्त ।

Aphorisms of the

Nyaya Philosophy

or

Sanscrit Logic

with Vishva nath's Commentary

translated into Hindi

by

Pandit Sukhdyal Shastri

Published under the auspices of the

Punjab University

— 1883 —

Anjuman i Punjab Press

Lahore

First Edition

300 Copies

Price 1 Rupee

LIBRARY
JUN 16 1969
UNIVERSITY OF TORONTO

B
132
N8G678
1883

ओंश्रीगणेशायनमः ॥

न्यायसूत्रवृत्तिः

मंगल

वपुर्लीलालक्ष्मीजितमदनकोटिर्व्रजवधू
जनानामानन्दंकमपिकमनीयंविरचयन्।
सकोपिप्रेमाणंप्रथयतुमनोमन्दिरचरः
त्रिलोकीलोकानांसजलजलदश्यामलतनुः १

शरीर की सौंदर्य शोभा से कामदेव को जीतकर व्रज वधूओं को अलौकिक मनोहर आनन्द देते, स्वर्ग, मर्त्य और पाताल के निवासी जनों के मन (अंतःकरण) में अंतर्यामी होके स्थित, जल से भरे नये मेघ की नाईं श्यामवर्ण, अति प्रसिद्ध कृष्णदेव तुमारे प्रेम को विस्तार करें; । १॥

मेयुक्तोयुक्तरूपामभिनवनिहितालक्तकारक्तभासा
मन्यायीशप्रणामोन्नतिरुचिरनतेर्भूषयन्तीमभिख्यां
मानध्वंसेकनम्रत्रिपुरहरशिरोरम्यभूषाविशेषं
भूयोभव्यंविधातेचरणनखरुचेर्भावयामोभवान्याः २

नये लगाये लाक्ष के रंग से सायंकाल के चन्द्रमा की अति मनोहर शोभा का तिरस्कार करती, मान हर करने के अर्थ प्रणाम करने महादेव के सिर पर मनोहर भूषण की नाईं शोभायमान, पास्पर मिली हुई, अति सुंदर भवानी (पार्वती) के चरणों के नखों की कांति को कल्याण की कामना से हम बार बार स्मरण करते हैं। २॥

यदीयनर्कैकिरणैरनाध्वान्तसन्ततिम्
सन्तस्तरन्तिभास्वन्तमतपादंनमामितम् ३

जिस के नर्क (युक्ति) नामी किरण (प्रकाश) से सज्जन लोग अंतःकरण के अज्ञान नामी अंधकार को ना (उलंघन कर) जाते हैं, उस भास्वान (सूर्य) अतपाद (गौतम) को मैं नमस्कार करता हूं; ॥ ३ ॥

अहैतंगुरुधर्मयोरिवलसत्सामग्रलीमण्डनं
रूपंकिञ्चनयौरुषंगिरइवप्रागल्भ्यसम्पादकम्।
दानेकर्णमिवावनौर्णमयंदीनेदयादक्षिणं
तातंविश्वविसारिचारुयशसंविद्यानिवासंनुमः ४

धर्म की मूर्ति धारण किये गुरु, स्त्री के भूषण, सरस्वती को प्रगल्भ करने में समर्थ देहधारी पुरुषार्थ, दान करने में प्रगट रूप दूसरे कर्ण, अनाथों पर कृपा करनेके समुद्र और सारे जगत में प्रसिद्ध यशस्वी, विद्यानिवास नामी अपने पिता जी की मैं स्तुति करता हूं। ४ ॥

अलसमतिरयीदंविस्तृतंन्यायशास्त्रं
विरहितबहुयत्नोलीलयावेत्तुविज्ञः।
इतिविनिहितचेताःकौशलेकर्तुकामो
गुरुचरणरजोदेकर्णधारीकरोमि। ५।

आलसी भी बुद्धिमान पुरुष अधिक यत्न करने से विना ही लीलासे इस विस्तृत न्यायशास्त्र में अत्यन्त दोजावे; इसलिये चतुराई करने की इच्छा से मैं गुरुजी के चरणों की धूलिको कर्णधार (मल्लाह) बनाता हूं। ५ ॥

विद्यानिवासस्नूनोः कलिरेषाविश्वनाथस्य
विदुषामतिसूक्ष्मधियामलक्षणसूत्रेभविता ८

विद्यानिवास के पुत्र विश्वनाथ का यह (न्यायसूत्रवृत्ति) यत्न अतिसूक्ष्म बुद्धि सज्जनों पंडितों को आनन्द देवे। ८

अवतरणिका।

सिद्धार्थेसिद्धसम्बन्धश्रोतृश्रोतापवर्त्तने।
शास्त्रादौतेनवक्तव्यःसम्बन्धःसप्रयोजनः। १।

जिस विषय का प्रयोजन और संबंध (संगति) जान लियाजावे; उसी विषय को पुरुष आनंद से चित्त देकर सुनता है; इसलिये आदि में शास्त्र का प्रयोजन और संबंध अवश्य कहना योग्य है; १॥ इसी आशय को लेकर गौतम जी ने आदि में दो सूत्रों के १म प्रकरण में विषय, संबंध, प्रयोजन और अधिकारी ये चार वस्तु दिखाई हैं। १म सूत्र में अथवा अन्य सूत्रों में जहां जहां द्वंद्व समास किया है, वहां कई पदार्थों का यानी भेद का भी हो, तो पदार्थों के छेदकों (पदार्थों के विशेषणों) के भेद से ही द्वंद्व समास जान लेना; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के विशेष विभाग सूत्रकार ने आगे आपही विस्तार पूर्वक दिखाये हैं, इस से समास के विग्रह में सब पदों से अन्त एक वचन देने से कोई हानि नहीं प्रतीत होती, यह नवीनों का सिद्धांत ही उत्तम है। इसीसे अनुपयोगी जानकर यथाश्रुत भाष्यादि सारी और संप्रदायवेत्ताओं का विग्रह में वचन का विचार नहीं दिखाया ॥ ❀ ॥ ❀ ॥

ओम्

गौतमसूत्र ॥

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानांतत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः १ ॥

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थों के तत्वज्ञान (साधर्म्य, वैधर्म्य के द्वारा यथार्थ ज्ञान) से मोक्ष होता है; यह गौतम का सिद्धांत है। यद्यपि इन सोलह पदार्थों का यथार्थज्ञान इन के नाम मात्र जानने से ही अथवा एक पहिला सूत्र पढ़ने से भी हो सकता है; तो भी इन पदार्थों का (साधर्म्य, वैधर्म्य के द्वारा) विशेष-ज्ञान इस शास्त्र के पढ़ने विना कभी नहीं हो सकता; कि जिसमें पदार्थों के उद्देश (केवल संज्ञा विभाग,) लक्षण (इतर पदार्थों से भेदके साधक धर्म) और परीक्षा (इस पदार्थ का यह लक्षण ठीक बन सकता है; वा नहीं यह विचार) का वर्णन हो। इस न्यायशास्त्र के पांच अध्याय हैं, प्रत्येक अध्याय में दो २ आह्निक हैं, प्रत्येक आह्निक में कई प्रकरण हैं, प्रत्येक प्रकरण में कई सूत्र हैं, प्रत्येक सूत्र में कई वाक्य हैं और प्रत्येक वाक्य में कई पद होते हैं इस शास्त्र का प्रयोजन (मोक्ष का कारण

तत्वज्ञान है; अधिकारी वे हैं, जिन्हे तत्वज्ञान की अपेक्षा है; इसीप्र
कारसूत्र का भावाशय विचारने से कई भांति के संबंध प्रती
त होते हैं; जैसे मोक्ष और तत्वज्ञान का जन्यजनकभाव
संबंध है; अर्थात् मोक्ष जन्य (कार्य) और तत्वज्ञान जन-
क (कारण) है; इसी भांति शास्त्र और तत्वज्ञान का भी ज-
न्य जनकभाव ही संबंध है; अर्थात् तत्वज्ञान कार्य और
शास्त्र कारण है; परंतु कारण के कारण को प्रयोजक और
कार्य के कार्यको प्रयोज्य कहते हैं; इसलिये मोक्ष का शा-
स्त्र के साथ प्रयोज्यप्रयोजकभाव संबंध हुआ; कि मोक्ष प्र-
योज्य (शास्त्र के कार्य तत्वज्ञानका कार्य) और शास्त्र प्रयोज
क (मोक्ष के कारण तत्वज्ञान का कारण) है; प्रमाण आदि
सोलह पदार्थों का तत्वज्ञान के साथ विषय विषयिभाव सं-
बंध है; सोलह पदार्थ विषय और तत्वज्ञान विषयी है। इस
सूत्र में (निःश्रेयसाधिगमः) यहां अधिगम पद अधिक दे
ने का यह तात्पर्य है; घट आदि लौकिक कार्यों की नाईं मो-
क्ष की उत्पत्ति और प्राप्ति के कारण पृथक् २ नहीं जानने, किं
तु मोक्ष की उत्पत्ति और प्राप्ति का भी कारण तत्वज्ञानही है।
प्रमेयों के तत्वज्ञान से मोक्ष गोतम जीने माना है; तो आदि
में प्रमेयों का निरूपण ही करना चाहिये, प्रमाणों का नाम
आदि में इस निमित्त से लिया है; सारे पदार्थों की व्यवस्था
प्रमाणों से ही बांधी जाती है; इसलिये प्रमाण सब से प्रधा
न (मुख्य) है। परंतु प्रमाणों के द्वारा प्रमेयों का (यथार्थ)
जानना ही अपेक्षित है; इसलिये प्रमाणों से अनंतर प्रमेयों
का निरूपण किया है। दो पुरुषों के विवाद में पदार्थों की

व्यवस्था के हेतु न्याय (पांचअवयवों के समूह) का निरूपण करने के लिये न्याय के पूर्वांग (पहिले अपेक्षित) संशय और प्रयोजन का निरूपण करना पड़ा; परंतु प्रयोजन साक्षात् न्याय का अंग नहीं, किंतु प्रयोजन का ज्ञान न्याय का अंग है; इसलिये पहिले साक्षात् न्याय के अंग संशय का निरूपण कर के प्रयोजन का निरूपण किया है। नैयायिक लोग इच्छा के बल से निश्चित पदार्थ की भी अनुमिति करलेते हैं; तो संशय किस रीति न्याय का अंग हुआ; इस का उत्तर यह है, कि जिनों ने साध्यसंशय पदार्थ मानी है; उन के मत में निश्चय से अनंतर आहार्य (अयथार्थ) संशय की कल्पना करके ही अनुमिति होती है। परंतु दृष्टांत दिये विना पदार्थ पूर्ण रूप से लोगों को नहीं प्रतीत होता; इसलिये दृष्टांत का निरूपण किया है। दृष्टांतके द्वारा जो अनुमान करते हैं; वह सिद्धांत होता है, इस से सिद्धांत का निरूपण किया। इस से अनंतर सिद्धांत के अधीन पांच अवयवोंका निरूपण है। फिर न्याय के सहायक तर्क का निरूपण। पीछेसे तर्क के कार्य निर्णय का निरूपण। फिर निर्णय के अनुकूल वाद का निरूपण किया है। वाद का कार्य निर्णय जल्प से भी उपजता है; इसलिये अनंतर जल्प का निरूपण है। इस से पीछे जय की निमित्त वितंडा का वर्णन है। परंतु वाद जल्प, वितंडा इन तीनों में से कोई एक कथा भी हेत्वाभासों से विना नहीं प्रवृत्त हो सकती; इसलिये कथाओं से अनंतर दोषों का निरूपण अवश्य करना चाहिये। वाद नामी उत्कृष्ट कथा में प्रयोग (कथन) की योग्यता से और सदे-

न (प्रमाण हेतु) की नाईं प्रतीत होने से सब दोषों में उत्कृष्ट हेत्वाभासों का निरूपण कर के, हेत्वाभासों (दुष्टहेतुओं) से सिद्ध छल का निरूपण किया है। फिर अपने पक्ष का खंडन करने से दोषों में अधम जाति नामी असत् उत्तर का वर्णन है। अंत में (कथा की समाप्ति के समय) दोनों में से किसी एक पक्ष की हानि के हेतु निग्रहस्थानों का निरूपण है। बुद्धिनामी प्रमेय के अंतर्गत संशय और निरनुयोज्यानुयोग नामी निग्रहस्थान के अंतर्गत छल, जाति का (छात्र गणों की बुद्धि विस्तार के लिये) पृथक् निरूपण हो; परंतु निग्रहस्थानों में परिगणित हेत्वाभासों के पृथक् निरूपण का बीज गौतम जी ही जानते हैं। वात्स्यायनभाष्य में लिखा है, कि वाद में कथन की योग्यता से हेत्वाभासों का पृथक् वर्णन है। इस पर न्यायवार्तिक का यह आक्षेप है; कि जे कभी वाद में प्रयोग की योग्यता से हेत्वाभासों का पृथक् निरूपण मानें; तो इसी योग्यता से न्यून, अधिक, अपसिद्धांत नामी निग्रहस्थानों का भी पृथक् निरूपण अवश्य करना चाहिये; जिस से कथाप्रकरण में यह स्पष्ट प्रतीत होगा, कि न्यून, अधिक, अपसिद्धांत और हेत्वाभास येचारो दोष वाद में लिये जाते हैं। और यदि भाष्य का यह भाव निकालें कि जिन दोषों का पृथक् निरूपण है, वे वाद में अवश्य लिये जाते हैं; तो छल, जाति भी वाद में लेने चाहियें, जिस से सूत्रों में इनका पृथक् वर्णन किया है। किंतु आन्वीक्षिकी (न्याय) त्रयी (वेद) वार्ता (धर्मशास्त्र) और दंडनीति (राजनीति) इन चारों विद्याओं के क्रम (रीति) भेद जनाने

के लिये संशय, छल, जाति और हेत्वाभासों का पृथक् निरूपण है। परंतु वृत्तिकार ने इस उत्तर को भी अयुक्त माना है; जिस से निग्रहस्थानों में इन पदार्थों का निरूपण करने से भी रीति का भेद स्पष्ट प्रतीत हो सकता है। वृत्तिकारने अपनी ओर से यह उत्तर दिया है; कि हेत्वाभास (दुष्टहेतु) को यदि निग्रहस्थान कहो, तो सारे अनुमानों में प्रमेयत्व आदि दुष्ट (व्यभिचारी) हेतु रहतेहैं; इस लिये सब अनुमान निगृहीत (खंडित) होने चाहिये। किंतु हेत्वाभासों का प्रयोग निग्रहस्थान है; अर्थात् जिस अनुमान में धूम आदि हेतुओं के स्थान प्रमेयत्व का कथन करें तो वह अनुमान दुष्ट ही कहावेगा। निग्रहस्थानों में जो हेत्वाभास शब्द है, इस का अर्थ (हेत्वाभासोंका) प्रयोग ही है; परंतु प्रयोग (कथन) का लक्षण करने की कुछ अपेक्षा नहीं है; इसी से गौतम जी ने अंतिम सूत्र लिखा है कि हेत्वाभासा यथोक्ताः, अर्थात् हेत्वाभासों का जैसा वर्णन करआए है; उन्हीं का प्रयोग निग्रहस्थान जानना। और जे कभी कोई ऐसा कहे, कि हेत्वाभासों का प्रयोग जब निग्रहस्थान है; तो वहां ही विशेषण रूप से हेत्वाभास का निरूपण हो जावेगा; पृथक् वर्णन व्यर्थ है। इस का उत्तर यह है, विशेषण रूप से जिन पदार्थों का वर्णन है; उन का पृथक् निरूपण यदि न मानें; तो प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः, इत्यादि वाद के लक्षण सूत्र में विशेषण रूपसे प्रमाण तर्क आदि कई पदार्थों का नाम आया है; इस से इन सब पदार्थों का पृथक् निरूपण न करना चाहिये। पहिले अध्याय में

पदार्थों की संज्ञा, लक्षण और प्रसंग (संगति) से छल की परीक्षा का वर्णन है। और व्याप्ति, पक्षधर्मता सहित न्याय (प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों के समूह) का वर्णन पहिले आह्निक का प्रयोजन है। इस आह्निक के आदि में दो सूत्रों का एक प्रकरण है; जिस में न्याय शास्त्र के विषय और प्रयोजन का वर्णन है। दूसरे ६ सूत्रों के प्रकरण में प्रमाणों के सामान्य और विशेष लक्षण कहे हैं। तीसरे दस सूत्रों के प्रकरण में प्रमेयों के भेद और सामान्य, विशेष लक्षण हैं। चौथे तीन सूत्रों के प्रकरण में न्याय के पूर्वांगों का विस्तार किया है। पांचवें ६ सूत्रों के प्रकरण में न्याय के सिद्धांतों का लक्षणों के द्वारा विस्तार किया है। फिर आठ सूत्रों के छठे प्रकरण में पांच अवयवों के स्वरूप और लक्षण हैं। सातवें दो सूत्रों के प्रकरण में न्याय के उत्तर अंग (तर्क और निर्णय) का विस्तार किया है। ये सात प्रकरण पहिले आह्निक में हैं। मोक्षधर्म में लिखा है कि यस्तर्केणानुसन्धत्तेसधर्म्मं वेदनेतरः इत्यादिकई प्रमाणों से सिद्ध होता है; कि न्यायशास्त्र पढ़ के वेदआदि के अनुकूल तर्क विचार किये विना धर्म और मोक्ष का अधिकार भी पुरुष को नहीं होता; इसलिये मुमुक्षु और धर्मात्माओं को न्यायशास्त्र का अभ्यास अवश्य करना चाहिये १ ॥ ❊ ❊ ❊ ॥

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञाना
नामुत्तरोत्तरापायेतदनन्तरापा
यादपवर्गः २ ॥

दुःख (पीड़ा) जन्म (नये शरीर के साथ प्राणों का पहिला-संयोग) प्रवृत्ति (पुण्य, पाप) दोष (राग, द्वेष, मोह) और मिथ्याज्ञान (भ्रम) इनमें से उत्तरोत्तर (सब से पिछले) मिथ्याज्ञान का नाश (तत्वज्ञान होने पर स्वाभाविक विरोध से ही) जब हो जाता है; तो मिथ्याज्ञान के कार्य (राग, द्वेष, मोह) अपने कारण के न होने से नहीं उपजते। फिर दोषों के न होने से दोषों के कार्य (धर्म, अधर्म) भी निवृत्त हो जाते हैं; परंतु जन्म के कारण पुण्य, पाप ही थे, इसलिये प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश होता है; परंतु शरीर से संबंध हुए विना दुःख का होना ही असंभव है, इसलिये जन्म के नाश से जो बीज सहित दुःखों का नाश होता है; इसे अपवर्ग (मोक्ष) कहते हैं। इस सूत्र का क्रम देखने से यह भी प्रतीत हुआ; कि तत्वज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं, किंतु इसी परंपरा से कारण है। यह मोक्ष भी पर, अपर नाम से दो भांति का है; जिन पुरुषों ने अपने प्रारब्ध कर्म सब भोग लिये, शेष कर्म कोई नहीं छोड़ा, उन्हें जो तत्वज्ञान से मोक्ष मिला, उसे पर मोक्ष कहते हैं। और तत्वज्ञान के निरंतर अभ्यास से जिन का मिथ्याज्ञान तो नष्ट हो गया; परंतु प्रारब्ध कर्म अभी शेष रहते हैं; भोग से विना तो इन का नाश हो ही नहीं सकता, जैसा गीता में भी लिखा है, (नाभुक्तंक्षीयतेकर्म कल्पकोटिशतैरपि अव

एमेवभोक्तव्यं कृतं कर्म्मशुभाशुभम् १) ऐसे पुरुषों को कर्मों के भोग तक जीवन्मुक्ति नाम का मोक्ष मिलता है; इसे अपर मोक्ष कहते हैं। इच्छा (राग) के विना भी गंगाजल के संयोग से अथवा परमेश्वर स्मरण से धर्म उत्पन्न होता है; इसी भांति द्वेष से विना भी हिंसा करने से पाप उपजता है; फिर कैसे कहते हो, कि धर्म, अधर्म के कारण दोष हैं। इस का उत्तर यह है, राग, द्वेष न भी हो, तो मिथ्याज्ञान से उपजा हुआ दृढ़ संस्कार ही उक्त स्थलों में दोष है; भ्रम के नाश से अथवा तत्वज्ञान के संस्कार से इस दुष्ट संस्कार का नाश होता है। दुःखों का नाश ही जब मोक्ष हुआ, तो इस सूत्र में दुःखापायात् इस पंचमी विभक्ति का अर्थ अभेद ही करना; अथवा अपवर्ग पद का अर्थ (मोक्ष का) व्यवहार करना; अर्थात् ऐसे दुःखों के नाश से मोक्ष का व्यवहार (कथन) होता है २॥ न्याय शास्त्र के प्रयोजन तत्वज्ञान और मोक्षद पदार्थों की संज्ञाओं का प्रतिपादक पहिला प्रकरण समाप्त हुआ १॥ ॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ३

प्र उपसर्ग से अनंतर मा धातु के उत्तर करण में ल्युट् प्रत्यय ले आकर प्रमाण पद सिद्ध होता है; उस में प्र उपसर्ग का अर्थ प्रकृष्ट (उत्कृष्ट) है, मा धातु का अर्थ ज्ञान और ल्युट् प्रत्यय का अर्थ करणता है। ज्ञान में तद्वति तत्प्रकारता (जो वस्तु जहां हो वहां उस वस्तु को विशेषण रूप से जानना) ही उत्कृष्टता है; इसी ज्ञान को यथार्थ भी कहते हैं, तो प्रमाण पद से ही सिद्ध हुआ, कि प्रमिति करणत्व प्रमाण का लक्षण है, अर्थात् यथार्थज्ञान के करण (व्यापार वाले कारण) को प्रमाण कहते हैं। इस प्रमाण के चार भेद हैं, जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। परंतु प्रमाणों के इस सामान्य लक्षण में ज्ञान पद से अनुभव नामी ज्ञान ही अपेक्षित है; नहीं तो स्मृति का करण भी एक पांचवां प्रमाण होना चाहिये; पर अनुभव भी निश्चय रूप लेना, नहीं तो यथार्थ संशय का करण भी एक पृथक् प्रमाण हो जावे। और अर्थापत्ति आदि कई प्रमाण जो अन्यशास्त्रकारों ने माने हैं; उनका खंडन दूसरे अध्याय में भली भांति किया जावेगा ३ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचार्यव्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ४ ॥

सब प्रमाणों में प्रयास और विवाद से विना नास्तिक पर्यंत सारे जनों को स्वीकृत होने से आदि में सब प्रमाणों में से प्रत्यक्ष का ही निरूपण करते हैं। प्रतिगत (विषय में प्राप्त) जो अक्ष (इंद्रिय) उसे प्रत्यक्ष कहते हैं; इस व्युत्पत्ति से प्रत्यक्ष

शब्द का अर्थ इंद्रिय है; और तीसरे सूत्र में जो प्रमाणों के भेद कहे हैं; तो इस सूत्र में भी प्रत्यक्ष प्रमाण (इंद्रिय) का ही लक्षण करना चाहिये; प्रत्यक्ष प्रमा (ज्ञान) का लक्षण करना असंगत प्रतीत होता है। इस का उत्तर यह है, ऐसा ज्ञान जिस करण से उत्पन्न हो; उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं; अथवा प्रमाण के एक देश प्रमा का लक्षण जब जान लिया, तो उस का करण प्रमाण है, यह प्रमाण का लक्षण सहज से ही प्रतीत होजावे गा, इसनिमित्त से प्रमा का ही लक्षण इस सूत्र में कहा है। लक्षण यह है, इंद्रिय और अर्थों के संबंध से जो यथार्थ (भ्रमसेभिन्न) ज्ञान उत्पन्न हो, उस ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा कहते हैं। इस में यह आशंका है, इंद्रिय (मन) और अर्थ (आत्मा) के संयोग से सुख, दुख, अनुमिति आदि सारे ज्ञान, उत्पन्न होते हैं; लक्षण में ज्ञान पद के निवेश से सुख दुख में यद्यपि दोष नहीं लगता तो भी अनुमिति आदि ज्ञानों में लक्षण जाने से अतिव्याप्ति (लक्ष से भिन्न वस्तु में लक्षण की प्राप्ति) दोष लगता है। और ईश्वर का नित्य प्रत्यक्ष किसी से जन्य नहीं तो इंद्रिय और अर्थ के संबंध से जन्य कैसे हो गा; इसलिये ईश्वर के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति (लक्ष के किसी अंश में लक्षण का न रहना) दोष भी लगा। इस का उत्तर कोई यह देते हैं, अनुभवसिद्ध प्रत्यक्षत्व जाति जिस में रहे, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इस लक्षण से उक्त दोष तो हट जाते हैं; जैसे अनुमिति आदि ज्ञानों में प्रत्यक्षत्व जाति के नहोने से अतिव्याप्ति हट गई; ईश्वर के प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व जाति रहने से अव्या

प्ति भी नहीं लगी। परंतु यह बात आगे स्पष्ट प्रतीत होगी, जातिच्युत लक्षण को ग्रंथकार लोग प्रमाण नहीं मानते; किंतु इंद्रिय और अर्थ के संबंध से भिन्न (ज्ञान) जिस का कारण नहो, ऐसे भ्रम से भिन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इसी लक्षण को संस्कृत में यूं कहते हैं, ज्ञानाकरणकभ्रमभिन्नज्ञानत्वं प्रत्यक्षस्यलक्षणम् अनुमिति में व्याप्तिज्ञान, उपमिति में सादृश्यज्ञान, शाब्दबोध में पद ज्ञान और स्मृति में अनुभव (ज्ञान) करण होने से अतिव्याप्ति का वारण हो गया। ईश्वर के नित्य प्रत्यक्ष का कोई भी करण नहीं तो ज्ञान कहां से करण होना था; इसलिये अव्याप्ति का भी वारण हो गया। परंतु आंशिक भ्रम (एक अंश में भ्रम और एक अंश में यथार्थ ज्ञान) को जिनों ने लक्ष माना है; उन के मत में वह आंशिक ज्ञान भ्रम से भिन्न नहीं हुआ, तो अव्याप्ति लगी; इसलिये ऐसा लक्षण करना, जिस में ज्ञान करण नहो, ऐसा जो उस वस्तु के आश्रय में उस वस्तु के जनाने वाला ज्ञान उसे प्रत्यक्ष कहेंगे। परंतु विशेषण, विशेष्य और संबंध जिस में नहीं प्रतीत होने, ऐसे निर्विकल्पक ज्ञान में यह भी लक्षण नहीं जा सकता; इसलिये यह लक्षण करना, जिस में ज्ञान करण न हो, ऐसा जो (उस वस्तु से शून्य देश में उस वस्तु के न जनाने वाला) ज्ञान उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। यह प्रत्यक्ष दो भांति का है, सविकल्पक (विशेषण, विशेष्य और संबंध के जनाने वाला) निर्विकल्पक (इनके न जनानेवाला) इसी प्रत्यक्ष (प्रमा) का करण (इंद्रिय) प्रत्यक्षप्रमाण है ॥ ॥

अथतत्पूर्वकंत्रिविधमनुमानंपूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टंच ५ ॥

प्रत्यक्ष कारण और अनुमान कार्य है; यह (हेतुहेतुमद्भाव) संगति जनाने के लिये इस सूत्र के आदि में अथ शब्द का प्रयोग किया है। अनु उपसर्ग से अनंतर मा धातु के उत्तर भाव (मा धातु के अर्थ) वाच्य में अथवा करण वाच्य में ल्युट् प्रत्यय लेआ कर दोनों रीति से अनुमान पद सिद्ध होता है; परंतु दोनों पदों में लक्षण तत्पूर्वकत्व ही है; भाव वाच्य पक्ष में समन्वय इस रीति करना, (तत्पूर्वकत्व) इस लक्षण में तत् शब्द का अर्थ प्रत्यक्षविशेष (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान) है; और पूर्वकत्व का अर्थ जन्यत्व है, अर्थात् पक्ष में व्याप्तिविशिष्ट हेतु के दृष्टित्वज्ञान से जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमिति कहते हैं। इस अनुमिति के करण (व्याप्ति ज्ञान) को अनुमान प्रमाण कहते हैं; और करण वाच्य पक्ष में समन्वय का यह प्रकार है; उक्त लक्षण में तत् शब्द का अर्थ प्रत्यक्षविशेष सहचारज्ञान (साध्य के साथ हेतु के एक आश्रय में रहने का ज्ञान) है; पूर्वकत्व का अर्थ जन्यत्व ही है, अर्थात् साध्य के साथ हेतु के (एक अधिकरण में) रहने के ज्ञान से जोज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। यह अनुमान तीन प्रकार का है, पूर्ववत् (कारण से कार्य का अनुमान) जैसे कारण (मेघ की उन्नति) से कार्य (वृष्टि) का अनुमान, शेषवत् (कार्य से कारण का अनुमान) जैसे कार्य (नदी की वृद्धि) से कारण (वृष्टि) का अनुमान

और सामान्यतोदृष्ट (कार्य, कारण भिन्न से किसी पदार्थ का अनुमान) जैसे घट आदि पदार्थों में पृथिवीत्व हेतु से द्रव्यत्व का अनुमान। अथवा पूर्ववत् (केवलान्वयी) जैसे ज्ञेयत्व हेतु से वाच्यत्व का अनुमान, शेषवत् (केवल व्यतिरेकी) जैसे गंधवत्व हेतु से पृथिवी में इतरभेद का अनुमान, सामान्यतोदृष्ट (अन्वयव्यतिरेकी) जैसे धूम हेतु से पर्वत में वह्नि का अनुमान व्याप्ति का विस्तारतो जागदीशी आदिग्रंथों में किया है; परंतु यहां भी उपयोग के लिये कुछ लिखते हैं। जिस स्थान में हेतु रहे वहां साध्य का अवश्य रहना अन्वयव्याप्ति कहाता है; और जिस २ स्थान में साध्य नरहे वहां हेतु का सदा ही न रहना व्यतिरेक व्याप्ति कहाता है। इन्हीं दो भेदों से ऊक्त हेतु तीन भांति के हो गये हैं; अर्थात् केवल अन्वय व्याप्ति से केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकव्याप्ति से केवलव्यतिरेकी और दोनोंव्याप्तियों से अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहाते हैं ५ ॥

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ६ ॥

प्रसिद्ध गौ आदि पदार्थों के साधर्म्य (सादृश्य) से गवय आदि पदों के शक्तिज्ञान (इस प्रकार के जीवों को गवय पद से जानना) की सिद्धि को उपमिति कहते हैं। इस उपमिति का करण (सादृश्य का ज्ञान) उपमान प्रमाण होता है; परंतु टीकाकारों ने सादृश्य की नाईं वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) से भी उपमिति मानी है; जैसे (वक्रत लंबी ग्रीवा और वक्रत ऊंची असम पीठ) घोड़े आदि जीवों के इस विरुद्ध

थर्म से ऊँट पद का शक्तिग्रह (इन्हें ऊंट कहना चाहिये, यह ज्ञान) होता है। इसी भांति और भी उपमिति का विषय भाष्य कार ने लिखा है; जैसे मुंगी की लता के समान जिस के पत्ते हों, वह औषध विष को हरता है; यह वैद्यों का सिद्धांत सुन के किसी स्थान एक औषध के पत्ते मुंगी के पत्तों की नाईं देखे, तो यह औषध विष हरने में समर्थ है; ऐसा शक्ति ज्ञान उपमिति से होता है। यह भी उपमिति यद्यपि सादृश्य से हुई है; तो भी इतना भेद जानना कि पहिली उपमिति से रूढ़ि पद का शक्तिज्ञान हुआ था; इस से यौगिक पद का शक्तिज्ञान हुआ है ६ ॥

आप्तोपदेशः शब्दः ७ ॥
सहिविधोदृष्टादृष्टार्थत्वात् ८ ॥

शब्द से जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो, उसज्ञान का करण प्रमाण शब्द कहाता है; कोई आचार्य ऐसे भी कहते हैं, आप्तों (प्रसंग से प्राप्त वाक्य के अर्थ का यथार्थ ज्ञान जिन्हें हो ऐसे पुरुषों) के कहे शब्द प्रमाण होते हैं। इन दोनों अर्थों में यह आप्त का है; यथार्थ पद लक्ष का विशेषण है; और लक्षण में भी आया है, तो लक्षतावच्छेदक (लक्ष के विशेषण) और लक्षण के अभेद (एकता) से सिद्धसाधन दोष लगा। इसका उत्तर यह है, एकस्थान में यथार्थपद का अर्थ यह करना, विशेष्य में न रहने वाले विशेषण को जो न जनावे, उसे यथार्थ कहना; और लक्षण में भ्रम से भिन्न ज्ञान को यथार्थ जानना ७ ॥ यह प्रमाण शब्द दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से दो प्रकार का है; जिस शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष से जाना जावे

उसे दृष्टार्थ कहते हैं। जैसे घट, पट, मनुष्य आदि शब्द और जिस शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष से न जाना जावे उसे अदृष्टार्थ कहते हैं। जैसे स्वर्ग, ईश्वर आदि शब्द हैं ८ ॥

प्रमाणों के विभाग और लक्षणों का प्रतिपाद क दूसरा प्रकरण समाप्त हुआ २ ॥ ⁘ ⁘ ॥

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोष
प्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तुप्रमेयम् ९ ॥

आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग येबारह प्रमेय हैं । यद्यपि प्रमा के विषय होने से घट पट आदि सारे पदार्थों को प्रमेय कह सकते हैं; तो भी गौतम जी ने पारिभाषिक प्रमेयत्व (मोक्षहेतुतत्वज्ञानविषयत्व अथवा संसारहेतुमिथ्याज्ञानविषयत्व) इन्हीं में माना है; अर्थात् इन बारहों के यथार्थज्ञान से मोक्ष और इन के मिथ्याज्ञान से संसार (जनने, मरने का बंधन) माना है । इन बारहों में यह पारिभाषिक प्रमेयत्व धर्म एक है; और इनमें से एक का भी तत्वज्ञान नहो तो मुक्ति नहीं होती; इसी बात को जताने के अर्थ सूत्र में प्रमेयं यह एकवचन दिया है । इन में से पहिले छे कारण और पिछले छे कार्य हैं; उन में भी जो जिस से प्रधान है; वह उस से पहिले कहा गया है । और इन का प्रसिद्ध लक्षण तावदव्याप्यत्व है; अर्थात् इन बारहों से भिन्न पदार्थों का भेद इन्हीं बारहों में रहेगा वह ही लक्षण है । जिस क्रम से ये कहे हैं उसी क्रम से इन के लक्षण भी आगे कहे जावेंगे ९ ॥

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःख
ज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम् १० ॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान इन छहों में से प्रत्येक आत्मा का लक्षण है । इस सूत्र में लिंग पद का अर्थ लक्षण ही जानना; हेतु नहीं जानना, क्यों कि आत्मा का प्रत्यक्ष

ही हो सकता है; तो उसका हेतु से अनुमान करना अयुक्त है। यह भी नहीं कह सकते कि आत्मा को शरीर से अतिरिक्त सिद्ध करने के लिये हेतु दिया है; जिस से शरीर इंद्रिय आदि से आत्मा की पृथक् सिद्धि कर ने के लिये आगे का सारा ग्रंथ ही व्यर्थ हो जावेगा; और लक्षण कहे विना ग्रंथ की न्यूनता भी रहेगी। ज्ञान, इच्छा और यत्न ये तीन जीवात्मा परमात्मा इन दोनों के लक्षण जानने; सुख, दुःख और द्वेष ये तीन केवल जीवात्मा के लक्षण जानने। ज्ञान आदि तीनों में नित्यत्व विशेषण दे के उक्त ही तीनों केवल ईश्वर (परमात्मा) के लक्षण जानने। इन्हीं तीनों में जन्यत्व विशेषण देने से ये तीनों केवल जीवात्मा के लक्षण हो जाते हैं। अर्थात् ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और यत्न नित्य और जीवात्मा के ये तीनों अनित्य होते हैं १० ॥ ⁘ ⁘ ॥

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ११ ॥

प्रयत्न से जन्य चेष्टा (हित की प्राप्ति और अहित से हटने की क्रिया) जिस में समवाय संबंध से रहे; अथवा घ्राण आदि इंद्रिय जिस में (अवच्छेदकता नामी) स्वरूप संबंध से रहें; अथवा सुख, दुःख (अवच्छेदकता संबंध से) जिस में उत्पन्न होवे; उसे शरीर कहते हैं। परंतु नैयायिकों ने अवयवों से अवयवी (समुदाय) का भेद माना है; तो हाथ आदि अवयवों (अंगों) में शरीर का लक्षण (चेष्टा) रहने से अतिव्याप्ति दोष लगा। इसलिये शरीर के लक्षण में अंत्यावयवित्व विशेषण और देना; अर्थात् जिस में चेष्टा रहे ऐसे अंत्यावयवी (अवयवों से जन्य और अवयवी के समवायी कारण से भिन्न द्रव्य) को शरी

२ समझना। स्वर्गीय, नारकीय शरीरों में और वृक्षों में सुख दुःख ग्रंथकारों ने माने हैं; इससे उनमें अव्याप्ति दोष नहीं लगता। यदि दार्शिक शरीर में कोई अव्याप्ति दे; अर्थात् उस में सुख, दुःख नहीं रहते; तो शरीर का लक्षण ऐसा करना; सुख के अधिकरण में वर्त्तमान द्रव्यत्वव्याप्य व्याप्य (द्रव्यत्व की अपेक्षा न्यूनदेश में रहने वाली जाति से न्यूनदेश में रहने वाली) जाति जिस में रहे; वह शरीर है। मनुष्यत्व, चैत्रत्व आदि जातियें ले कर सब शरीरों में समन्वय करना; युगों के भेद से अनेक नृसिंह मानके नृसिंहत्व जाति ले कर नृसिंह के शरीर में लक्षण समन्वय कर लेना ९१ ॥ ❊ ❊ ॥

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणिभूतेभ्यः ९२ ॥

घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र येपांच इंद्रिय हैं; यद्यपि मन भी इंद्रिय है, तोभी उस के न लिखने से सूत्र में कुछ न्यूनता नहीं जाननी; क्यों कि ये घ्राण आदि पांच उपलक्षण रूप से लिखे हैं, अर्थात् इन के लिखने का यह तात्पर्य है, कि ये भी इंद्रिय हैं; ऐसा तात्पर्य नहीं है, कि ये ही पांच इंद्रिय हैं; अथवा इन से इतर कोई इंद्रिय नहीं है; और वास्तव यह जानना, कि इस सूत्र में वहिरिंद्रियों का वर्णन किया है इस से आभ्यंतर इंद्रिय मन का नाम इन में अप्रसंग से नहीं लिखा; और भूतेभ्यः यह पद इसी अर्थ को दृढ़ करता है, क्योंकि ग्रंथकारों ने इस पद का अर्थ एकतो यह किया है, कि ये पांच इंद्रिय भूतों से उत्पन्न होते हैं; इस अर्थ से भी प्रतीत होता है, इन में मन

की गणना अयुक्त है; क्योंकि नित्य मन किसी भूत से नहीं उत्पन्न हो सकता, किंतु पृथ्वी से घ्राण, जल से रसना, तेज से चक्षु वायु से त्वचा और आकाश से श्रोत्र उत्पन्न होता है; इस अर्थ में ऐसी आशंका है; कि पृथ्वी आदि भूतों से घ्राण आदि चार तो उत्पन्न हो सकते हैं; परंतु कान के अंतर्गत आकाश रूपी नित्य श्रोत्र की उत्पत्ति कैसे होगी। इसका उत्तर एकतो यह है, कि कानों की उत्पत्ति से ही श्रोत्र की उत्पत्ति भी मानी जाती है; अथवा "भूतेभ्यः" इस पद में पंचमी विभक्ति का अर्थ अभेद है, अर्थात् येपांच भूतों से अभिन्न हैं। इस दूसरे अर्थ से श्रोत्र की उत्पत्ति का विवाद सहज से ही हट गया, अर्थात् श्रोत्र की उत्पत्ति न भी हो, परंतु आकाश से अभिन्न श्रोत्र के मानने में कोई संदेह नहीं है; और इस अर्थके करने से भी इन इंद्रियों में मन का गिनना योग्य नहीं है, क्योंकि मन किसी भूत से अभिन्न नहीं, किंतु मन मूर्त्त है; इन दोनों अर्थों से प्रतीत हुआ, कि इस सूत्र में केवल बहिरिंद्रियों का ही वर्णन है। इंद्रियों का सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष करणत्व है, अर्थात् जिनके व्यापार (संबंध) से आत्मा में किसी वस्तु का प्रत्यक्ष हो, उन्हें इंद्रिय कहते हैं; और कई ग्रंथकार इंद्रियत्व को प्रत्यक्ष की करण तावच्छेदक अखंडोपाधि (जिस का कोई लक्षण न हो सके) भी कहते हैं; और विशेष लक्षण इस रीति करने, जिस के संबंध से आत्मा में गंध का प्रत्यक्ष हो, उसे पृथ्वी की घ्राणेंद्रिय कहते हैं; जिस के संबंध से आत्मा में रस का प्रत्यक्ष हो, उसे जल की इंद्रिय रसना कहते हैं; जिस के संबंध से आत्मा में

रूप का प्रत्यक्ष हो, उसे तेज का इंद्रिय चक्षु कहते हैं; जिस के संबंध से आत्मा में स्पर्श का प्रत्यक्ष हो, उसे वायु की इंद्रिय त्वचा कहते हैं; जिसके संबंध से आत्मा में शब्द का प्रत्यक्ष हो, उसे आकाश का इंद्रिय श्रोत्र कहते हैं; और भूतेभ्यः कहने से प्रतीत हुआ, कि सांख्य में जो इंद्रियों की उत्पत्ति अहंकार से मानी है; वह मत यहां सम्मत नहीं है। इसी बात को तीसरे अध्याय में गौतम जी सूत्रों के द्वारा स्पष्ट कर के लिखेंगे १२ ॥ ❖ ❖ ❖ ॥

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमितिभूतानि १३॥

इंद्रियों की उत्पत्ति भूतों से कही है, वे भूत कौन से हैं, इस अवसर में सूत्रकार ने कहा है; कि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पांच भूत हैं; इस सूत्र में पृथिवी आदि पांच पद पृथक् २ लिखे हैं, समास करके पांचों का एक पद नहीं किया; इस से विदित होता है कि सृष्टि के प्रारंभ में ये पांचो भूत एक दूसरे की सहायता की अपेक्षा कुछ नहीं रखते; और भूतों का सामान्य लक्षण आत्मभिन्नत्वेसतिविशेषगुणवत्व है, अर्थात् आत्मा से विना इन्हीं पांचों में विशेष गुण रहते हैं; और पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व, ये चार जाति हैं, और आकाशत्व उपाधि है; पृथिवी का लक्षण गंधवत्व है, अर्थात् जिस में समवाय संबंध से गंध रहे उसे पृथिवी (मिट्टी) कहते हैं; जल का लक्षण शीतस्पर्शवत्व है, अर्थात् जिस में समवाय संबंध से शीत स्पर्श रहे, उसे जल कहते हैं; तेज का लक्षण उष्णस्पर्शवत्व है, अर्थात् जिस में समवाय संबंध से उष्णस्पर्श रहे, उसे तेज कहते हैं; वायु का लक्षण रूपरहितत्वेसति-

स्पर्शवत्व है, अर्थात् जिसमें समवाय संबंध से रूप न रहै, और स्पर्श रहै, उसे वायु कहते हैं; आकाश का लक्षण शब्दवत्व है, अर्थात् जिस में समवाय संबंध से शब्द रहै, उसे आकाश कहते हैं; इन पांचों में भूतत्व जाति नहीं हो सकती, क्योंकि मूर्तत्व के साथ संकर दोष लगता है; और केवल एक व्यक्ति में रहने से आकाशत्व भी जाति नहीं है ९५ ॥

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ९६

गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द, ये पांच पृथिवी आदि भूतों के विशेषगुण क्रम से घ्राण आदि इंद्रियों के विषय कहे हैं; यद्यपि वैशेषिक (कणाद के मतानुयायी) ९ द्रव्य, २४ गुण, ५ कर्म, इन सब पदार्थों को अर्थ कहते हैं; तो भी इस सूत्र में अर्थ शब्द विषय के अभिप्राय से दिया है, इसलिये इंद्रियों के नियत विषय ये पांच ही हैं; इन पांचों का सामान्य लक्षण एक बहिरिंद्रिय से जिनका प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्व से न्यून देश में वर्तमान जातियां इन्हीं पांचों में रहें गी; विशेष लक्षण ये हैं, घ्राण से जिस का प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्वव्याप्यजाति जिस में रहे, उसे गंध कहते हैं; रसना से जिसका प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्वव्याप्यजाति जिस में रहे, उसे रस कहते हैं; बहिरिंद्रियों में से केवल चक्षु से जिस का प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्वव्याप्यजाति जिस में रहे, उसे रूप कहते हैं; बहिरिंद्रियों में से केवल त्वचा से जिस का प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्वव्याप्यजाति जिस में रहे, उसे स्पर्श कहते हैं; और श्रोत्र से जिस का प्रत्यक्ष हो, ऐसी गुणत्वव्याप्यजाति जिस में रहे, उसे शब्द कहते हैं; वात्स्यायन भाष्य में पृथिव्यादि पद का गुण पद के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास किया है, इससे स्पष्ट प्र-

नीत होता है; कि वेदांती लोग जो गुण गुणी का अभेद मानते हैं, वह नैयायिकों को संमत नहीं, क्योंकि यदि अभेदसंमत होता, तो भाष्यकार कर्मधारयसमास करते १४ ॥

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् १५ ॥

बुद्धि का लक्षण करते हैं, बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान (जानना) ये सब शब्द एक अर्थ को ही जनाते हैं; सांख्य शास्त्र की नाईं ऐसा नहीं जानना, कि महत्तत्व नाम से प्रसिद्ध बुद्धि का परिणाम (कार्य) ज्ञान (अहंकार) है; इस अर्थ को आपही सूत्रकार स्पष्ट करके आगे लिखेंगे; बुद्धि का लक्षण बुद्धिपदवाच्यत्व है, अर्थात् बुद्धि शब्द से जिस अर्थ का बोध हो, उसे बुद्धि कहते हैं; अथवा अनुभव सिद्ध बुद्धित्व जाति जिसमें रहे, उसे बुद्धि कहते हैं; सिद्धांत में बुद्धि का लक्षण यह जानना, कि किसी संबंध से विशेषण के जनाने वाले पदार्थ में रहने वाली गुणत्वव्याप्यजातिमत्त्व जिस जिस पदार्थ में रहे, उन सब को बुद्धि कहते हैं; इसी लक्षण को संक्षेप में यूं लिखते हैं, संबंधावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितप्रकारितासमानाधिकरणगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्; इस बुद्धि के बहुत से अवांतर भेद हैं, जिनमेंसे कुछ तो आगे सूत्रों के क्रम से दिखाये जावेंगे, और शेष अन्य ग्रंथों में देखने से प्रतीत होसकते हैं, सूत्रों में तो सब पदार्थ संक्षेप रूप से ही दिखाये हैं; हिंदी भाषा के रसिकों को मेरी न्यायबोधिनी में बुद्धि के भेद बहुत मिलेंगे १५ ॥ ❊ ❊ ॥

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् १६ ॥

एक आत्मा में दो अथवा तीन ज्ञान जिस से एकवारगी न हीं उत्पन्न होते, वह ज्ञानों का निमित्तकारण अणु (अतिसूक्ष्म) मन है; यद्यपि विषयों के साथ चक्षु आदि सब इंद्रियों का संबंध होने पर भी जिस के संबंध से एक इंद्रिय ज्ञान को उपजाता है, और विना जिस के संबंध के दूसरा इंद्रिय ज्ञान को नहीं उपजाता, वह संपूर्ण ज्ञानों का सामान्य कारण और सुख आदि कों के प्रत्यक्ष का विशेष कारण अति सूक्ष्म लाघव से एक मन आभ्यंतर इंद्रिय माना है; और सूत्र में लिंग पद का अर्थ लक्षण नकरें, किंतु हेतु अर्थ करें, तो लक्षणों के प्रसंगमें प्रमाण के द्वारा मन का सिद्धकरना असंगत हो जावे; क्योंकि केवल मन की नहीं किंतु संपूर्ण पदार्थों की सिद्धि आगे करनी है। कई आचार्यों का यह भी मत है, कि पहिले जो पदार्थ सिद्ध हो जावे, तो पीछे से उसका लक्षण होता है; इसलिये सूत्र से मन की सिद्धि कर के सूत्र से ही लक्षण निःस्पर्शत्वेसत्यणुत्व बनासकते हैं; अर्थात् जिस में स्पर्श नरहे, और अणु परिमाण रहे, उसे मन कहते हैं; अथवा जिस के संबंध से आत्मा में सुख, दुःख, ज्ञान, आदि कों का प्रत्यक्ष हो, उस इंद्रिय को मन कहते हैं (१६)

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः १७ ॥

राग (इच्छा) की जन्यता का नियम बांधने वाली प्रवृत्तित्व-जाति जिस में रहे, उसे प्रवृत्ति (यत्न) कहते हैं; परंतु ईश्वर के यत्न का भी लक्षण यदिकरना हो, तो यत्नत्व जाति जिस में रहे, उसे प्रवृत्ति कहते हैं; यह ही लक्षण जानना, यह

लक्षण निवृत्ति और जीवनयोनि यत्नों में रह जावेगा; वाग् बुद्धि, शरीर, इन तीनों पदों का द्वंद्वसमास करके, प्रत्येक पद का आरंभ पदके साथ अन्वय करने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि प्रवृत्ति तीन प्रकार की है, यथा वागारंभ, अर्थात् वचन के अनुकूल यत्न, शरीरारंभ अर्थात् शरीर के अथवा चेष्टा के अनुकूल यत्न, और बुद्धारंभ अर्थात् इन दोनों यत्नों से भिन्न मानसयत्न बुद्धारंभ कहाते हैं; जो कि प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों के अनुकूल होते हैं; प्राचीन लोग प्रवृत्ति के इन प्रत्येक लक्षणों में अदृष्ट जनकत्व का निवेश करते हैं; उन का यह आशय है, संपूर्ण यत्नों का फल पुण्य अथवा पाप अवश्य उत्पन्न होता है; इसी से उक्त तीनप्रकार की कारणरूपा प्रवृत्ति कही है, और इन से उत्पन्न होने वाले धर्म, अधर्म (पुण्य, पाप) कार्यरूप प्रवृत्ति कहाते हैं ९७ ॥ ❊ ❊ ॥

प्रवर्त्तनालक्षणदोषाः ९८ ॥

दोषों का सामान्यलक्षण प्रवृत्तिजनकत्व है, अर्थात् जिनसे धर्म अथवा अधर्म उत्पन्न हो, उन्हें दोष कहते हैं; यद्यपि संपूर्ण कार्य्यों के जनक ईश्वरेच्छा, अदृष्ट, आदि साधारण कारणों में दोषों के उक्त लक्षण (प्रवृत्तिजनकत्व) की प्राप्ति से अतिव्याप्ति दोष लगता है; तोभी "लौकिकप्रत्यक्षादिविषयत्वेसतिप्रवृत्तिजनकत्व" दोषों का सामान्यलक्षण जानना, अर्थात् जिनका लौकिक प्रत्यक्ष हो ऐसा धर्म अथवा अधर्म के कारण दोष कहाते हैं; ईश्वरेच्छा आदि धर्म, अधर्म के कारण तो हैं, परंतु इन (साधारणकारणों)

में से किसी का भी लौकिकप्रत्यक्ष नहीं होता, इस से अति व्याप्ति का वारण हो गया; इस पर भी यह आशंका है, कि यज्ञ आदिकों के यथार्थज्ञान का लौकिकप्रत्यक्ष मीमन से होता है, और इस ज्ञान से धर्म भी उत्पन्न होता है - तो इस (य ज्ञ के यथार्थ) ज्ञान में अतिव्याप्ति लगी; इस दोष को हर कर ने के अर्थ उक्त लक्षण में प्रमा के भेद का निवेश करते हैं, तो यज्ञ का यथार्थज्ञान प्रमा से भिन्न नहीं है, इससे अ तिव्याप्ति का वारण हो गया; इस सूत्र में "दोषाः" इस व ऊवचन से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि राग, द्वेष, मोह, यह तीन प्रकार के दोष हैं ९८ ॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ९९ ॥

बार बार मर के जमना प्रेत्यभाव कहाता है, यह अर्थ प्रेत्यभा व शब्द से ही स्पष्टरूप से प्रतीत होता है; क्योंकि व्याकरण के क्रम से प्रेत्य शब्द का अर्थ "मरके" इतना होता है, और भा व पद का अर्थ "जमना" होता है, इस सूत्र में पुनः शब्द के द्वारा बार बार जमना मरना, जमनामरना जताने से यह जन्ममरण का दृढ़ बंधन अनादि, अनंत और मोक्ष से विना कभी नहीं निवृत्त होने वाला जनाया है; इस का ज्ञान वैराग्य में बहुत उपयोगी होता है, इस से प्रेत्य पद व्यर्थ नहीं किंतु सार्थक है; एक मनुष्य के जीने के कारण अदृष्टों का अथ वा प्राणों के अंतिमसंयोग का अथवा अंतिम प्राण का ना श उस एक मनुष्य का मरण कहाता है; इसी भांति एक म नुष्य के प्राण का विजातीय (जो पहिले जगत में नथा) शरीर के साथ पहिला संयोग उस मनुष्य का जन्म कहाता

है; इस जन्म मरण के कारण अदृष्ट ही हैं, यह बात इस रे सूत्रकी व्याख्या में पीछे लिख भी आए हैं; और आगे युक्तियों के द्वारा तीसरे अध्याय के अंत में स्पष्ट रूप से सिद्ध भी करेंगे १९ ॥ ❊ ❊ ॥

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् २० ॥

सुख के अथवा दुःख के प्राप्त को मुख्य फल कहते हैं, यथा वात्स्यायनभाष्य में स्पष्ट लिखा है; कि "सुखदुःख संवेदनंफलम्" इस सुखदुःख के भोग (प्राप्त) के कारण धर्म अधर्म के कारण राग आदि दोष हैं; इसी से सूत्र में (प्रवृत्तिदोषजनितः) दोनों का नाम लिखा है, और यह सुखदुःख भोग देह, इंद्रिय, बुद्धि, आदि पदार्थों से विना सर्वथा अनुपपन्न हैं, इस से भाष्यकार ने स्पष्ट करके लिख दिया है; कि देह, इंद्रिय, बुद्धि आदि सुख अथवा दुःख के साधन भी सब गौण फल कहाते हैं; इस गौण फल का लक्षण जन्यत्व ही जानना अर्थात् संपूर्ण जन्य पदार्थ सुख अथवा दुःख के कारण होने से गौणफल हैं यथा अन्नं वैप्राणिनः प्राणाः इस श्रुति में प्राणों के साधन अन्न को प्राण ही कहा है; इसीरीति फल के साधन देह आदि कों को फल मानलिया है; और सब जन्य पदार्थों में दोष जन्यत्व कहने से यह तात्पर्य है, कि इन सब पदार्थों को मलिन जान के शीघ्र ही विरक्त होकर मनुष्य मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त होजावें २० ॥

बाधनालक्षणंदुःखम् २१ ॥

बाधना, पीड़ा, दुःख, ये सब शब्द एक ही अर्थ को जनाते हैं; दुःख का लक्षण दुखत्व जातिमत्व है, अर्थात् दुख त्वजातिजिस में रहे, उसे दुःख कहते हैं; अथवा अधर्म मात्रासाधारणकारणत्वेसतिप्रतिकूलवेदनीयत्व दुःख का लक्षण है, अर्थात् जोगुण केवल अधर्म (पाप) से उत्पन्न हो, और जो गुण सब जीवों को प्रतिकूल (विरुद्ध) प्रतीत हो, उसे दुःख कहते हैं; और घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र, मन, गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, ज्ञान, घ्राणजप्रत्यक्ष, रासन प्रत्यक्ष, चाक्षुषप्रत्यक्ष, त्वाचप्रत्यक्ष, श्रोत्रप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष, शरीर, सुख, दुःख, इन इक्कीस दुःखों के नाश का नाम मोक्ष जिनों ने माना है; उन के मत में शरीर इंद्रिय आदि पदार्थ जिस से दुःख के साधन (उपाय) हैं, इसी से गौण दुःख सब माने गये हैं; और सुख भी आदि में अथवा अंत में दुःख के संबंधी होने से गौण दुःख माने गये हैं; इसी से आगे के सूत्र में तत् शब्द से मुख्य दुःख (पीड़ा) ही लिये हैं; २१ ॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः २२ ॥

पूर्ववर्णित बाधना नामी मुख्य दुःख के अत्यंतनाश को अपवर्ग (मुक्ति) कहते हैं; परंतु ऐसा दुःख का नाश जन्म, मरण, के संबंध की निवृत्ति से विना कभी नहीं हो सकता; इसी आशय को लेकर भाष्य में वात्स्यायन जी ने लिखा है, कि दुःखों के संबंधी जन्म के अंतिम नाश को मोक्ष कहते हैं; और स्वसमानाधिकरणदुःखासमानकालिक दुःखों

के नाश को अत्यंत दुःखनाश कहते हैं, अर्थात् जिस दुःखनाश के आश्रय में उसनाश के वर्तमान काल में कोई एक दुःख भी न रहे, ऐसा दुःखों का नाश ही अत्यंत नाश (मोक्ष) कहाता है; यद्यपि अपनी उत्पत्ति से तीसरे क्षण में सब दुःख अपने स्वभाव से ही नष्ट होते हैं, परंतु इस दुःखनाश के वर्तमान समय में अन्य दुःख बने रहते हैं; इस से सामान्यमनुष्यों के दुःखों का नाश मोक्ष नहीं कहा सकता, किंतु किसी विशेषव्यक्ति (सनकादि) के दुःखों का नाश ही उक्त लक्षण से मोक्ष कहाता है २१॥ बारह प्रमेयों के लक्षणों का तीसरा प्रकरण समाप्त हुआ

॥ ॥

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्चविशेषापेक्षोविमर्शः संशयः २३ ॥

क्रमसे प्रथम संशयका लक्षण करते हैं, यहां संशयसामान्य और विमर्श लक्षण है; इस लक्षण में वि उपसर्ग का अर्थ विरोध और मृश धातु का अर्थ ज्ञान है, "एक आश्रय में" इतना अपनी ओर से मिला देना; तो संशय का सामान्य लक्षण एकधर्मिविशेष्यकविरुद्धभावाभावप्रकारकज्ञानत्व हुआ, अर्थात् जिस ज्ञान से एक आधार में (परस्परविरुद्ध) भाव और अभाव दोनों प्रतीत हों, उसे संशय कहते हैं; अब संशयों के विशेष कारणदिखानेसेही संशयों के विशेष लक्षण दिखाते हैं; या दोनोंविरुद्धकोटिओं में रहने वाले (साधारण) धर्म के ज्ञान से कहीं संशय होता है; असाधारण (विरुद्ध दोपदों में से एकपद में रहने वाले) धर्म के ज्ञान से कहीं संशय उत्पन्न होता है; और जिस शब्द से दोनों विरुद्ध पदों का ज्ञान हो, ऐसे शब्द को विप्रतिपत्ति कहते हैं; ऐसे शब्द से दोनों पदों के सामान्यज्ञान से अनंतर मानस संशय उत्पन्न होताहै; और ज्ञान की अव्यवस्था अर्थात् प्रामाण्य के अथवा भ्रमत्व के संशय से भी कहीं संशय उत्पन्न होता है; वास्तव यह जानना कि प्रामाण्य का संदेह अथवा भ्रमत्व का संदेह विषय के संदेह का कारण नहीं है; किंतु ये दोनों ही संशय के योग्य स्थल को जनाते हैं, क्योंकि वही ज्ञान प्रति बंधक से-

ता है, जिस में अप्रामाण्य का ज्ञान न हुआ हो; तो जिस ज्ञान में प्रामाण्य का अथवा भ्रमत्व का संदेह हो, उसी अप्रामाण्य के ज्ञान से वह ज्ञान किसी का भी प्रतिबंधक नहीं होगा; अर्थात् प्रतिबंधक के न होने से ऐसे स्थल में अपने (साधारणधर्म का ज्ञान आदि) उक्त कारणों से विना किसी विवाद के सहज में संशय उत्पन्न हो जावेगा; और इस सूत्र में च अक्षर से यह जनाया है, कि व्याप्य के संदेह से व्यापक का संदेह भी होता है; संशय के विवरण में यह सिद्धांत अवश्य जानने के योग्य है, कि किसी वस्तु का संदेह तब तक ही उत्पन्न हो सकता है, जब तक उस वस्तु को विशेष रूप से न जान लें; कि यह वस्तु इस नाम की है, किंतु ऐसा विशेषज्ञान होने से अनंतर तो संशय कभी नहीं उत्पन्न होता; यदि इस ज्ञान से पहिले संशय उत्पन्न हुआ हो; तो वह (संदेह) भी इस विशेष ज्ञान की उत्पत्ति से अनंतर नष्ट होजाता है; ३३

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् २४ ॥

क्रम से प्राप्त प्रयोजन का लक्षण करते हैं, प्रयोजन का सामान्य लक्षण प्रवृत्तिहेतुत्वेच्छा विषयत्व है, अर्थात् जिस पदार्थ की कामना से मनुष्य किसी कार्य के करने में प्रवृत्त होता है, उस पदार्थ को प्रयोजन कहते हैं; परंतु सुख की कामना (इच्छा) के विषय सुखत्व, ज्ञान आदि पदार्थ भी होते हैं; इस अतिव्याप्ति का वारण हम करते हैं, कि जिस पदार्थ की सिद्धि के अर्थ मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त हो; उसे प्रयोजन कहते हैं; प्रकृत में सुख की सिद्धि

के अर्थ मनुष्य कार्यों में प्रवृत्त होते हैं; कोई भी सुखरूप की सिद्धि के अर्थ नहीं प्रवृत्त होते, तो अतिव्याप्ति का वारण हो गया; परंतु स्वभाव से ही सुख और दुःखाभाव की इच्छा सब मनुष्यों को होती है; इस से सुख और दुःखाभाव मुख्य प्रयोजन कहे हैं; और धन आदि पदार्थों की इच्छा स्वभाव से नहीं होती, किंतु सुख अथवा दुःखाभाव की इच्छा से धन आदि पदार्थों की इच्छा होती है; इस से धन आदि पदार्थ गौण प्रयोजन कहे हैं; इस लक्षण में प्रवृत्ति देत के निवेशसे ही सुमेरु के शिखरों में अतिव्याप्ति का वारण होजाता है; २४ ॥ ∴ ∴ ॥

लौकिकपरीक्षकाणांयस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यंसदृष्टान्तः २५ ॥

जिन्हों ने शास्त्र में अभ्यास कभी नहीं किया, इसी से जिन्हें विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, ऐसे मूर्ख मनुष्यों को लौकिक कहते हैं; और शास्त्र में दृढ़तर अभ्यास करने से जिन्हें विशेषज्ञान की प्राप्ति हुई है, ऐसे पंडित मनुष्यों को परीक्षक कहते हैं; तो लक्षण यह हुआ, कि जिस आश्रय में साध्य और हेत्वभाव को पंडित, मूर्ख, सबलोग निश्चय से मानें उस आश्रय को दृष्टांत कहते हैं; अर्थात् विना विवाद के जिस आश्रय में वादी, प्रतिवादी साध्य और हेतु को अथवा साध्याभाव और हेत्वभाव को निश्चय करके मान लें, उस आश्रय को दृष्टांत कहते हैं; यद्यपि इस सूत्र में "लौकिकपरीक्षकयोः" ऐसा द्विवचन ही देना योग्य था, तो भी वाद, जल्प, वितंडा, इन तीन कथाओं

के अभिप्राय से "लौकिकपरीक्षकाणां" यह वहुवच न दिया है; २५ ॥ ⁘ ⁘ ॥

न्याय के पूर्वांग (संशय, प्रयोजन) और दृष्टांत के विशेष भेद और लक्षणों का ४ चतुर्थ प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ⁘ ⁘ ⁘ ⁘ ॥

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिःसिद्धान्तः २६
क्रम से प्राप्त सिद्धांत का लक्षण करते हैं, तंत्र (शास्त्र) है अधिकरण (बोधक) जिसका ऐसे अर्थ के अभ्युपगम (स्वीकार) को दृढ़ करके मन में स्थिर करना, सिद्धांत कहाता है; अर्थात् शास्त्र से संमत अर्थ का दृढ़ निश्चय सिद्धांत नाम से प्रसिद्ध है; इस अर्थको भाष्य में वात्स्यायन जी यूं लिखते हैं; कि शास्त्र से संमत जिस अर्थ पर दृढ़ निश्चय करते हैं, वह अर्थ सिद्धांत है; यही अर्थ न्यायवार्तिक की टीका में यूं लिखा है, कि शास्त्र से संमत अर्थ का दृढ़ निश्चय सिद्धांत है; इन अर्थों में परस्पर विरोध कुछ नहीं जानना, क्यों कि ग्रंथकारों ने आपही उद्धार लिखा है; यथा अर्थ को प्रधान मान के निश्चय को गौण कहना, अथवा निश्चय को प्रधान मान के अर्थ को गौण कहना, यह केवल वक्ता की इच्छा के अधीन है; परंतु अर्थ में अंतर का लेश भी न आने से दोष को ई नहीं आता; और भाष्य में जो इस सूत्र का अर्थ लिखा है, कि सर्वतंत्र, प्रतितंत्र, अधिकरण, अभ्युपगम, इन चारों को सिद्धांत कहते हैं; और कोई कहता है, तंत्र (सर्वतंत्र, प्रतितंत्र,) अधिकरण, अभ्युपगम, ये तीन सिद्धांत हैं; ये दोनों अर्थ अयुक्त हैं, क्योंकि विभाग के अर्थ अग्रिम सूत्र व्यर्थ हो जावेंगे २६ ॥ ❊ ❊ ॥

सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् २७ सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः २८ ॥

इस सिद्धांत के चार भेद हैं, यथा (१) सर्वतंत्र सिद्धांत, (२)

प्रतितंत्रसिद्धांत,(३) अधिकरणसिद्धांत,(४) अभ्युपगमसिद्धांत, इस भेद से, इन में से प्रत्येक के लक्षण आगे क्रम से लिखते हैं; २७ सर्वतंत्रसिद्धांत का यह लक्षण है, कि जो अर्थसमूह शास्त्रों में से किसी से भी विरुद्ध न हो, और किसी एक शास्त्र में भी स्पष्ट कर के लिखा हो, उस अर्थ को अथवा उस अर्थ के दृढ़ निश्चय को सर्वतंत्रसिद्धांत कहते हैं, कई लोग इस सूत्र का अर्थ यह करते हैं, जिस अर्थ को सब शास्त्रकार स्पष्ट करके लिखें, वह किसी एक शास्त्र में स्पष्ट लिखा अर्थ सर्वतंत्रसिद्धांत है; परंतु यह अर्थ सर्वथा अयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि तंत्रेऽधिकृतः अर्थात् किसी एक शास्त्र में स्पष्ट लिखा, यह विशेषण व्यर्थ होजाता है; पहिले अर्थ के स्वीकार से ही जाति, निग्रहस्थान आदि को प्रति दृष्ट उत्तर कहना भी सर्वतंत्रसिद्धांत होजाता है; और इस पहिले अर्थ में भी यदि "तंत्रेऽधिकृतः" यह विशेषण न देवें, तो यह दोष जानना कि मन को इंद्रिय कहना भी सर्वतंत्रसिद्धांत होजावे; नवीनलोग सूत्र को उपलक्षणमात्र के वादी, प्रतिवादी, ये दोनों जिस अर्थ को मानें कथा के उपयोगी ऐसे अर्थ को सर्वतंत्रसिद्धांत कहते हैं; २८ ॥ ❊ ❊ ॥ ३५

समानतंत्रसिद्धः परतंत्रासिद्धः प्रतितंत्रसिद्धान्तः प्रतिष्ठावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः १

जो अर्थ एक शास्त्र से सिद्ध हो, और दूसरे शास्त्र से न सिद्ध हो अर्थात् जिस अर्थ को वादी, प्रतिवादी, इन दोनों में से कोई एक मानें और दूसरा न मानें उस अर्थ को अर्थात् उस अर्थ

के दृढ़ निश्चय को प्रतितंत्रसिद्धांत कहते हैं; यथा मीमांस कलोग शब्द को नित्य मानते हैं, और नैयायिक लोग नहीं मानते, इस से शब्द को नित्यमानना प्रतितंत्रसिद्धांत है; २ जिस अर्थ की सिद्धि करने से ही अपने अभिलषित अर्थ की सिद्धि होवे, उस अर्थ को अथवा उस अर्थ के दृढ़ निश्चय को अधिकरणसिद्धांत कहते हैं; यथा सृष्टि के आरंभ में पहिले द्वयणुक में (उपादानकारण) परमाणु के प्रत्यक्ष से द्वयणुक के उपजाने की इच्छा से परमाणुओं में जिस का यत्न भान होसकता है,) ऐसे अलौकिक पुरुष की जन्यता सिद्ध करने लगें, तो ईश्वर को सर्वज्ञ मानना, अधिकरणसिद्धांत है; अर्थात् ईश्वर को सर्वज्ञ मानने सेविना परमाणुओं का प्रत्यक्ष अथवा परमाणुओं से द्वयणुक उपजाने का यत्न (सामर्थ्य) ईश्वर में कभी नहीं मानसकते, किंतु ईश्वर को सर्वज्ञमानने से ही अपनी अभिलषित (पहिलेद्वयणुकमें) ईश्वर की जन्यता सिद्ध होसकती है, इस से द्वयणुक में ईश्वर की जन्यता सिद्ध करने में ईश्वर को सर्वज्ञ मानना, अधिकरण सिद्धांत है; इसीरीति चक्षु और त्वचा से एकही पदार्थ का प्रत्यक्ष करने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शरीर इंद्रिय आदि कों से आत्मा अतिरिक्त है; इस अनुमान में इंद्रियों को नाना (बहुत) मानना, अधिकरणसिद्धांत है; क्योंकि इंद्रियों को यदि एकही मानें तो यह अनुमान व्यर्थ होजाता है, परंतु एक इंद्रिय के नाश होजाने पर दूसरी इंद्रिय का नाश नहीं होता, इस से सब इंद्रियों को एकनहीं कहसकते; तो सिद्ध हुआ, कि इंद्रियों को अनेक

मानके ही आत्मा में इंद्रिय आदिकों के भेद की सिद्धि कर सकते हैं; इस से आत्मा में इंद्रिय आदिकों का भेद सिद्ध करने में इंद्रियों को नाना (बहुत) मानना अधिकरणसिद्धांत है; सिद्धांत यह प्रतीत हुआ, कि जिस अर्थ की सिद्धि करने से विना अपना अभीष्ट अर्थ शब्द से अथवा अनुमान से अर्थात् किसी प्रमाण से भी न सिद्ध हो सके, उसे अधिकरणसिद्धांत कहते हैं; इसीसे आत्मतत्वविवेक (ग्रंथ) में लिखा है, कि जगत् के दृश्य पदार्थों को उत्पत्ति से विनाश तक स्थिर मानने से विना अर्थात् इन में क्षणिकत्व का खंडन करने से विना यह बात किसी प्रमाण से भी नहीं सिद्ध हो सकती, कि ये पदार्थ स्थूल हैं; इस से दृश्य पदार्थों को स्थूल सिद्ध करने में इन पदार्थों को क्षणिक नहीं मानना, अधिकरणसिद्धांत है; इसी अर्थ को शिरोमणि ने वार्तिक की फांकी (वाक्यार्थस्यसिद्धोजायमानायांतदनुषङ्गीयोयः सोऽधिकरणसिद्धांतः) लिख के व्याख्या से स्पष्ट दिखाया है, और यह भी जानना कि केवल साध्य ही नहीं अधिकरणसिद्धांत होता, किंतु कहीं पक्ष कहीं हेतु भी अधिकरणसिद्धांत होताहै; वहां लक्षण भी उन के योग्य ही रच लेने, यह बातवार्तिक की टीका में स्पष्ट लिखा है, और भाष्य में अधिकरणसिद्धांत का उदाहरण इंद्रियों को नाना (अनेक) मानना ही दिया है, इस से अनुमिति के हेतुव्याप्यताज्ञान का विषय, अथवा शाब्दबोध के हेतु पदार्थज्ञान का विषय अधिकरणसिद्धांत है; ये दोनों मत सर्वथा असंगतजानने ३० ॥ ॥

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेष ॥
परीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ३१ ॥

जो पदार्थ स्पष्ट रूप से नाम ले कर सूत्र में नहीं लिखा, किंतु विशेष परीक्षा करने से प्रतीत हुआ, कि यह पदार्थ अवश्य अपेक्षित है, ऐसे पदार्थ का मानना अभ्युपगमसिद्धांत है। यथा मन को इंद्रिय मानना अभ्युपगमसिद्धांत है, क्यों कि इंद्रियों के निरूपण में सूत्रकार ने यद्यपि मन का नाम नहीं लिखा, तौ भी विशेष विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि जो ज्ञान के करण हैं, वे सब इंद्रिय हैं, यथा रूप के प्रत्यक्ष का करण चक्षु इंद्रिय है, इसीभांति ज्ञान, सुख, दुःख, आदिकों के प्रत्यक्षका करण मन भी अवश्य इंद्रिय है; यह बात विशेष परीक्षा करने से जानी गई, इस से मन को इंद्रिय मानना अभ्युपगमसिद्धांत है ३१ ॥

गौतमसूत्रवृत्ति के न्याय के सिद्धांतों के २ रे प्रकरण का हिंदी में अनुवाद समाप्त हुआ- २ ॥

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनि गमनान्यवयवाः ३२ ॥

क्रम से प्राप्त अवयवों के (लक्षण करने वाले) विभाग करते हैं; यथा प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, ये पांच अवयव हैं। इसी से लक्षण भी प्रतीत हुआ, कि क्रम से स्थापित प्रतिज्ञा आदि इन पांचों का समूह न्याय (अवयव) है; यद्यपि अवयव द्रव्य का ही होता है, तोभी शब्द समूह की अपेक्षा प्रत्येक खंड में अवयव शब्द का प्रयोग किया है; इन पांच अवयवों के कथन से दस अवयवों का मत खंडित होगया, वे दस अवयव वात्स्यायन जी ने विस्तार करके अपने भाष्य में लिखे हैं; यथा प्रतिज्ञा आदि पांच, जिज्ञासा (प्रयोजन में प्रवृत्त करानेवाली जानने की इच्छा) संशय (जिज्ञासाका हेतु साध्यकासंदेह) शक्यप्राप्ति (प्रमाणों में ज्ञानउपजाने की सामर्थ्य) प्रयोजन (त्यागकाज्ञान) संशयव्युदास (तर्क) येही दस अवयव निबंध में भी जनाये हैं; परंतु इनमें से अंत के पांच न्याय के अंतर्गत न होने से अवयव नहीं हैं; यदि न्यायजन्यबोध के अनुकूल होने से इन्हें अवयव मानो, तो केवल पद भी एक अवयव हो जावे, और तुमारा माना प्रयोजन अवयव न होवे ३२ ॥ ❊ ❊ ॥

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ३३ ॥

क्रम से प्राप्त प्रतिज्ञा का लक्षण करते हैं; यथा सिद्ध करने के योग्य (साध्यवाले) पद का निर्देश (कथन) प्रति

ज्ञा है; अर्थात् पक्ष और साध्य को (परस्पर विशेष्य विशेषण रूप से) जनाने का हेतु शब्द प्रतिज्ञा कहाता है; प्रतिज्ञा के इस लक्षण की निगमन में अतिव्याप्ति वारण के अर्थ "साध्यांशेसाध्यतावच्छेदकातिरिक्तप्रकारकत्व" का निवेश करना आवश्यक है; अर्थात् साध्यमें साध्यतावच्छेदक (जिस धर्म से साध्य करें) की विशेषणता से विलक्षण (इतर) विशेषणता का ज्ञान जिस से न हो, ऐसा परस्पर विशेष्य विशेषण रूप से पक्ष और साध्य के ज्ञान का कारण शब्द प्रतिज्ञा कहाता है; यथा "पर्वतोवह्निमान्" यह प्रतिज्ञा है, इस रीति विशेषणताओं के भेद का निवेशकरने से "प्रमेयवह्नावुद्यः" इस प्रतिज्ञा में साध्यतावच्छेदक (प्रमेय) से इतर पदार्थ अप्रसिद्ध भी है, तो सामान्य प्रमेय की विशेषणता से इतरत्व आदि की विशेषणता असिद्ध होने से कोई दोष न — हीं लगा; ये प्रतिज्ञात्व, अवयवत्व आदि परिभाषाओंसे-सिद्धस्वरूपयोग्यधर्मवत्त्वरूपहै ३३ ॥

उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनंहेतुः ३४
तथावैधर्म्यात् ३५ ॥

क्रम से प्रथम हेतु का लक्षण दो सूत्रों में करते हैं, उदाहरण (दृष्टांत) में देखी हुई व्याप्ति के द्वारा साध्य के साधन (साध्यकी बुद्धि के कारणज्ञान के विषय) अवयव को हेतु कहते हैं; न्याय वाक्य में इस हेतु का प्रयोग सर्वदा पंचमांत अथवा तृतीयांत पद से ही होता है; यह हेतु तीन प्रकार का है, यथा (१) केवलान्वयी (दृष्टांत से निश्चित केवल

साधर्म्य (अन्वयव्याप्ति) जिस हेतु में रहे,) (२) केवल-व्यतिरेकी (दृष्टांत से निश्चित केवलवैधर्म्य (व्यतिरेकव्याप्ति) जिस हेतु में रहे, और अन्वय व्याप्ति नर हे,) (३) अन्वयव्यतिरेकी (दृष्टांत से निश्चित अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति ये दोनों जिस हेतु में रहें,) इस विचार से यह स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि दृष्टांत में निश्चित व्याप्ति से विरुद्ध व्याप्ति यदि हेतु में प्रतीत हो, तो वह हेतु प्रमाण की भी नहीं माना जावेगा; अर्थात् दृष्टांत में अन्वयव्याप्ति का निश्चय करके हेतु में व्यतिरेकव्याप्ति ली जावे, अथवा दृष्टांत में व्यतिरेकव्याप्ति का निश्चय करके हेतु में अन्वयव्याप्ति ली जावे, तो ऐसे सब हेतु अप्रमाण ही गिने जावेंगे ३४ + ३५ ॥ ∴ ॥

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्तउदाहरणम् ३६ ॥

वादी और विवादी इन दोनों की संमति से दृष्टांत देने के योग्य पदार्थ का बोध जिस शब्द से हो, उस अवयव को उदाहरण कहते हैं; अर्थात् जिस अधिकरण में साध्य और हेतु की व्याप्ति (नियम से एक आश्रय में रहने) का निश्चय विनाविवाद के (प्रत्यक्षसे) हो, उस अधिकरण को उदाहरण कहते हैं; यह उदाहरण दो प्रकार का है, यथा (१) अन्वयी उदाहरण, (२) व्यतिरेकी उदाहरण, परंतु इस सूत्र में केवल अन्वयी उदाहरण का ही लक्षण कियाहै, यथा जिस जिस स्थान में हेतु रहे, वहांवहां साध्य अवश्य रहे; इस (साध्यऔर हेतु की) अन्वय व्याप्ति का निश्चय

जिस अधिकरण में हो, उसे अन्वयी उदाहरण कहते हैं; जैसे पर्वत में धूम हेतु से वह्नि की अनुमिति करने लगें, तो जहांजहां धूम होता है, वहां वह्नि अवश्य होती है; इस (वह्नि और धूम की) अन्वयव्याप्ति का निश्चय महानस (पाक करने के गृह) में होता है, इस से "पर्वतोवह्निमान् धूमात्" इस अनुमिति में महानस अन्वयी उदाहरण है

तद्विपर्ययाद्वाविपरीतम् ३७ ॥ (३६

क्रम से प्राप्त व्यतिरेकी उदाहरण का लक्षण जिस अधिकरण में (साध्य और हेतु की) व्यतिरेकव्याप्ति का निश्चय विना विवाद के हो, उसे व्यतिरेकी उदाहरण कहते हैं; यथा इस शरीर में आत्मा का संबंध अवश्य है, जिस से प्राणवायु इस में चल रहा है; इस अनुमान में "जहां जहांसाध्य (आत्मा का संबंध) नहीं होता, वहांवहां हेतु (प्राणवायु का संबंध) कभी नहीं होता" इस व्यतिरेकव्याप्ति का निश्चय घट में होता है, इस से यहां घट ही व्यतिरेकी उदाहरण है; इस सूत्र में वा शब्द के प्रयोग का यह तात्पर्य है, कि अन्वयव्यतिरेकी अनुमान में अपनी इच्छा से अन्वयी उदाहरण का प्रयोग करना, अथवा व्यतिरेकी उदाहरण का प्रयोग करना, क्योंकि ऐसे अनुमानों में दोनों (अन्वय,व्यतिरेक) व्याप्तियों के निश्चय से दोनों (अन्वयी और व्यतिरेकी) उदाहरणों का अवकाश होता है ३७ ॥ ⁘ ⁘ ॥

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो नतथे
तिवासाध्यस्योपनयः ३८ ॥

दृष्टांत के अनुसार साध्य (पक्ष) का उपसंहार कथन उपनय होता है; अर्थात् प्रकृत उदाहरण में निश्चित व्याप्ति (अन्वय अथवा व्यतिरेक) विशिष्ट हेतु को विशेषण रूप से पक्ष में जनाने का कारण शब्द उपनय कहता है; उदाहरण में निश्चित व्याप्ति से विरुद्धव्याप्ति के बोधक उपनय (उपनयाभास) में अतिव्याप्ति वारण के अर्थ "दृष्टांत के अनुसार" ये अक्षर दिये हैं; वस्तुतः अवयव पद देने से ही यह दोष नहीं लगेगा, तो ऊपर का विशेष नहीं देना; यह उपनय भी दो प्रकार का है, यथा (१) अन्वयी, (२) व्यतिरेकी, तथा शब्द के द्वारा जहां पक्ष में साध्य और हेतु का प्रयोग करें, उसे अन्वयी उपनय कहते हैं; नतथा शब्द के द्वारा जहां पक्षमें साध्य और हेतु का प्रयोग करें, उसे व्यतिरेकी उपनय कहते हैं; यहां तथा और नतथा कहने की ही कुछ आवश्यकता नहीं है; किंतु अन्वयी उपनय में यह जनाना आवश्यक है, कि इस पक्ष में साध्यव्याप्यहेतु है; और व्यतिरेकीउपनय में यह जनाना आवश्यक है, कि साध्याभाव केव्यापक अभावका प्रतियोगी हेतु पक्षमें है; ३८ ॥ ∴ ∴ ॥

हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं
निगमनम् ३९ ॥

हेतु (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म) के कथन से प्रतिज्ञात (सा-

ध्यविशिष्टपक्ष) अर्थका पुनः कथन निगमन होताहै, अर्थात् अग्नि विशिष्टपक्षधर्म(हेतु) को जना कर जो यह साध्य ही विशेषण रूप से साध्य को भी पक्षमें जना वे, अथवा अग्निविशिष्टपक्षधर्म(हेतु) के ज्ञान से जि स का ज्ञान हो, ऐसे साध्य को विशेषण रूप से पक्ष में जनाने का कारण यह निगमन कहाता है; यह निग मन अन्वयी, व्यतिरेकी अनुमानों में एकसा ही होता है, अन्य अवयवों की नाईं अन्वय, व्यतिरेक भेद से दो भांति का नहीं होता, यह ग्रंथकारका आशय है; और किसी का यह भी मत है, अन्वयी अनुमान में "तस्मात्तथा" य ह निगमन का स्वरूप है; व्यतिरेकीअनुमान में "त स्मात्तथा" यह निगमनका स्वरूप होता है ३९ ॥

प्रतिज्ञादि पांच अवयवों के स्वरूप और लक्षणों का छठा प्रकरण समाप्त हुआ. इति. ६ ॥

अविज्ञाततत्वेऽर्थकारणोपपत्तितत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ४० ॥

क्रम से प्राप्त तर्क का लक्षण करते हैं, जिस पदार्थ का तत्व (यथार्थस्वरूप) न प्रतीत हो, उस पदार्थ को यथार्थ रूपसे जानने के अर्थ कारण (व्याप्य) की उपपत्ति (आपत्ति) से व्यापक का ऊह (आपत्ति) तर्क होता है; परंतु जिस अधिकरण में हेतु का यथार्थ निश्चय हो, उसी अधिकरण में उक्त आरोप (आपत्तियां) तर्क कहावेगा, ह्रद में वह्न्यभाव के आरोप से धूमाभाव का आरोप कभी तर्क नहीं कहावेगा; जिससे ह्रद में हेतु (धूम) का यथार्थ निश्चय नहीं होता; और वह्न्यभाव की आपत्ति से धूमाभाव की आपत्तिभी तर्क नहीं होगी, जिस से वह्न्यभाव धूमाभाव का व्याप्य नहीं है; जिस अनुमान में व्यभिचार की शंका होजावे, तो उस अनुमान से तबतक कुछ भी अर्थ नहीं सिद्ध होगा, जबतक तर्क से व्यभिचार शंका का उद्धार न करलेवें; और जिस अनुमान में व्यभिचार शंका नहो, वहां तर्क की अपेक्षा कुछ नहीं है; यह तर्क पांच प्रकार का है, यथा (१) आत्माश्रय, (२) अन्योन्याश्रय, (३) चक्रक, (४) अनवस्था, (५) तदन्यबाधितार्थप्रसंग, इन सबके लक्षण और उदाहरण दिखाते हैं, यथा अपने आप को अपनी अपेक्षा पड़ने से जो दोष लगे, उसे आत्माश्रय कहते हैं; यह आत्माश्रय (उत्पत्ति, स्थिति, ज्ञप्ति) इस भेद से तीन प्रकार का है; यह घट यदि इसी घट

से जन्य हो, तो इस घट के अनधिकरण क्षण से उत्तर क्षण में वर्तमान नहोवे, जिस से कारण यही घट पूर्वक्षण में नहीं रहा; यह घट यदि इसी घट में वर्तमान होवे, तो इस घट का व्याप्य न होवे, जिस से आधार, आधेय, परस्पर व्याप्य अथवा व्यापक कभी नहीं होसकते; यह घट यदि (इस घट के) ज्ञान का स्वरूप होवे, तो इस का चक्षु से प्रत्यक्ष न नहोवे, जिस से ज्ञान आदि आत्मा के विशेषगुणों में से किसी का भी चक्षु आदि बहिरिंद्रियों से कभी प्रत्यक्ष नहीं होता; अपनी अपेक्षा जिस पदार्थ की अवश्य पड़नी हो, उस पदार्थ की अपेक्षा अपने आपको पड़ने से जो दोष लगे, उसे अन्योन्याश्रय कहते हैं; यह अन्योन्याश्रय भी (उत्पत्ति, स्थिति, ज्ञप्ति,) इस भेद से तीन प्रकार का है; यह कपाल यदि इस घट से जन्य हो, तो इस घट की उत्पत्ति से पहिले यह कपाल कभी वर्तमान न होवे, क्योंकि कारण से पहिले कार्य कभी नहीं हो सकता; यह कपाल यदि इस घट में वर्तमान होवे, तो इस घट का समवायि कारण न होवे, जिस से सब उपादान कारण समवाय संबंध से कार्य के अपि कारण होते हैं, आधेय कभी नहीं होते; यह कपाल यदि घट के ज्ञान का स्वरूप होवे, तो कपाल का चक्षु से प्रत्यक्ष न होवे; अपनी अपेक्षा जिस पदार्थ को अवश्य पड़े, उस पहले पदार्थ की अपेक्षा जिस पदार्थ को अवश्य पड़े, उस तीसरे वा चौथे पदार्थ की अपेक्षा अपने आप (पहिले पदार्थ) को पड़ने से जो दोष लगे, उसे चक्रक कहते हैं; यह चक्रक भी (उत्पत्ति, स्थिति, ज्ञप्ति, के भेद से) तीन प्रका-

र का है; क्रम से उदाहरण यथा यह कपालिका यदि इस घट से जन्य हो, तो इस घट की उत्पत्ति से पहिले वर्त्तमान न होवे, कोई भी कार्य अपने कारण की उत्पत्ति से पहिले वर्त्तमान नहीं होसकता; यह कपालिका यदि इस घट में वर्त्तमान होवे, तो घट की उपादान कारण नहोवे; क्योंकि सब उपादानकारण समवाय संबंध से कार्यों के अधिकरण होते हैं, आधेय कभी नहीं होते; यह कपालिका यदि घट के ज्ञान का स्वरूप होवे, तो कपालिका का चक्षु अथवा त्वचा से प्रत्यक्ष नहोवे; क्योंकि आत्मा के विशेषगुण ज्ञान, सुख आदिकों का किसी बहिरिंद्रिय से भी प्रत्यक्ष नहीं होता और जहां पांचवीं कोटि की अथवा छठी आदि कोटियों की अपेक्षा पहिली कोटि को पड़ने से जो दोष लगे, उसे भी चक्रक ही कहते हैं; व्यवस्था (नियम) को त्याग के कल्पना की परंपरा से जो दोष लगे, उसे अनवस्था कहते हैं; यथा यह घट यदि इस घट से जन्य हो, तो यह घट समवाय संबंध से इस कपाल में नरहे; अथवा घटत्व में यदि घटत्व जातिमानें तो उस में भी घटत्वत्व जातिमानों इसीभांति एक २ त्व बढ़ाने से जो दोष लगेगा, उसे भी अनवस्था कहते हैं और कार्यकारण भाव के विरोध से जो दोष लगे उस तदन्यबाधितार्थप्रसंग कहते हैं, यथा धूम यदि वह्नि का अभिचारी (उस से विना होने वाला) हो, तो धूम वह्नि से जन्य न हो, अर्थात् वह्नि से विना ही धूम उत्पन्न हो जावे; अप्रसिद्धि तत्व (पहिले प्राप्त होना) उत्सर्ग (विना यत्न के प्राप्त होना) विनिगमनाविरह (दो पक्षों में से किसी एक पक्ष को सिद्धांत करने वाली युक्ति का नहोना) लाघव, गौरव, येसब केवल अनुमान में

ही नियत नहीं होने से तर्क नहीं है; किंतु तर्क की नाईं प्रमाणों का साहाय्य करने से ये सब भी तर्क कहे जाते हैं; ४० ॥

विमृश्यपक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणंनिर्णयः ४१ ॥ ∴

क्रम से प्राप्त निर्णय का लक्षण करते हैं, पहिले संदिग्ध पदार्थ को ग्रहण करके पक्ष (अपने मत की सिद्धि) और प्रतिपक्ष (विरुद्ध पक्ष के खंडन) से पदार्थ का अवधारण (निषेध से विना दृढ़ रूप से पदार्थ का जानना) निर्णय अथवा निश्चय कहाता है; यद्यपि निर्णय का लक्षण तो इतना ही उत्तम हो सकता है, कि "जिस ज्ञान से एक वस्तु का बोध विशेषण रूप से होवे, और उस वस्तु के अभाव का बोध न होवे, उस ज्ञान को निश्चय कहते हैं; तो भी जल्प, वितंडा, नामी कथाओं में संदेह से अनंतर ही निश्चय होता है, इस अभिप्राय से उक्त सूत्र में "विमृश्यपक्षप्रतिपक्षाभ्यां" इन पदों का निवेश कियाहै; जैसाकि वात्स्यायनभाष्य में भी लिखा है "शास्त्रेवादेचविमर्षवर्ज्यं" इसीरीति यह भी जानना कि प्रत्यक्ष से अथवाप्त से पदार्थ का निश्चय करने में संदेह की अपेक्षा कुछ नहीं पड़ती ४१ ॥ ∴ ∴ ॥

इति न्याय के उत्तर अंग तर्क, निर्णय, के लक्षणों का वा० व० करण समाप्त हुआ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति के पहिले अध्याय का पहिला आह्निक समाप्त हुआ १ ॥ ∴ ∴ ॥

आह्निकोंकीपरस्परसंगति

पहिले आह्निक में आप्ति, पदार्थधर्मता, संशय न्याय (पांचो अवयवों) का निरूपण करके वाद आदि पदार्थों के लक्षण करने की इच्छा से दूसरे आह्निक का आरंभ किया है; प्रसंग (संगति) से छल पदार्थ की परीक्षा भी इस आह्निक में होगी, तो सिद्ध हुआ, कि छल की परीक्षा, और वाद आदि पदार्थों के लक्षण, इस दूसरे आह्निक का प्रयोजन है; इस आह्निक में ४ प्रकरण हैं; (१) कथाप्रकरण, (२) हेत्वाभासप्रकरण, (३) छलप्रकरण, (४) दोषप्रकरण, आदि में कथा के विशेषभेदों (वाद, जल्प वितंडा) के लक्षण करने के अर्थ तीन सूत्रों का कथा प्रकरण है; इसी आशय को लेकर वात्स्यायनभाष्य में लिखा है, "तिस्रः खलु कथाभवन्तिवादो जल्पोवितण्डाचेति" कथा का सामान्यलक्षण यह है, न्याय के अनुकूल तत्वनिर्णय (पदार्थकेयथार्थनिश्चय) अथवाविजय (दूसरेपक्षकेजीतने) का कारण वाक्यों का समूह कथा कहाता है; लौकिकविवादतोन्यायके अनुकूल न होने से कथा नहीं है, और जहां पक्षने दूसरे का कहा ही नहीं समझा वहां तत्वनिर्णय, विजय इन में से एक के भी नहोने से कथा नहीं होसकती; कथाओं के अधिकारी येपुरुष हैं; जिन्हें तत्वनिर्णयअथवाविजय की अपेक्षा हो, साथ जगत में प्रसिद्ध वस्तु का जो खंडन नकरें, सुनने में चतुर, विवादकीवासनासे रहित, कथाकेउपयोगी अर्थ कहने में चतुर॥

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भसिद्धान्ता विरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ४२ ॥

तीनों कथाओं में प्रधान वाद का लक्षण यह है, कि जिस में यथार्थ प्रमाण से अपने पक्ष का साधन (सिद्धि) और यथार्थ तर्क से विरुद्ध पक्ष का उपालंभ (खंडन) हो, पक्ष (अपनामत) प्रतिपक्ष (अपनेविरुद्धमत) इन दोनोंमें से प्रत्येक मत की सिद्धि के अर्थ जो परस्पर उत्तर, प्रश्न, के क्रम से कहा हुआ वाक्योंका समूह उसे वाद कहते हैं; प्रमाणाभास (दुष्टप्रमाण) से अपने मत की सिद्धि और तर्काभास (दुष्टतर्क) से विरुद्धमत का खंडन तो यद्यपि जल्प और वितंडा में भी होता है, तोभी वाद के लक्षण में यथार्थप्रमाण और यथार्थ तर्क का निवेश करने से जल्प और वितंडा में अतिव्याप्ति नहीं लगती; इस वाद कथा में निग्रहस्थानोंका नियम बांधने के अर्थ (सिद्धांताविरुद्धः, पञ्चावयवोपपन्नः) ये दो विशेषण दिये हैं; क्योंकि पहिले विशेषण में सिद्धांत का साधारण नाम लेने से प्रतीत हुआ, कि वाद में अपसिद्धांत नामी निग्रहस्थान भी लेते हैं; और दूसरे विशेषण में सामान्यरूप से पांच अवयवों का नाम लेने से न्यून, अधिक, अवयवाभास (दुष्टअवयव) दृष्टांतासिद्धि आदि हेत्वाभास भी वाद में अनुज्ञात होते हैं; तो सिद्ध यह हुआ, कि हेत्वाभास, न्यून, अधिक, और अपसिद्धांत, यही चारो निग्रहस्थान वाद में लिये जाते हैं; वास्तव सिद्धांत यह जानना, कि राग आदि दोषों की निवृत्ति से अनंतर ही मनुष्य तत्त्व (यदा-

र्थ के यथार्थ स्वरूप) का निश्चय करने के अर्थ वाद में प्रवृत्त होते हैं; तो वाद में अविज्ञातार्थ आदि निग्रहस्थानों की नाईं न्यून और अधिक नामी निग्रहस्थानों की भी कोई आवश्यकता नहीं है, इसी से भाष्यकार ने पांच अवयवों की आवश्यकता भी वाद में नहीं मानी; और हेत्वाभास के प्रकाश करने से भी कथा का विच्छेद तभी होता है, जब अन्य हेतु से अर्थकी सिद्धि न कर सकें नहीं तो केवल वह पहिला हेतु ही दुष्ट होगा, कथा का विच्छेद कभी नहीं होगा; किंतु अन्य हेतु से कथा प्रवृत्त होगी; इस वाद कथा के अधिकारी ये पुरुष हैं, तत्व (पदार्थ का यथार्थस्वरूप) जानने की इच्छावाले, संबद्ध बात कहनेवाले, कलह न करनेवाले, छल न करनेवाले, जिन्हें अवसर पर स्फूर्ति हो, युक्तिसिद्ध पदार्थों का निश्चय करनेवाले, और कोई कहते हैं, राजा, मध्यस्थ पंडितों की सभा वाद में अवश्य चाहिये, परंतु वाद के अधिकारियों में राग आदि दोषों के नहोने से इस सभा की अपेक्षा कुछ नहीं है ४२ ॥ ❊ ❊ ॥

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ४३ ॥

तीनों कथाओं में मध्यम जल्प का लक्षण यह है, कि जिस में सामान्य प्रमाणों से छलों के द्वारा अपने मत की सिद्धि और सामान्य तर्कों से जाति और निग्रहस्थानों के द्वारा दूसरे मत का खंडन हो, जीतने की कामना से अपने अपने पक्ष की सिद्धि के अर्थ प्रथम, उत्तर के क्रम से कहे हुए वाक्यों का समूह जल्प कहाता है; यद्यपि छल, जाति, निग्रहस्थानों से दूस-

रे मत का खंडन ही होता है, अपनेमत की सिद्धि नहीं होती; तोभी अन्य मत के खंडन से ही अपने मत की सिद्धि मान के य हकहा है; और वितंडा में अतिव्याप्तिवारण के अर्थ जल्प के लक्षण में उभयपक्षस्थापनाहीन का निवेश अवश्यकरना, अर्थात् दोनों पक्ष किसीनाकिसीशास्त्र की संमति से प्रश्न हों; यह अर्थ आगे वितंडा के सूत्र से ही प्रतीत होता है; इन छल आदि के निवेश से ही प्रतीतहोता है, कि जीतने की इच्छा से जोकथा प्रवृत्त हो, उसे जल्प कहते हैं; यही कथा की प्रवृत्ति का यह क्रम है; वादी ने अपने पक्ष की सिद्धि का प्रयोग (कथन) करके जब इसरीति सामान्यविशेष हेतुओं का उद्धारकिया, कि सामान्यलक्षण के न घटने से यह हेत्वाभास नहीं है, और विशेष लक्षणों के न घटने से यह असिद्ध भी नहीं है; तब प्रतिवादी ने अपने अज्ञान आदि निग्रहस्थान हटाने के अर्थ वादी के कहे अर्थ का अनुवाद करके कथन से विना प्रतीत होने योग्य अज्ञान, अननुभाषण, अप्रतिभा, नामी निग्रहस्थानों की संभावना मात्र भी न होने से, कथन से प्रतीत होने योग्य अप्राप्तकाल, अर्थांतर, निरर्थक, अपार्थक, नामी निग्रहस्थानों के भी न मिलने से, और कहे रूप प्रतीत होने योग्य प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञांतर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वंतर, अविज्ञातार्थ, विक्षेप, मतानुज्ञा, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धांत, नामी निग्रहस्थानों केभी नमिलने से, और पर्य्यनुयोज्योपेक्षण तो मध्यस्थ का ही प्रकाश्य होने से प्रतिवादी के कथन के योग्य नहोनेसे संभव देख के हेत्वाभासों से ही वादी के मत

का खंडन करके अपना मत सिद्ध करना है, तब तीसरी कोटि में वादीने भी प्रतिवादी के पदार्थों का अनुवाद करके और अपने मतमें दिये दूषणों का उद्धार करके हेत्वाभास से अतिरिक्त उक्त संज्ञक निग्रहस्थानों के नमिलने से हेत्वाभासों से ही प्रतिवादी के मत का खंडन करना है; नहीं तो क्रम त्यागने से अप्राप्तकाल अनवसर में दोष देने से निरनुयोज्यानुयोगनिग्रहस्थान दोष लगेगा; जैसे कथिनहेतु के त्याग से प्रतिज्ञा हानि, अन्यविशेषण देने से हेत्वंतर दोष लगता है; प्रतिज्ञाहानि आदि की नांई हेत्वाभास भी उक्त ग्राहों में आसकते हैं; तोभी अर्थदोष होने से गौणज्ञानकर हेत्वाभासों को सब से पीछे लिया है; ४३ ॥ ॥

सप्रतिपक्षस्थापनाहीनोवितण्डा ४४

क्रम से प्राप्त वितंडा का लक्षण करते हैं, जीतने की इच्छा से प्रवृत्त हुई जिस कथा के दो पक्षों में से प्रतिपक्ष (कोईए कपक्ष) स्थापना से हीन हो; अर्थात् किसी शास्त्र से भी सिद्ध न होसके केवल मन की कल्पनासी हो; उस (जल्प) को वितंडा कहते हैं। यद्यपि इस सूत्र में पढ़े स शब्द से जल्प को नहीं ले सकते, क्योंकि जल्प में दोनों पक्ष शास्त्रों की संमतियों से प्रवृत्त होते हैं; तोभी जल्पका एकदेश (जीतने की इच्छा से प्रवृत्त कथा) स शब्द से लेना। इस में यह आशंका है, जिस पक्ष में किसी शास्त्र की संमति नहीं है; उस पक्ष को सिद्धकरना असंभव है, पुनः यह कथा (वितंडा) कैसे प्रवृत्त होगी; इसका उत्तर यह है, अन्य पक्ष का खंडन करना ही अपने पक्ष की सिद्धि और जय

जिन्हों ने मानी है; ऐसे विवेक हीन मूर्ख मनुष्य ही इस कथा में प्रसन्न होते हैं; वेही इस कथा के अधिकारी भी हैं, इसी से यह कथा (विनंडा) अधमगिनी गई है ४४ ॥ ॐ ॥

कथाओंके विशेषविभागऔरलक्षणका ६ वां प्रकरण समाप्तहुआ० ॥ ॐ ॥

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसा ध्यसमातीतकालाहेत्वाभासाः ४५

क्रम से प्राप्त हेत्वाभासों (दुष्टहेतुओं) के लक्षण और विभाग करते हैं; यथा सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, और अतीतकाल, येपांच हेत्वाभास (दुष्टहेतु) हैं; इस सूत्र में "हेतुवदाभासन्ते" इस व्युत्पत्ति से हेतु (प्रमाणहेतु) की नांई प्रतीत होने वाला) यह अर्थ हेत्वाभास शब्द से ही स्पष्ट प्रतीत होता है; जो कि हेत्वाभासों का उत्तम लक्षण है, इस से सूत्र में लक्षण के न कथन की न्यूनता नहीं जाननी; परंतु पक्षसत्व (पक्षमें रहना) सपक्षसत्व (सपक्षमें रहना) विपक्षासत्व (विपक्षमेंनहींरहना) अबाधितत्व (पक्षमेंसाध्याभावकानिश्चयन हींहोना,) असत्प्रतिपक्षितत्व (साध्याभाव के साधक प्रतिपक्षीहेतुकानहोना,) ये पांचो धर्म जिस में रहें; उसे सद्धेतु (प्रमाणहेतु) कहते हैं; और उक्त व्युत्पत्ति में वत् प्रत्यय का अर्थ (उस से भिन्न और उसकेसदृश) है; तो लक्षण यह हुआ, कि पक्षसत्व आदि पांचो धर्म जिसमें नरहें, और जो सद्धेतु की नांई प्रतीत हों; उसे हेत्वाभास (दुष्टहेतु) कहते हैं, क्योंकि पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्षासत्व, इन तीनधर्मों से सद्धेतु में अव्यभिचरितसामानाधिकरण्य (व्याप्ति) जनाया है; इसलिये दुष्टहेतु में इन तीनों के अभाव से व्याप्ति का अभाव (व्यभिचार) जनाया है; जिस (व्यभिचार) का निश्चय व्याप्तिज्ञान का प्रतिबंधक होता है; इसीभांति अबाधितत्व, असत्प्रतिपक्षितत्व, इन दो धर्मों से सद्धेतु में अनुमिति की प्रतिबंधकता का अभाव जनाया है; तो दुष्टहेतु में इन दोनों के अभाव से अनुमिति की

प्रतिबंधकता प्रतीत हुई; अर्थात् इन पांचों के अभाव से लक्षण यह प्रतीत हुआ, कि अनुमिति अथवा अनुमिति के करण (आप्तिज्ञान) के प्रतिबंधक यथार्थज्ञान का विषय हेत्वाभास (दुष्टहेतु) होता है; यद्यपि इस अर्थ के निकालने में बहुत क्लेश प्रतीत होता है, तो भी हेत्वाभासों का लक्षण करने में और कोई सहज उपाय न मिलने से यह क्लेश भी अच्छा जाना जाता है; क्योंकि हेत्वाभास के लक्षण में यदि उक्त पांच धर्मों के अभाव का ही निवेश करें; तो जिन अनुमानों में उक्त पांचधर्म ही नहीं बन सकते, वहां उनका अभाव किस भांति कह सकेंगे; क्योंकि अभाव प्रसिद्ध वस्तु का ही हो सकता है; अप्रसिद्ध वस्तुओं (आकाशपुष्प, कूर्मरोमआदि) का अभाव भी कभी नहीं कहा जाता; और यदि कहें, कि सद्धेतु में प्रसिद्ध उक्त पांचरूपोंका अभाव दुष्टहेतुओं में रखलेवेंगे; तो यह दोष जानना; कि एक सद्धेतु के पांच धर्मों का अभाव दूसरे सद्धेतु में रह जावेगा; अर्थात् दुष्टहेतुओं का लक्षण सब सद्धेतुओं में जाने से अतिव्याप्ति दोष लगेगा; उक्त पांच धर्म जहां नहीं बन सकते, वे स्थल ये हैं; पृथिवी जिस से गंधवाली है, इसीसे जल आदि सब पदार्थों से भिन्न है; इस अनुमान में सारी पृथिवी को पक्ष बनाने से और पृथिवी से इतर किसी एक पदार्थ में भी गंध हेतु के न रहने से सपक्ष अप्रसिद्ध है; अर्थात् सपक्षसत्व ही अप्रसिद्ध है; इसीभांति घटप्रमेय है, जिससे घट आकाश है; इस दुष्ट-अनुमान में विपक्ष अप्रसिद्ध है, क्योंकि प्रमेयत्व साध्य सारे जगत में रहता है; अर्थात् इस अनुमान में विपक्षासत्व अ-

प्रसिद्ध हुआ। और उक्त पांचरूपों में से लाघव के अर्थ इसी एकके अभाव का निवेश लक्षण में करें, इस का विनगमक (निर्द्धारण करनेवाला हेतु) कोई हाथ नहीं मिलता; इसीसे पांचों के अभाव का निवेश किया है; सिद्धांत में इन पांचों के अभाव से अनुमिति और अनुमिति के करण (व्याप्तिज्ञान) की प्रतिबंधकता का निवेश करना ही अभीष्ट है; जो कि हेत्वाभासोंके उक्त सामान्यलक्षण में कह दिया है; इनहेत्वाभासों का अधिक विस्तार गदाधरी आदि ग्रंथों में है; सूत्रों में तो संक्षेप से ही वर्णनकिया है ५५ ॥ ॥

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ५६ ॥

सव्यभिचार का लक्षण करते हैं, यथा अनैकांतिक को सव्यभिचार कहते हैं; एक (साध्य अथवासाध्याभाव) का अंत (नियम से इकट्ठे रहना) अर्थात् व्याप्ति का ग्रहण करने वाला सहचार (नियमसे इकट्ठे रहना) जिस में रहे, उसे ऐकांतिक कहतेहैं; इस (ऐकांतिक) से भिन्न अनैकांतिक (सव्यभिचार) होता है; तो लक्षण यहहुआ, कि साध्य अथवा साध्याभाव के साथ जो हेतु नियम से इकट्ठा न रहे, उसे सव्यभिचार कहते हैं; यह सव्यभिचार तीन प्रकारका है, यथा साधारण, असाधारण, और अनुपसंहारी, इन तीनों में से जो हेतु साध्य के अधिकरण में भी रहे, और साध्य से शून्य देश में भी रहे उसे साधारण कहते हैं; यथा शब्द नित्य है, जिस में शब्द में स्पर्श नहीं रहता; इस अनुमान में नित्यत्वसाध्यके अधिकरण आकाश आदि में हेतु (स्पर्श का अभाव) है; और नित्यत्व साध्य से शून्य अनित्य रूप आदि पदार्थों में भी हेतु

(स्पर्शाभाव) रहता है; इससे यह स्पर्शाभाव हेतु साधारण अनैकांतिक है; इसी को नैयायिकलोग समानाधिकरण विचारीभी कहते हैं इस में यह आशंका करते हैं, कि जो हेतु साध्य से अन्य देश में रहे, उसी का नाम विरुद्ध भी है; अर्थात् साधारण का लक्षण विरुद्ध में जाने से अतिव्याप्तिदोष लगा; इसका उत्तर यह है, कि साधारण तो व्याप्तिज्ञान का साक्षात् प्रतिबंधक होता है, और विरुद्ध साध्याभाव की अनुमिति करादेने से साध्य की अनुमिति का प्रतिबंधक हो जाता है; इन दूषकतावीजों (प्रतिबंधकताओं) के भेद से एक हेतु में दोदोषों के आने से भी कोई संकर (दोष) नहीं जानना। जो हेतु सपक्ष (निश्चय से साध्यवाले) में न रहे, और विपक्ष (निश्चय से साध्यशून्य) में भी न रहे, उसे असाधारण अनैकांतिक कहते हैं; यथा शब्द नित्य है, जिससे शब्द आकाश है, इस अनुमान का आकाश हेतु सपक्ष (निश्चय से नित्य परमाणु आदि) में भी नहीं रहता, और विपक्ष (निश्चय से अनित्य घट आदि) में भी नहीं रहता; इस से यह असाधारण अनैकांतिक है। जिस अनुमान का पक्षतावच्छेदक (पक्षमेंविशेषण) केवलान्वयी (संपूर्णपदार्थों में रहनेवाला) हो, उसे अनुपसंहारी कहते हैं, यथा सर्वपदार्थ नित्य हैं, जिससे प्रमेय हैं; इस अनुमान में पक्ष का विशेषण सर्वत्व है, जो कि सारे जगत में रह सकता है; इससे यहं प्रमेयत्वहेतु अनुपसंहारीअनैकांतिकहै और नवीन लोग असाधारण, अनुपसंहारी का इं वर्णन करते हैं; कि जो हेतु साध्य के अधिकरण में न रहे, उसे असाधारण

कहते हैं; अग्निज्ञान के कारण साहचर्य (साध्य, हेतु के इकट्ठे रहने) के ज्ञान को नहोने देने से यह (असाधारण) अग्निज्ञानका प्रतिबंधक माना है; और जिस हेतु का साध्य केवलान्वयी (सारेजगतमेंरहनेवाला) हो, उसे अनुपसंहारी अनैकांतिक कहते हैं; इस अनुमान में साध्य के सारे जगत में रहने से साध्याभाव की अप्रसिद्धि होने पर व्यतिरेक अग्नि (साध्याभाव के व्यापक अभावका प्रतियोगी हेतु सहेतु है) का ज्ञान कभी नहीं होसकता; अर्थात् यह अनुपसंहारी व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानका प्रतिबंधक होता है; क्योंकि सिद्धांत में केवलान्वयी का लक्षण यह ही है, कि जो विद्यमान अत्यंताभाव का प्रतियोगी नहो; उसे केवलान्वयी कहते हैं; यथा प्रमेयत्व सारे जगत में रहता है, इससे प्रमेयत्वका अभाव कहीं विद्यमान नहीं होसकता किंतु विद्यमान अभाव द्वयाभाव का प्रतियोगीद्वय और अप्रतियोगीप्रमेयत्व है; इसी से प्रमेयत्व केवलान्वयीहै ५६

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानद्दिशो विरुद्धः ५७ ॥

क्रम से प्राप्त विरुद्ध का लक्षण करते हैं, सिद्धांत (सिद्ध यत्न के अंत में करने के योग्य साध्य) की सिद्धि के अर्थ कहा हुआ, साध्य का विरोधी (साध्याभाव का व्याप्य) हेतु विरुद्ध होताहै; यथा यह ह्रद (तलाव) अग्नि वाला है, जिस से यह जल है; इस अनुमान में साध्याभाव (वह्न्याभाव) का व्याप्य जलत्व हेतु वह्निकी सिद्धि के लिये प्रविष्ट किया है, इस से यह जलत्व हेतु विरुद्ध है; यह विरुद्ध साध्याभाव की अनुमिति का कारण होने से साध्यकी अनुमिति

का प्रतिबंधक होता है; इसमें यह आशंका है, कि सत्प्रतिप भी साध्याभाव की अनुमिति का का कारण है, और यह (विरुद्ध) भी साध्याभाव की अनुमितिका कारण है; अर्थात् विरुद्ध का लक्षण सत्प्रतिपक्ष में जाने से अतिव्याप्ति दोष लगता है; इस का उत्तर यह है, सत्प्रतिपक्ष में साध्य की अनुमिति का कारण हेतु अन्य होता है, और साध्याभाव की अनुमिति कारण हेतु अन्य होता है, अर्थात् सत्प्रतिपक्ष में दो हेतु होते हैं; और विरुद्ध में साध्याभाव की अनुमिति का कारण हेतु ही साध्यकी अनुमिति का कारण बनादिया है; अर्थात् विरुद्ध में एकही हेतु होता है; इस भेद से अतिव्याप्ति नहीं लगती ४७ ॥ ॥

यस्मात्प्रकरणचिन्तानिर्णयार्थमपदिष्टःप्रकरणसमः ४८ ॥

प्रसंग से प्राप्त प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) का लक्षण कहते हैं, जो हेतु साध्य अथवा साध्याभाव का निश्चय करने के अर्थ कहा जाय, परंतु किसी बलवान विरोधी अन्य हेतु के प्रतिबंध से किसी प्रकार के निश्चय को भी उत्पन्न कर सके, किंतु यह (पक्ष) साध्यवाला है, अथवा साध्याभाववाला है, इस संदेहको उपजावे; उसे प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) कहते हैं। पक्ष (साध्यवाला) प्रतिपक्ष (साध्याभाववाला) इन दोनों को प्रकरण कहते हैं; वात्स्यायनभाष्य में लिखा है, "प्रकरणंपक्षप्रतिपक्षौ" कोई यूं भी कहते हैं, कि प्र शब्दका अर्थ उत्कृष्ट है, जो उत्कृष्ट करण (परामर्श अथवा हेतु) यह प्रकरण शब्द का अर्थ हुआ; अर्थात् इन दो पक्ष

मर्शों में से कौनसा परामर्श यथार्थ और कौनसा अयथार्थ है; अथवा इन दो हेतुओं में से कौनसा हेतु अनुमिति को उपजा सकता है, और कौनसा नहीं उपजा सकता; यह चिंता (जिज्ञासा) जिस से मिटती हो, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं; और अवशिष्ट (यस्मात् इत्यादि) तो केवल सत्प्रतिपक्ष के स्वरूप का ही वर्णन है। लक्षण तो सत्प्रतिपक्ष का यह है, तुल्य युक्तियों से सिद्ध विरोधी (साध्याभाव का साधक) परामर्श के समय में वर्तमान परामर्श का विषय सत्प्रतिपक्ष है; अथवा जिस समय अपने साध्य का परामर्श हो, उसी समय में वर्तमान विरोधी (साध्याभाव का साधक) परामर्श सत्प्रतिपक्ष होता है; यथा यह ह्रद (तलाव) वह्निवाला है, जिस से धूमवाला है; और यह ह्रद वह्न्यभाववाला है, जिस से शैवालवाला है; तुल्ययुक्तियों से सिद्ध विरोधी परामर्श (यह ह्रद वह्न्यभाव के व्याप्य शैवाल वाला है) के समय में वर्तमान परामर्श (यह ह्रद वह्नि के व्याप्य धूमवाला है) का विषय धूम हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष से दुष्ट है; अथवा यह ह्रद वह्निव्याप्य धूमवाला है, इस परामर्श के समय में वर्तमान विरोधी परामर्श (यह ह्रद वह्न्यभाव के व्याप्य शैवालवाला है) सत्प्रतिपक्षदोष है; इसी दोष से धूम हेतु दुष्ट है, परंतु यह दोष धूम हेतु में एकज्ञानविषयत्व संबंध से रहना; और यह (सत्प्रतिपक्ष) दोष अनित्य जानना, अर्थात् किसी समय लगता है, और किसी समय नहीं लगता; इसी से विरोधी (साध्याभाव के साधक) परामर्श के समय संदेह भी दुष्ट होजाता है; परंतु सिद्धांत यह जानना, कि संदेह में सत्प्रतिपक्ष

के भ्रम से अनुमिति का प्रतिबंध ही होताहै; हेतु दुष्ट नहीं होता

साध्यविशिष्टसाध्यत्वात्साध्यसमः ४९ ॥ ४८ ॥

क्रम से प्राप्त साध्यसम का लक्षण करते हैं, साध्य की नांई जिस हेतु की भी (किसी युक्ति के द्वारा अथवा किसी अन्य हेतु के द्वारा) सिद्धि करनी पड़े, उस हेतु को साध्यसम कहते हैं; इसी निमित्त से ऐसे हेतु को असिद्ध भी कहते हैं; यह असिद्ध तीन प्रकार का है, यथा आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, व्याप्त्वासिद्ध, इस भेद से; इन तीनों में से पक्ष में पक्षतावच्छेदक (पक्ष के विशेषण) का अभाव (नाहोना) आश्रयासिद्धि दोष है, इसी दोष से हेतु आश्रयासिद्ध कहाता है; यथा इस स्वर्ण के पर्वत में अग्नि है, जिस से इस में धूम है; इस अनुमान के पक्ष पर्वत में पक्षतावच्छेद स्वर्ण रूप का अभाव ही आश्रयासिद्धि है, और इसी दोष से यह धूम हेतु आश्रयसिद्ध है; पक्ष में हेतु का अभाव स्वरूपासिद्धि है, इसी दोष से हेतु स्वरूपासिद्ध कहाता है; यथा यह ह्रद द्रव्य है, जिस से इस में धूम है; इस अनुमान के पक्ष ह्रद में धूम हेतु का अभाव ही स्वरूपासिद्धि है, इसी दोष से यह धूम हेतु स्वरूपासिद्ध है; और नियम से इकट्ठे रहने (अग्नि) का अभाव व्याप्त्वासिद्धि कहाता है, इस सूत्र में यह आशंका है, कि अक्षरों के अर्थ से तो केवल स्वरूपासिद्धि का नाम ही साध्यसम प्रतीत होताहै; तो आश्रयासिद्ध, व्याप्त्वासिद्ध को किस रीति साध्यसम कहते हो, इस का उत्तर यह है, कि साध्यसम के लक्षण में हेतु पद का निवेश करते हैं; जिस हेतु का अर्थ अग्निपदधर्मतविशिष्ट हेतु है; अथवा लक्षण में अग्निविशिष्ट पक्षधर्म का ही निवेश कर देना, अर्थात् लक्षण यह करना, कि साध्य की नांई जिस (अग्निपक्ष-

धर्मताविशिष्ट हेतु, अथवा व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म) की भी सिद्धि करनी पड़े, उसे साध्यसम अथवा असिद्ध कहते हैं; परंतु पक्ष, हेतु, व्याप्ति, इन तीनोंमें से कोई एक भी जहां साध्य की नाईं सिद्ध करना पड़ेगा, वहां उक्त लक्षण के घट जाने से साध्यसम अवश्य होगा; इसलिये लक्षण से ही आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, और व्याप्यत्वासिद्ध, ये तीनोंभी सिद्ध आते हैं, अर्थात् किसी के सब अंश और किसी के कुछ अंश सिद्ध करने पड़ते हैं; इसी से साध्य में साध्यतावच्छेदक (साध्यकेविशेषण) का अभाव, और हेतु में हेतुतावच्छेदक (हेतुकेविशेषण) का अभाव भी व्याप्यत्वासिद्धि कहाता है; जैसे पक्षमें पक्षतावच्छेदक (पक्षके विशेषण) का अभाव, पक्षमें पक्षतावच्छेदक (पक्षके विशेषण) वाले का भेद, पक्ष में अवृत्ति पक्षतावच्छेदक इत्यादि सब आश्रयासिद्धि कहाते हैं; और पक्ष में हेतु का अभाव, पक्ष में हेतुवाले का भेद, पक्ष में अवृत्ति हेतु इत्यादि सब स्वरूपासिद्धि कहाते हैं; इसी भांति साध्यमें साध्यतावच्छेदक का अभाव, हेतु में हेतुतावच्छेदक का अभाव, इत्यादि सब व्याप्यत्वासिद्धि कहाते हैं; कोई ग्रंथकार व्याप्यत्वासिद्धि का उदाहरण यह दिखाते हैं; कि इस पर्वत में अग्नि है, जिस से इस में नीलधूम है; इन का यह अभिप्राय है, कि साध्य की संबंधिता (इकट्ठे रहने) का अवच्छेदक (नियम बांधनेवाला) धर्म व्याप्ति कहाता है, परंतु गुरुधर्म अवच्छेदक कभी नहीं होता, उक्त उदाहरण में धूमत्व की अपेक्षा नीलधूमत्व गुरु होने से साध्यसंबंधिता का अवच्छेदक नहीं हो सकता तो व्याप्यता (व्याप्ति) की असिद्धि हुई; अर्थात् साध्य-

में साध्यतावच्छेदक के अभाव की नाईं और हेतु में हेतुतावच्छेदक के अभाव की नाईं हेतुतावच्छेदक में साध्यसंबंधिता की अवच्छेदकता का अभाव भी व्याप्यत्वासिद्धि होती है; अर्थात् जिस साध्य की सिद्धि करने के अर्थ व्याप्ति का कोई अंश भी अन्यहेतु देकर सिद्ध करना पड़े, वहांव्याप्ति की असिद्धि होनाएप्यत्वासिद्धिकहाती है ४९ ॥

कालात्ययापदिष्टःकालातीतः २० ॥

क्रम से प्राप्त अतीतकाल(बाध)का लक्षण करतेहैं; अतीतकाल और कालातीत ये दोनों शब्द एक अर्थ (बाध) कोही जनाते हैं, इस से हेत्वाभासों के सामान्यसूत्र में अतीतकाल और बाध के इस विशेष सूत्र में कालातीत कहा है, तौभी अंतर कोई नहीं जानना; अर्थ इस (कालातीत) शब्द का यह है, काल (साध्य की सिद्धि करने का समय) के अत्यय (नरहने) पर अर्थात् साध्य का संबंध निहत होजाने पर अपदिष्ट (साध्य की सिद्धि के अर्थ प्रयुक्त) हेतु कालातीत (बाध दोष से दुष्ट) कहाता है; इस अर्थ से प्रतीत हुआ, कि पक्ष में साध्याभाव की प्रमा (यथार्थ ज्ञान) बाध होता है, और इस बाध दोष से हेतु बाधित (बाधितसाध्यवाला) कहाता है; क्यों कि साध्याभाव का यथार्थ निश्चय होने पर साध्य की सिद्धि का करना सवरीति असंभव के समान है; उदाहरण यथा वह्नि उष्ण (गरम) नहीं है, जिस से कार्य है; इस अनुमान के पक्ष (वह्नि) में प्रत्यक्ष सेही उष्णत्व (साध्याभाव) का यथार्थ निश्चय होने पर अर्थात् बाधनिश्चय के होने पर किसी युक्ति से भी इस (वह्नि उष्ण नहीं है) अनुमिति को सिद्ध नहीं करसकते ।

इस पर यह आशंका है, जिस अनुमान में बाध दोष लगता है, वहां हेतु यदि पक्ष में रहे, तो व्यभिचार दोष लगता है; और यदि हेतु पक्ष में न रहे, तो स्वरूपासिद्धि दोष लगता है; और इन्हीं (व्यभिचार अथवा स्वरूपासिद्धि) दोषों से ही वह हेतु दुष्ट होजावेगा, पुनः बाधनामी पांचवां हेत्वाभास मानने की क्या अपेक्षा है; इस का उत्तर यह है, कि बाध अनुमिति का प्रतिबंधक होता है, और स्वरूपासिद्धि पक्षधर्मताज्ञान की प्रतिबंधक होती है; इनके प्रतियोगीजों के भेद से इन का एक दूसरे से परिवर्त्तन नहीं होसकता; और उत्पत्तिक्रम में बहुत ग्रंथवाला है, जिस से पृथिवी है; ऐसे २ अनुमानों में बाधसे अन्य व्यभिचार अथवा स्वरूपासिद्धि कोई दोष भी नहीं लगता, और यह हेतु है दुष्ट, इस में बाधदोष अवश्य मानना योग्य है ५० ॥ ❊

इति विश्वनाथपंचानन की बनाई न्यायसूत्रवृत्ति के ९ वें हेत्वाभासों के प्रकरण का पं. सदानंदझा का बनाया हिंदीभाषा में अनुवाद समाप्त हुआ. ९ ॥ ❊ ❊ ॥

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ५१ ॥

क्रम से प्रथम छल का लक्षण करते हैं, अर्थ (वक्ता के तात्पर्य के विषय) से विकल्प (विरुद्ध अर्थ) की उपपत्ति (युक्तिजोसेसिद्धि) के द्वारा वचन (वक्ताकेवाक्य) का विघात (खंडन) छल कहाता है; अर्थात् वक्ता के अभिलषित अर्थ से विरुद्ध अर्थ की कल्पना करके वक्ता के वाक्य का खंडन करना छलहै; यह विरुद्ध कल्पना तीन भांति की है, यथा कहीं विशेष्य की कहीं विशेषणकी और कहीं संबंध की इन प्रत्येक के उदाहरण यथा किसीने संस्कृत में अनुमान किया, 'नेपालादागतोऽयंनवकंबलवत्त्वात्' अर्थात् यह नेपाल से आया है, जिस से इस के पास नव (नया) कंबल है; किसी ने इस का खंडन किया, कि तुमारा कथन असंगत है, क्योंकि इस के पास नव (नौ) कंबल नहीं हैं, किंतु इस अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष है। यह प्रमेय है, जिस से धर्म (कहींवर्त्तमान) है; इस का खंडन करना, यह असंगत है, क्यों कि घट आदि पदार्थ धर्म (गुण) नहीं हैं; किंतु पृथिवी है, अर्थात् पद के बदले अर्थों में स्वरूपासिद्धि दोष लगने सेयह अनुमान दुष्ट है। पर्वत में अग्नि है, जिस से इस में धूम है; इसका खंडन करना कि धूम तो अपने अवयवों में है, और अग्नि वहां नहीं है; अर्थात् व्यभिचार दोष से यह अनुमान दुष्ट है। इन तीनों उदाहरणों में क्रम से विशेष्य, विशेषण और संबंधकीविरुद्धकल्पनादिखाई है ५१ ॥ ॥

तत्त्रिविधं वाक्छलंसामान्य
छलमुपचारच्छलञ्चेति ५२

छल का सामान्य लक्षण करके विशेषविभाग ओर लक्षण करते हैं; यह छल तीन प्रकार का है, (१) वाकछल, (२) सामान्यछल, (३) उपचारछल, इस भेद से ५२ ॥

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्था
न्तरकल्पना वाकछलम् ५३ ॥

इन तीनों में से वाकछल का लक्षण करते हैं, वक्ता के कहे हुए जिस शब्द के अभिधा शक्ति से दो अथवा तीन अर्थ होते हैं, और वक्ता ने वही शब्द किसी एक अर्थ के अभिप्राय से कहदिया हो, परंतु इस का यही अर्थ मुझे अपेक्षित है, इस के निश्चय कराने वाला हेतु कोई भी न दिया हो; वहां अभिधा (प्रधान) शक्ति के द्वारा ही वक्ता के अभिलषित अर्थ से अन्य अर्थ की कल्पना कर के दोष देना, वाकछल कहाता है; यथा यह पुरुष नेपाल से आया है; जिस से इस के पास नव (नया) कंबल है; इस अनुमान में जो नव शब्द है, अभिधाशक्ति से ही इस के दो अर्थ हैं, नया (नवीन) और नौ ९ संख्या, परंतु वक्ता ने विशेष (यही) अर्थ लेने का हेतु तो कोई नहीं दिया, किंतु नवीन अर्थ के अभिप्राय से नव शब्द दिया है; इसका अभिधाशक्ति के द्वारा ही नौ संख्या की कल्पना से स्वरूपासिद्धि दोष देकर खंडन करना, वाकछल है। ऐसे २ और भी वाकछल के उदाहरण इसी भांति जान लेने, विस्तार के भय से नहीं लिखे ५३ ॥ ॥

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भ-तार्थकल्पनासामान्यच्छलम् ५४ ॥

क्रम से प्राप्त सामान्यछल का लक्षण करते हैं, सामान्यरूप से प्रायशः देख पदार्थ का अभिप्राय लेकर कहे वाक्य का बड़े अन्वेषण (ढूंढने) से किसी एक स्थान में व्यभिचार दे के खंडन करना, सामान्यछल कहाता है; यथा किसी ने अनुमान किया, यह मनुष्य विद्वान है, जिस से यह ब्राह्मण है; इस (अनुमानकरनेवाले) का यह अभिप्राय है प्रायशः ब्राह्मण विद्वान होते हैं; तो यहभी ब्राह्मण है, इससे विद्वान होगा; इस अनुमान का खंडन ऐं करना, कि ब्राह्मण तो कल्ह का दूध पीनेवाला बालक भी है, वह, कहां विद्वान है; अर्थात् इस व्यभिचार दोष से तुमारा अनुमान दुष्ट है; इस बड़ल अन्वेषण से किसी एक स्थान में दोष देकर खंडन करने को सामान्यछल कहते हैं; इसी भांति और भी सामान्यछल के उदाहरण बहुत जानलेने; केवल ग्रंथ के विस्तार से भय कर के एकही उदाहरण लिखा है, और नहीं लिखे ५४ ॥ ❊ ❊ ॥ ❊

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भाव प्रतिषेधउपचारच्छलम् ५५ ॥

क्रम से प्राप्त उपचार छल का लक्षण करते हैं, अर्थ के साथ शब्द के संबंध (शक्ति अथवा लक्षणा) को धर्म कहते हैं; और धर्म के विकल्प (विरुद्धकल्पना) का निर्देश (कथन) करने पर अर्थ (वक्ता के कहे) का प्रतिषेध (खंडन) उपचारछल कहाता है; अर्थात् शक्ति और लक्षणा इन दोनों में से कि

सी एक संबंध के अभिप्राय से कहे वाक्यका दूसरे संबंध को लेकरखंडन करना, उपचारछल है; यथा किसी ने लक्षणाशक्ति के द्वारा कहा, मंच (मंचोंपरबैठेमनुष्य) बोलते हैं; इस वाक्य का शक्ति (अभिधा) केद्वारा खंडन करना, कि मंच जड़ भी कहीं बोल सकते हैं; इसी भांति लक्षणाशक्ति से किसी ने कहा, कि द्रव्य नील (नीलरूपवाला) है, इस का अभिधाशक्ति से खंडन करना; कि द्रव्य (द्रव्य) कभी नील (रूपगुण) होसकता है; ऐसे ही अभिधाशक्ति से किसीने कहा, मैं (जीवात्मा) नित्य हूं, इस का लक्षणा से खंडन करना, कि अमुक से उपजा हुआ मेरा (मेराशरीर) कहां नित्य है; परंतछल से केवल अपने पक्ष की ही हानिहोती है, शत्रु के पक्ष में कुछ न्यूनता नहीं आती; इस से छल असत (दुष्ट) उत्तर है इस पर बहुत लोग यह भी आशंका करते हैं, कि यह छल का उत्तर वहां ही बन सकता है; जहां वादी श्लिष्ट (जिस के दो अर्थ हो सकें) अथवा लाक्षणिक (लक्षणाशक्ति से जो इस के अर्थ को जनासके) पद का प्रयोग (कथन) करे; अर्थात् वहां वक्ता का ही दोष है, जिसने ऐसा शब्द कहा, कि जो दो अर्थों के जनाने से संदेह करादे; जो उत्तर देने वाले का कोई दोषनहीं है, अतः छल को दुष्ट उत्तर क्यों कर कहते हैं; इस का उत्तर यह है, कि दोनों अर्थों के जनाने में समर्थ शब्द का उन (दो अर्थों) में से किसी एक अर्थ के तात्पर्य से कहने पर वक्ताका कोई अपराध नहीं है; किंतु वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध दूसरे अर्थ की कल्पना करके खंडन करने से प्रतिवादी का ही दोष होने से छल असत (दुष्ट) उत्तरहोहै; क्योंकि यदि ऐसे खंडन

प्रमाण होने लगें, तो जब किसी ने संस्कृत में कहा, कि 'पर्वतोवह्निमान्' इस का खंडन यह प्रकार अपनी ओर से निकाल के क्यों न हो जावे; कि पर्वतों में मनुष्योंके रहने से अग्नि प्रत्यक्ष से ही देखने में आता है, इनः तम कैसे कहते हो, पर्वत अवह्निमान (वह्निवाला नहीं) है; अर्थात् इसीभांति सब अनुमानों में कुछ अपनीओर से कल्पना करके खंडन करदेंगे, जगत से अनुमान नामी प्रमाण ही उठ जावेगा, इस से निश्चिन्तरहो, कि छल दुष्ट उत्तर है ५५ ॥ ❊ ❊ ॥

वाक्छलमेवोपचारछलंतद्विशेषात् ५६

प्रसंग संगति से छलकी परीक्षा करने के अर्थ पहिले पूर्वपक्ष (आशंका) करते हैं; शब्द के विरुद्ध अर्थ की कल्पना दोनों में अविशेष (एकसी होने) से वाक्छल और उपचारछल एक ही हैं; अर्थात् छल दो ही हैं, तीन नहीं हैं; ५६ ॥ ❊

नानर्थान्तरभावात् ५७ ॥

उत्तर यह है, अनेक प्रमाणों से वाक्छल और उपचारछल का परस्पर भेदसिद्ध करने पर भी किसी साधारण धर्म से अभेद मानने लगें, तो जगत् के सब पदार्थों को एक ही मानना योग्य है, क्योंकि वाच्यत्व आदि साधारण धर्मों से सब का अभेदसिद्ध होसकता है; ५७ ॥ ❊ ❊ ॥

अविशेषेवाकिञ्चित्साधर्म्यादेकछलप्रसङ्गः ५८

यदि किसी साधारण धर्म से अभेद मानके भी दो छलमानने का ही हठ करो तो छलत्व धर्म से अभेद मान के एक ही छल कहो, दो मानने की क्या अपेक्षा है; सिद्धांत यह जानना, कि वाक्छल में जिस (अभिधा) शक्तिको लेकर

वक्ता प्रयोग करे, छल वादी उसी शक्ति से अन्य (विरुद्ध) अर्थकी कल्पना करके दोष देते हैं; और उपचारछलमें वक्ता जिस शक्ति से प्रयोग करे, उससे सविरुद्ध शक्ति के द्वारा अन्यअर्थ की कल्पनासे दोष देते हैं; इसी अंतर से वाकछल और उपचारछल दृथक २ हैं; एकनहीं हैं, अर्थात् छल तीन ही हैं, दोनहीं हैं ९८ ॥ ❊ ॥

इतिविश्वनाथपंचाननकीबनाईन्यायसूत्रवृत्तिके १० वें छल प्रकरणका पं. सत्यदयालकाबनायाहिंदीमे अनुवाद समाप्तहुआ ॥ ❊ ॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यांप्रत्यवस्थानंजातिः २९ ॥

क्रम से प्राप्त जातिनामी असत् उत्तरका वर्णन करते हैं, साधर्म्य और वैधर्म्य का साधारण (और सब की अपेक्षा-त्याग के स्वतंत्र) रूप से निवेश कियाहै; तो यह अर्थ प्रतीत हुआ, कि व्याप्ति आदि सब नियमों की अपेक्षा त्यागके केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से दूषण देना, जाति कहाता है; साधर्म्य और वैधर्म्य इन दोनों से दोष देना जाति कहें, तो केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से दोष देने को जाति न कहो, और यदि केवल साधर्म्य से दोष देने को जाति कहें, तो केवल वैधर्म्य से दोषदेने को जाति न कहो; इसीरीति केवल वैधर्म्य से दोषदेने को ही जाति कहें, तो केवलसाधर्म्य से दोषदेने में अव्याप्ति दोष लगेगा; किंतु यही सिद्धांत जानना, कि व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से दोष देना ही जाति है; इस विचार से यह जानना, कि यह जाति (उत्कृष्टउत्तर) दूसरे पक्ष की हानि कुछ नहीं कर सकती वरुक अपने पक्ष की हानि करती है; अर्थात् छल और निग्रहस्थानसे अन्य दूसरे पक्ष में दोष देने को असमर्थ, अपने पक्ष का खंडन करने में समर्थ उत्कृष्ट उत्तर जाति होताहै; यह जाति साधर्म्यसम आदि के भेद से चौवीसप्रकारकी आगे पांचवें अध्याय में दिखाई जावेगी २९ ॥

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्चनिग्रहस्थानम् ३० ॥

क्रम से प्राप्त निग्रहस्थान का लक्षण करते हैं, विप्रतिपत्ति (किसीके कहे को विरुद्धरीति से जानना) और अप्रतिपत्ति

(कहे पर भी कुछ नहीं जानना) इन दोनों को निग्रहस्थान (पराजय कास्थान) कहतेहैं; इस पर यह आशंका है, कि अन्यपुरुष के विरुद्धज्ञान, और अज्ञान का प्रत्यक्ष से जानना सर्वथा असंभव के तुल्य है; और प्रतिज्ञाहानि आदि विरुद्ध ज्ञान भी नहीं और अज्ञान भी नहीं, इस से ये निग्रहस्थानों के अंतर्गत नहोवें; तौभी विरुद्धज्ञान, और अज्ञान के बोधक धर्म जिनमें रहें, उन्हें निग्रहस्थान कहतेहैं; यहनिग्रहस्थान प्रतिज्ञाहानि आदि के भेद से बाईस प्रकारकाहै ॥ ८ ॥

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ९१॥

जाति और निग्रहस्थानों के अवांतर भेद नहीं हैं, इस भ्रम को हर करने के अर्थ कहाहै; कि साधर्म्य आदि से बहुत दोष देसकते हैं, और विरुद्धज्ञान वा अज्ञान के बोधक धर्म भी बहुत हैं; इस से जाति और निग्रहस्थान भी बहुतही जानने; परंतु प्रमाण आदि पदार्थों की परीक्षा जानने के अर्थ अपनी इच्छाको जब शिष्यों ने प्रगट किया, तौइसी शोक से यहां जाति और निग्रहस्थानों के विशेष विभाग यहां नहीं दिखाए ९१ ॥ जाति और निग्रहस्थान नामी हेत्व-दोषोंके लक्षणों का ९ वां प्रकरण समाप्त हुआ । पहिले अध्यायका दूसरा आह्निक समाप्त हुआ २ ॥ इतिश्री-विश्वनाथभट्टाचार्यकीन्यायसूत्रवृत्ति के १ ले अध्यायका हिंदीमें अनुवाद समाप्त हुआ ॥ ❊ ❊ ॥

द्वितीयअध्याय· अवतरणिका

विद्वानों में भलीभांति परीक्षा करके देखे हुए प्रत्यक्ष,अनुमान,उपमान और शब्द नामी चारभुजाओं से प्रकाशमान सब दोषों के हरने से हरि (विष्णुरूप) हमारे अध्याय की सेवा (आरंभ) करता हूं । प्रमाण आदिसोलह पदार्थों के लक्षण तो प्रथम अध्याय में कह दिये हैं, परंतु अब इन प्रत्येककी परीक्षा (इसका यह लक्षण हो सकता है, वा नहीं यह विचार) करने के समय संशय पदार्थ का सिद्धांत जानने से विना किसी पदार्थ की भी परीक्षा नहीं हो सकती, इस से आदिमें संशय की परीक्षा करते हैं; प्रमाण आदि प्रत्येक पदार्थ की परीक्षा में संशय का निरूपण करने की अपेक्षा से आदि में संशय की परीक्षा करने में बहुत लाघव जान के संशय की परीक्षा का जिनमें प्रयोजन पड़े (शिष्यों की जिज्ञासा के अनुसार) ऐसी प्रमाण आदि पदार्थों की परीक्षा दी हुसरे अध्याय का प्रयोजन है; वास्तव सिद्धांत यह जानना कि पहिले अध्याय के अंत में छल की परीक्षा हो चुकी है, और तीसरे चौथे अध्याय में प्रमेय की और पांचवें अध्याय में जाति की परीक्षा करेंगे; इसलिये छल, प्रमेय, जाति से इतर सब पदार्थों की परीक्षा इस दूसरे अध्याय का प्रयोजन है; इन्हीं पदार्थों की परीक्षा में प्रयोजन आदि पदार्थों की परीक्षा का प्रकार भी दिखायाजावेगा ॥ और इस (द्वितीय अध्याय के प्रथम आह्निक में विशेष विभाग जानने से अनंतर होने योग्य प्रमाणों की (न्यूनअधिक

संख्याका विचार) परीक्षा से भिन्न अंगों सहित प्रमाण पदार्थ की परीक्षा कीई जावेगी; इस आह्निक में नौ प्रकरण हैं, इन नवों मे से आदि में संशय पदार्थ की परीक्षा का प्रकरण है; इसप्रकरण में सात सूत्र हैं, और आगे जो २ आवेंगे उनके नाम वहां ही दिखा दिये जायेंगे; इस अवतरणिका से सिद्धहुआ, सब से आदि में कहे प्रमाण पदार्थ की परीक्षा को त्याग के तीसरे संशय पदार्थ की परीक्षा करने से व्युत्क्रम दोष यदि कोई देवे, तो असत्य जानना, क्यों कि परीक्षा के द्वारा संशय पदार्थ के जानने विना किसी पदार्थ की भी परीक्षा नहीं हो सकती; इस से निरूपण सूत्र में यद्यपि संशय तीसरा है; परंतु परीक्षा के अध्याय में सब पदार्थों से प्रथम संशय की परीक्षा करके पुनः क्रम से प्रमाण आदिकी परीक्षा करेंगे; यह (दूसरे अध्यायकी) अवतरणिका है ॥

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्धिव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः १ ॥

साधारण (दोनों कोटिओं में वर्तमान) धर्म के ज्ञान से संशय नहीं कह सकते, क्यों कि विरुद्ध (दो कोटिओं में से केवल एकमें रहे) धर्म के ज्ञान से संशय न होवे, और यदि विरुद्ध धर्म के ज्ञान सेही संशय मानो, तो केवल साधारणधर्म के ज्ञान से संशय नहोवे: और यदि ऐसा कहो, कि साधारण धर्म के ज्ञान से अथवा विरुद्ध धर्मके ज्ञान से संशय होता है; तो स्थाणु (लकडी का ठुमा) के

धर्म की नांई धर्म इस में है; यह ज्ञान के पेसा संदेह होजावे, कि यह स्थाणु है वा नहीं, क्योंकि ऊपर कहे दोनोंमें से साधारणधर्मका ज्ञान रह गया; जैसेऐसे स्थल में संशय होता कभी नहीं, क्योंकि तुल्य उसे कहते हैं, जो उससे भिन्न जो र उसके धर्मवाला होवे; तो उक्त उदाहरण में तुल्य पद का निवेश होने से भेदका ही निश्चय हो जावेगा, अर्थात् एककोटिका निश्चय होने से संशय का होनाही असंभव है; अथवा समानानेकधर्मोपपत्तेः इत्यादिलक्षणसूत्र में उपपत्तिपदका अर्थ स्वरूपहै यह किसीका भ्रम है, अर्थात् साधारण धर्म वा विरुद्धधर्म स्वरूप से वर्तमान हो के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि प्रमेयत्व आदि साधारण धर्म के रहने से सबस्थानों में संशय ही होता जावे, किंतु साधारण धर्म आदि कोंके ज्ञान ही कारण मानने पड़ेंगे इस पर कोईलोग यह आशंका करते हैं, कि संशय की परीक्षा में सूत्रकार ने संशय नहीं दिखाया; तो प्रतीत हुआ, कि अनवस्था के भय से संशय की परीक्षा में संशय नहीं अंग है; परंतु यह बात असत्य जाननी, क्योंकि यहां हम संशय के स्वरूप की परीक्षा (यह संशय है, वा नहीं) नहीं करते कि अनवस्था दोष लगे, किंतु यहां हम लक्षण सूत्र में कहे (संशयके) कारणों की परीक्षा करते हैं, इस में साधारण धर्म आदि के ज्ञान संशय के कारण हैं, अथवा नहीं, यह संशय उत्पन्न हो ही जावेगा; परंतु सूत्रकार (गौतम) को ज्ञानकेवल से प्रथम ही निश्चय होरहा है, केवल अन्य पुरुषों की आशंका का हर करना ही

यदि संशयकी कारणमानी जावे, तो अव्यवस्था (सामान्य संशय) का कारण ज्ञानत्व आदि साधारण धर्म का ज्ञान सब स्थान में निरंतर होने से सदाही सब स्थानमें अव्यवस्था से संशय होताहै, और यदि साधारण धर्म का ज्ञान हो भी परंतु किसी अन्य कारण के विलंब से अव्यवस्थामें विलंब मानें, तो वही अन्य कारण विषय के संशय का भी कारण मानलिया जावेगा; सामान्य संशय और साधारण धर्म के ज्ञान आदि को विषय के संशय की कारणता माननी सर्वथा युक्ति से विरुद्धप्रतीत होती है २॥

यथोक्ताध्यवसायादेवतद्विशेषापेक्षात्तत्प्रत्ययोपपत्तेर्नासंशयोनात्यंतसंशयोवा ९ ॥

अब संशय के विषय में सिद्धांत कहते हैं, यथोक्त (लक्षण सूत्र में कहे) अध्यवसाय (साधारणधर्म आदि के ज्ञान) से तद्विशेष (पुरुषत्व, पुरुषत्वाभाव, आदिकोटि) के इत (प्रत्यक्ष) के उपगत (नहोने) पर संशय का स्वीकार करें; तो कोई दोष नहीं, अर्थात् विशेष (दोकोटि में से किसी एक) का दर्शन (निश्चय) नहोने पर साधारणधर्म आदि के ज्ञान से संशय मानें तो कारण के न होने से संशय का अभाव (नहोना) भी नहीं कह सकते, और किसी एककारण को लेके अत्यंत संशय (संशय की निवृत्तिकभी न होनी) नहीं कह सकते; साधारणधर्म ज्ञान आदि प्रत्येक सारे संशयोंके कारण नहीं हैं, किंतु साधारणधर्म के ज्ञान से अव्यवहित उत्तरक्षण में जो संशय उत्पन्न होवे, उस का कारण साधारण धर्म का

ज्ञान है, इसी भांति विरुद्ध धर्म, विप्रतिपत्ति, अव्यवस्था, इन में से जिस के ज्ञान से अव्यवहित उत्तरकाल में जो संशय उत्पन्न होवे, उसी का ज्ञान उस संशय का कारण जानना; इस से सब संशयों के कारण साधारणधर्म आदि के ज्ञान मानने से जो परस्पर अभिचार दिया था, वह दूर होगया; विप्रतिपत्ति (विचार) के समय वादी और प्रतिवादी की विप्रतिपत्ति से मध्यस्थ को ही संदेह जाना है, और जो कहा है, कि समान धर्म के ज्ञानसे संशय कैसे कहते हो, क्योंकि समानशब्द के अर्थ में भेदका निर्देश होने से भेद का ही निश्चय होजावेगा; इसका उत्तर यह है, कि समान धर्म का ज्ञान संशय का कारण नहीं है, किंतु यह धर्म इन दोनों कोटिओं में रहता है, ऐसा उभय सहचरित ज्ञान अर्थात् दोनों में रहने का ज्ञान संशय का कारण है; सिद्धांत यह हुआ, कि जो धर्म दोनों विरुद्ध कोटिओं में रहे, ऐसे धर्म के ज्ञानसे संदेह होता है, कि उक्त दो कोटिओं में से यह कौनसी है, अथवा कौनसी नहीं; परंतु यह स्मरण रहे, कि ये सब (साधारण धर्म आदिके ज्ञान) कारण विशेषादर्शन (विरुद्धदो कोटिओं में से किसीएक कोभीनिश्चयनहोना) की सहायता से विना कभी संशय कोनहीं उपजा सकते; किंतु विशेषादर्शन होने पर ही ये कारण प्रत्येक संशय को उपजा सकता है ९ ॥ ❋ ❋ ॥

तो सिद्ध हुआ, कि प्रमाण से पहिले ही प्रमा हो चुकी थी, परंतु प्रमा (यथार्थज्ञान) अवश्य किसी पदार्थ की ही होगी; अर्थात् प्रमाणों की उत्पत्ति से पहिले ही प्रमेयों का ज्ञान हो गया, तो यह कथन (प्रमाणों से प्रमेयों का ज्ञान और सिद्धि होती है) सब रीति असंगत हो जावेगा १० ॥ ❊

युगपत्सिद्धेः प्रत्यर्थनियतत्वात्क्रम
हानित्वाभावो बुद्धीनाम् ११ ॥

यह नौवां और दसवां सूत्र अनुमान आदि प्रमाणों के खंडन के अर्थ लिखे जानने; क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमा के वर्तमान काल और उत्तर काल में चक्षु श्रोत्र आदि प्रत्यक्ष प्रमाणों के होने को इष्ट मान के आशंका ही नहीं हो सकती; सूत्र का अर्थ यूं करना, प्रमाण और प्रमा की उत्पत्ति इक ही एक क्षण में यदि मानी जावे, तो उन २ विषयों के ज्ञान जो क्रम २ से माने हैं; इकट्ठे नहीं मानें, यह नियम टूट जावेगा; यथाशब्द प्रमाण (पदज्ञान) पद के श्रोत्र प्रत्यक्ष का नाम है, और शाब्दी प्रमा पदार्थों का एक परोक्ष (प्रत्यक्ष से भिन्न) ज्ञान है; तो प्रमाण और प्रमा का इकट्ठे मानना, विजातीय दो ज्ञानों का इकट्ठे मानना है; परंतु मनको अणु मानने से सिद्ध हो चुका है; कि दो ज्ञान इकट्ठे एक क्षण में कभी नहीं उपज सकते, और जब प्रमाण कारण और प्रमा कार्य तो अवश्य प्रथम क्षण में कारण (प्रमाण) उत्पन्न हो के उत्तर क्षण में अपने कार्य (प्रमा) को उपजावेगा; अर्थात् इस कार्यकारण भाव के विरोध से भी प्रमाण, प्रमा, ये दोनों इकट्ठे कभी नहीं उपज सकते और यह भी नहीं

कह सकते कि ज्ञान का एक अंश परोक्ष और दूसरा अंश अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है; क्योंकि ऐसा ज्ञान मानने से संकर दोष लगेगा; यथा प्रत्यक्षत्व से शून्य शाब्द बोध में शाब्दत्व है, और शाब्दत्व से शून्य प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व है; ये (प्रत्यक्षत्व, शाब्दत्व) दोनों धर्म उक्त ज्ञान में रह गये; अर्थात् उक्त ज्ञान के एक अंश में प्रत्यक्षत्व और दूसरे अंश में शाब्दत्व है; इसी भांति अनुमान प्रमाण व्याप्तिज्ञान तो स्मरण रूप है, और अनुमिति अनुभव रूप है; परंतु अनुभव और स्मरण इन दोनों की इकट्ठी एकक्षण में उत्पत्ति होनी सर्वथा असंभव के तुल्य है; कोई लोग इस सूत्र का अर्थ यूं करते हैं, कि प्रमाण और प्रमेय इन दोनों का ज्ञान इकट्ठा नहीं हो सकता; क्योंकि पदार्थों के भेद से ज्ञानोंका भी भेद होता है, प्रमाण, प्रमेयका इकट्ठा ज्ञानमानें, यह भेद नहोवे, यथा प्रत्यक्ष प्रमाण चक्षु आदिकाज्ञान अनुमिति रूप होताहै; और प्रमेय पर्वत आदिका ज्ञान प्रत्यक्षरूप है; परंतु प्रत्यक्ष और अनुमिति येदोनों इकट्ठे कभी नहीं उपज सकते ११ ॥

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः १२ ॥

यह सिद्धांत सूत्र है, यदि तीनों (भूत, भविष्य, वर्त्तमान) की असिद्धि को लेकर प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि न मानी जावे, तो इसी रीति से अर्थात् तीनों कालों की असिद्धि से ही तुमारा कहा प्रतिषेध (खंडन) भी अनुपपन्न (युक्तिसेवाहर) होजावे; अर्थात् तुमारा यह जाति (असत्) उत्तर है, १२ ॥

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः १३ ॥

और यदि सब प्रमाणों का प्रतिषेध (खंडन) करते हो, तोयह

खंडन किस प्रमाण से सिद्ध होगा; अर्थात् सब प्रमाणों का खंडन करने से तुमारा कहा खंडन भी अप्रमाण (असिद्ध) हो जावेगा; तो किस रीति खंडन किया है, १३ ॥ ❊

तन्प्रामाण्येवानसर्वप्रमाणविप्रतिषेधः १४

और यदि निषेध का साधक कोई एक प्रमाण मान लिया जावे, तो (सब प्रमाणों का खंडन) यह कथन सर्वथा असंगत है; क्योंकि वही (निषेधकासाधक) प्रमाण जब तुमने मान लिया; तो सब प्रमाणों का निषेध कैसे कहोगे। और यदि वादी कहे, कि खंडन की सिद्धि क्या मेरे मत में किसी पदार्थ की भी सिद्धि नहीं अपेक्षित है; जिससे विश्व के सारे पदार्थ शून्य (अभाव) रूप हैं, प्रमाण, प्रमेय, का व्यवहार भी यथार्थ नहीं, किंतु कल्पना मात्र है; और तुमारे (औत्तमके) मतसे तीनों कालोंकी असिद्धि कहही दी है; इसका उद्धारकरतेहैं १४ ॥ ❊ ❊ ॥

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्चप्रसङ्गादतो
ग्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः १५ ॥

तीन कालों में से एक में भी प्रमाण से प्रमाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसका उत्तर देते हैं; यथा नियम से मृदंग आदि वाद्यों से अनंतर (पीछेसे) होने वाले शब्द से मृदंग आदि वाद्यों की सिद्धि (यथार्थ अनुमिति) होती है; और जैसे पहिले उपजे हुए सूर्य से (अनंतर होनेवाली) वस्तुओं का प्रकाश (प्रत्यक्ष) होता है; और जैसे वह्नि के समकाल में वर्तमान धूम हेतु से अग्नि की यथार्थ अनुमिति होती है; इसी भांति प्रकृत में तुमारी यह प्रमा सब स्थान में प्रमाण से अनंतर

(पीछेसे) ही उत्पन्न होती है, चक्षु आदि प्रमाण अपने कार्य प्रमा से प्रथम अवश्य रहते ही हैं; प्रमा की उत्पत्ति से पहिले इन (प्रत्यक्षआदि) प्रमाणों में प्रमा की विशिष्टता (करणता) नहीं मानते हैं, जैसे कोई मनुष्य पाक (रसोई) करता है, पुनः जब वह रसोई करने से निवृत्त होके अन्य कार्य भी करने लगे; तौभी उसे पाचक (रसोइया) कहते हैं; इसी भांति जो एकवार भी किसी प्रमा का करण होजावे, पुनः जिस समय प्रमा के उपजानें में नहीं प्रवृत्त हो, तौभी उसी एक प्रमाके संबंध से सदा ही उसे प्रमाण कहेंगे; यह भाव है। तत्त्वालोकग्रंथमें लिखाहै, चक्षुकभाष्यका पाठ है, सूत्रनहीं; परंतटीकादेखनेसेसूत्रहीप्रतीतहोताहै ९९ ॥

प्रमेयताचक्षुलाप्रमाणत्वम् ९९ ॥

यदि ऐसी आशंका वादी करे, कि रज्जु में सर्प के अयथार्थ ज्ञान की नांई प्रमाण, प्रमेय का व्यवहार भी अनियत होने से अयथार्थ ही है; यथार्थ नहीं है; इस का उत्तर यह है, कि सुवर्ण आदि पदार्थों का गुरुत्व मापने से तुला (तराजू) प्रमाण कहाती है; और किसी अन्य यंत्र (तराजू) से उस तुला को यदि तोलें, तो वही तुला प्रमेय भी कहाती है; इसीभांति घट आदि पदार्थों के जनाने से चक्षु आदि प्रमाण कहाते हैं, और कियात्व हेतु से रूप आदिके ज्ञान में करण की अनुमिति के विषय होने से चक्षु आदि प्रमेय भी कहाते हैं। अर्थात् उक्त दोनों निमित्तों के बल से इंद्रिय आदि कों में ये (प्रमाण, प्रमेय) दोनों व्यवहार होते हैं; अथवा प्रथम जो कह आए हैं, कि प्रमा के संबंधसे

ही पदार्थ प्रमाण और प्रमेय कहा सकता है; इसका उत्तर इस सूत्र में दियाहै, कि जैसे कभी एक वार गुरुत्व के मापने से तुला प्रमाण कहाती है; इसी भांति प्रकृत में कभी एकवार प्रमा का करण होने से चक्षु आदि प्रमाण कहाते हैं; और कभी एकवार प्रमा के विषय होनेसे घट आदि पदार्थ प्रमेय कहाते हैं; अर्थात् कभी एकवार भी प्रमा कासंबंध होजाने से प्रमाण, प्रमेय व्यवहार होजाता है; सर्वदा प्रमा के संबंध की कुछअपेक्षा नहीं है १६ ॥ ❖ ❖ ॥

प्रमाणतस्सिद्धेः प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः १७ ॥

अनवस्था-दोष देने के अर्थ यह १७ वां सूत्र कहा है, कि प्रमाणों की सिद्धि यदि किसी प्रमाण से मानी जावे, तो अनवस्था-दोष लगेगा; यथा प्रथम प्रमाण की सिद्धि यदि अन्य से ही मानीजावे, तो आत्माश्रय दोष लगेगा; इस से एक की सिद्धि के अर्थ दूसरा प्रमाण अवश्य मानना पड़ेगा; पुनः इन दोनों की सिद्धि यदि परस्पर मानी जावे, तो अन्योन्याश्रय दोष लगेगा, इससे एकतीसरा प्रमाण मानो; इसी रीति चौथा पांचवां आदि मानने से अनवस्था-दोषलगता है १७ ॥

नहिनिह्नवेवाप्रमाणान्तरसिद्धिवत्तत्सिद्धिः १८

और यदि कोई कहे, कि प्रमाणों की सिद्धि प्रमाण से विना ही होजाती है, तो इसका उत्तर देते हैं; यदि प्रमाण से विना ही प्रमाणों की सिद्धि मानो, तो इसी रीति प्रमाणों से विना ही प्रमेयों की सिद्धि भी मानलीजावेगी; पुनः प्रमाण नामी पदार्थ का मानना ही व्यर्थ है, अर्थात् प्रमाण से विना कि-

सी पदार्थ की भी व्यवस्था न बंधने से सारा जगत शून्य (अभाव) रूप मानके शून्यतावादी नास्तिक का मत ही प्रधान होने योग्य होजावेगा; सिद्धांत वैदिक मत की रीति कहीं नहीं रहे गी ९८ ॥ ❖ ❖ ॥

नप्रदीपप्रकाशवत्तत्सिद्धेः ९९ ॥

सिद्धांत दिखाते हैं, कि जैसे प्रदीप के प्रकाश से घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है, इसीभांति प्रमाणों से प्रमेयों का यथार्थ ज्ञान होता है; नहीं तो घट आदि का प्रकाशक प्रदीप और प्रदीप का प्रकाशक चक्षु और चक्षु का प्रकाशक (बोधक) कोई अन्य इत्यादि अनवस्थाके भय से दीप भी घट का प्रकाशक नहोवे; और यदि घट के प्रत्यक्ष में दीप के प्रकाश को (चक्षुआदि) की अपेक्षा न रखने से अनवस्था रद्द दो-तो प्रकृत में भी प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि करने में प्रमाण की सिद्धि अपेक्षित न होने से अनवस्था दूर होजावेगी; यदि प्रमाण की सिद्धि भी अपेक्षित हो, और उस की सिद्धि के अर्थ अन्य प्रमाण की अपेक्षा पड़े; तोभी वह अनुमान आदि प्रमाण चारके अंतर्गत ही है, कोई विजातीय प्रमाण नहीं मानना पड़ता; और अनवस्थाभी नहीं लगती; क्योंकि सर्वस्थान में प्रमाणों की सिद्धि नहीं करनी पड़ती; बीजांकुरकीनाईं कहीं अपेक्षा भी सहायक होती है; और इससूत्र का अर्थ कोई यूं कहते हैं अन्य दीप की अपेक्षा त्याग के एक दीप जैसे स्वतंत्र प्रकाशकरता है; ऐसे ही अन्य प्रमाण की अपेक्षा त्याग के एक प्रमाण प्रमेयों का प्रकाश (बोध) कराता है, इस परमाकार ने कहा है; कि यह कथन आपका दृष्टांत नहीं प्रतीत

होना, क्योंकि दीप आदि तो प्रकाश करने में अन्य हेतु (सूर्यआदि) की अपेक्षा नहीं रखते, बरुक सूर्य आदि के आने से ये (दीपआदि) प्रकाश ही नहीं कर सकते; और कोई घट आदि अन्य प्रमाण (सूर्यआदि) की सहायता सेही प्रकाश (प्रमेय) करते हैं; अर्थात् आलोक से विना घट आदिका प्रमेय कभी नहीं होता; तो इस अवस्था से आपका कथन खंडित हो गया। अर्थात् दीप का दृष्टांत देकर आप अन्य प्रमाण की अपेक्षा के अभाव की सिद्धिकरते हैं; तो घट का दृष्टांत देकर अन्य प्रमाण की अपेक्षा को ही क्यों नहीं सिद्ध करते, किंतु आप का यह उत्तर दृष्टांतसमानामी जाति के अंतर्गत होने से दुष्ट है। पहिले अर्थ में व्यभिचार का उद्धार भाष्यकारने ही कियाहै, कि व्याप्यपदार्थमात्र सहित हेतु से साध्य की सिद्धि करने पर अग्नि आदि की अपेक्षात्याग के किसी हेतु से खंडन कभी नहीं होता, ९९ ॥ ❊

इतिश्रीविश्वनाथपंचाननकी बनाई न्यायसूत्रवृत्तिके १२ वें प्रमाणोंकीसामान्य परीक्षाके प्रकरणका हिंदीमेंअनुवादसमाप्तहुआ ॥ ❊ ❊ ❊

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् २० ॥

प्रमाणों की सामान्य परीक्षा करके विशेष परीक्षाकरने के अवसर में सब से पहिले कहे प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा ही आदि में करनी योग्य है; परंतु फल (प्रमा) का लक्षणकरके उसी से प्रत्यक्ष-प्रमाण का लक्षण निकास के दिखाया है; इसी से प्रत्यक्ष प्रमा के लक्षण पर आक्षेप (आशंका) पहिले करते हैं, कि प्रत्यक्ष (प्रमा) का लक्षण जो पीछे कह आए हैं, (पदार्थ के साथ इंद्रियों के संबंध से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं) यह सर्वथा अयुक्त है; क्यों कि यह लक्षण संपूर्ण रूप से नहीं कहा, किंतु कई विशेषण इसके कहने रहगये, तात्पर्य यह है, कारणों के द्वारा ही उक्त लक्षण आपने निकास लिया है; इससे कारणों की संपूर्ण सामग्री का निवेश करनीयोग्य है, परंतु उक्त लक्षण में केवल एक कारण (इंद्रियार्थसन्निकर्ष) का ही निवेश आपने किया है; आत्मा के साथ मनका संयोग, इंद्रिय के साथमन का संयोग, इत्यादि कारणों का निवेश नहीं किया; अर्थात् इंद्रिय (मन) के साथ विषय (आत्मा) के संयोग से जन्य (उपजेहुए) अनुमितिआदि ज्ञानों में लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति दोष लगता है २० ॥

नात्ममनसोःसन्निकर्षाभावेप्रत्यक्षोत्पत्तिः २१

आत्मा के साथ मन का संयोग तो प्रत्यक्ष (प्रमा) का कारण ही नहीं है, इस आशंका का उत्तर करते हैं; शरीर के द्वारा आत्मा के साथ मन का संयोग न होवे तो प्रत्यक्ष कभी नहीं उत्पन्न होता; इससे आत्ममनः संयोग को अवश्य कारणता माननी पड़ेगी, प्रत्यक्ष का ही केवल क्याकथन है; आत्मा के

साथ मनका संयोग न हो, तो किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं उत्पन्न नहीं होता २१ ॥ ❖ ❖ ❖

दिग्देशकालाकाशेष्वेवंप्रसङ्गः २२ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि आत्माकी नाईं आकाश, काल, दिक् इन सब विभुओं का संयोग अवश्य ही मन के साथ बना रहता है; तो काल आदि विभुओं का संयोग भी प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों का कारण अवश्य मानना योग्य है; और यदि आकाश आदि विभुओं के संयोग को अन्यथासिद्ध मान के कारणता का खंडन करो, तो मन के साथ आत्मा का संयोग भी अन्यथासिद्ध ही हो जावे, कारण मानना योग्य नहीं है; अर्थात् पूर्वोक्त खंडन तुमारा सर्वथा अयुक्त प्रतीत होता है २२ ॥

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनोनानवस्थाः २३ ॥

इस का उत्तर यह है, कि सब ज्ञान आत्मा के विशेष गुण हैं; इस से ज्ञान आदि का समवायिकारण आत्मा अवश्य करना पड़ेगा, क्यों कि विना समवायिकारण के कभी कोई भाव कार्य उत्पन्न नहीं होसकता; और दिक आदि को ज्ञान के समवायिकारण मानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं प्रतीत होता; इसी से समवायिकारण आत्मा का मन के साथ संयोग ज्ञान आदि विशेषगुणों का असमवायिकारण है; २३ ॥

तद्योगयत्नलिङ्गत्वाच्चमनसः २४ ॥

मन के साथ आत्मा का संयोग ही असमवायिकारण है, शरीर आदि के साथ आत्मा का संयोग नहीं कारण है; इस बात को सिद्ध करने के अर्थ युक्तियों के द्वारा मन को शरीर आदिकों की अपेक्षा मुख्यता की सिद्धि करते हैं; पिछ

ले सूत्र से "नाऽनवरोधः" इतने अक्षर लेकर अर्थ यह करना; इंद्रियों के साथ अपने संयोगके द्वारा एकक्षणमें अनेक ज्ञान न उपजने देने से मनका अनवरोध (त्याग) नहीं, किंतु मन में ज्ञान आदि की कारणता अवश्य माननी योग्यहै; परंतु शरीर के साथ मन का संयोग इस नियम को कभी नहीं बांध सकता; इसलिये आत्मा और मन का संयोग ज्ञान आदिकों का असमवायिकारण अवश्य मानना पड़ेगा २४ ॥

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोःसन्निकर्षस्योपादानम् (क) समवायसंयुक्तसमवायाच्चेन्द्रियार्थयोःसन्निकर्षनिमित्तत्वात् (ख) ॥

सिद्धांत यह है, प्रत्यक्ष के निमित्त (असाधारणकारण) होने से लक्षण सूत्र में इंद्रियार्थ सन्निकर्ष का विशेष कथन किया है; अर्थात् कारणों के कथन की इच्छा से इंद्रियार्थ सन्निकर्ष का नाम नहीं लिखा, कि जिससे अन्य कारणों (आत्ममनःसंयोग आदि) के न लिखने से न्यूनता प्रतीत हो; किंतु प्रत्यक्ष का लक्षण कहने के अभिप्राय से सब कारण सामग्री का लक्षण में प्रवेशकरने से बड़ा गौरव जान कर केवल एक असाधारण कारण (इंद्रियार्थसन्निकर्ष) कोही उत्तम लक्षण जान के लिख दिया है; अर्थात् इंद्रिय और अर्थ के संबंध से उत्पन्न हुए ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं; इतने लक्षण से ही निर्वाह होजावे, तो आत्ममनोयोग आदि का लक्षण में निवेश करना व्यर्थ है; कई ग्रंथकार इसे सूत्र नहीं, किंतु भाष्य ही कहते हैं; क० और सोपस्कृत अर्थात् किसी एक और चित्त को लगाए पुरुषों को मेघ के गर्जन से

अत्यंतमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः २८ ॥

इस पर यह आशंका है, कि यदि अत्यंत नामी कोई एक प्रमाण सिद्ध हो लेवे, तो उसके लक्षण की परीक्षा करनी योग्य है; कि यह लक्षण अत्यंत का यथार्थ बनता है, अथवा नहीं, परंतु अत्यंत नाम का कोई एक प्रमाण नहीं है; किंतु किसी एक अवयव के ज्ञान से सारे अवयवी का ज्ञान होने से अनुमिति को ही अत्यंत संज्ञा से कह दो, परंतु शाखा आदि अवयवों के ज्ञान से वृक्ष आदि अवयवियों का ज्ञान अनुमिति से अन्य कोई अत्यंत नहीं किंतु अनुमिति ही है २८ ॥ ❖ ❖ ❖

नात्यंतेऽनावस्थावदनुपलम्भात् २९ ॥

इस का उत्तर यह है, कि सब अत्यंतों को तुम अनुमिति नहीं कह सकते, जिससे एकदेश (अवयव) का अत्यंत तुमने भी मान ही लिया है; यदि उन के भी अवयवों के ज्ञान (अत्यंत) से ही अवयवों का ज्ञान (अनुमिति) मानो, तो भी अवयवों के अवयवों का अत्यंत मानने से सब अत्यंत का खंडन नहीं हुआ, और द्रव्यों का अत्यंत नहोने से गुण कर्म का अत्यंत न होवे; और यह भी है, रूप, शब्द आदि गुणों वा वृक्षत्व आदि जातियों का एकदेश (अवयव) अप्रसिद्ध होने से इनमें से किसी का भी अत्यंत न होवे; क्योंकि द्रव्य सेविना गुण आदि किसी पदार्थ का भी अवयव वा एकदेश नहीं होसकता २९ ॥ ❖

नचैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ३० ॥

और यदि इंकहे, कि हस्त आदि अवयवों (अंत्यावयवियों) का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, किंतु अनुमिति है; तो यह भी नहीं कह सकते, जिस से अवयवी साक्षात् विद्यमान है; इस लिये अवयवों के साथ चक्षुआदि इंद्रियों का संयोग होने से अवयवी के साथ इंद्रियों का संयोग अवश्य हो जावेगा; क्योंकि कारण के होनेपर कार्य के होने में विलंब कभी नहीं होता, प्रत्युत में कारण (अवयवसंयोग) के होने से कार्य (अवयवी के साथ चक्षुका संयोग) अवश्य हो जावेगा; इसी भांति कारण (अवयवी के साथ इंद्रियसंयोग) के होने से कार्य (अवयवीका प्रत्यक्ष) अवश्य ही हो जावेगा; अर्थात् जब तम अवयवोंका प्रत्यक्ष मानते हो, उस समय कारण सामग्री के रहने से अवयवी के प्रत्यक्ष का कोई प्रतिबंधक नहीं है; किंतु सामग्री के बल से अवयवी का प्रत्यक्ष भी होजाता है; इस लिये प्रत्यक्ष को अनुमिति कहना सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है ३० ॥

इति श्रीविश्वनाथपंचाननकीवकृत न्यायसूत्रवृत्ति में १५ वें प्रत्यक्ष परीक्षा प्रकरणका हिंदी में अनुवाद समाप्त हुआ.

साध्यत्वादवयविनिसन्देहः ३१ ॥

पिछले सूत्र में कहे "अवयविसद्भावात्" इस हेतुकी सिद्धि के अर्थ उपोद्घातसंगति से अवयवि प्रकरण का आरंभ करते हैं; साध्य होने से अर्थात् साध्य की नाईं सिद्धकरनेके योग्य होने से अवयवी (अवयविसद्भावात् इसहेतु) में संदेह है; तो उक्त हेतु संदिग्ध होने से (असिद्ध नामी हेत्वाभास के अंतर्गत होनेसे) अप्रमाण है; संदेह का आकार यह है, कि सब द्रव्य अणु हैं, वानहीं; अथवा स्पर्शवाले सब द्रव्य अणु है, वानहीं; क्योंकि अवयवी का एक भाग कांपता है, और दूसरा भाग नहीं कांपता; अवयवी का एकभाग रक्त होता है, और दूसरा भाग नहीं रक्त किंतु नीलवा पीतहोता है; इसीभांति अवयवी का एक भाग छादन से ढंपाहोता है, तो दूसराभाग नहीं ढंपा होता; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि अवयवी किसी एक पदार्थ का नाम नहीं है; जैसे कि वृक्षकी शाखा जब कांपती हैं, तो मूल नहीं कांपता; अर्थात् कांपना और नकांपना ये दोनों विरुद्धधर्म इकट्ठे एक द्रव्य (वृक्ष) में एक ही समय कभी नहीं रहसकते, किंतु अवयवों का समूह ही अवयवी कहाता है; अवयवों से पृथक् एक अवयवी मानने में कोई प्रमाण नहीं है; इसीरीति चित्रपट के अवयवों में भिन्न भिन्न रूप दीखते हैं, यह बौद्धों का पूर्वपक्ष (खंडन) है; इस पर बौद्धोंके वक्ष्यमाण सूत्र हैं, जो न्यायवार्त्तिक में लिखे हैं, यहां विस्तार के भय से नहीं लिखे ३१ ॥

सर्वग्रहणमवयव्यसिद्धेः ३२ ॥

नैयायिकों का यह सिद्धांत है, कि अवयवों से पृथक् अवयवी यदि नमानें; तो उन (अवयवियों) के गुण (रूपादि), कर्म (कंपनादि) आदि किसी पदार्थ का भी ग्रहण (प्रत्यक्ष) नहीं हो सकेगा; अर्थात् अवयवों (परमाणुओं) में रहने से हमारे कहे (कांपना, नकांपना, रक्तहोना, नीलहोना, आदि) हेतुओं का ज्ञान (प्रत्यक्ष) ही नहीं होसकता, कि जिन से आप अवयवी का खंडन कर सको, क्योंकि प्रत्यक्ष का कारण महत्त्व (महत्परिमाण) है; जो कि परमाणु में कभी नहीं रह सकता, जिससे परमाणुओं में अणु परिमाण रहता है; और अवयवों (परमाणुओं) से पृथक् अवयवी आपने कोई नहीं माना, कि जिस में प्रत्यक्ष का कारण महत्परिमाण रहे; अर्थात् आपने कारण महत्परिमाण के न होने से जगत् में किसी पदार्थ का भी प्रत्यक्ष न होवे, और यदि महत्परिमाण से विना भी प्रत्यक्ष मानो, तो परमाणु और परमाणु के गुणों, कर्मों का भी प्रत्यक्ष अवश्य होवे; इन सब युक्तियों से सिद्ध हुआ, कि अवयवों से पृथक् अवयवी अवश्य मानना योग्य है, जिस का महत्परिमाण के संबंध से प्रत्यक्ष होता है; और परमाणुका प्रत्यक्ष नहीं होता ३२ ॥

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ३३ ॥

इस युक्ति से भी सिद्ध होता है, कि अवयवों से पृथक् अवयवी अवश्य मानना योग्य है; यथा एक भाग के धारण करने से सारा अवयवी धारण किया जाता है, और एक भा-

ग के खेंचने से सारा अवयवी खेंचा जाता है; यदि अवयवों का समूह ही अवयवी मानाजावे, तो एक अवयव के धारण से सारे समूह का धारण और एक अवयव के खेंचने से सारे समूहका खेंचना न होवे ३३ ॥ ❊ ❊

नैनावनवद्ग्रहणमितिचेन्ना तीन्द्रियत्वादणूनाम् ३४ ॥

इसपर दोषों का यह आक्षेप है, कि नाव के खेंचने से जैसे नाव पर धरे सब पदार्थ खेंचे जाते हैं; कुंडे को उठाने से जैसे कुंड में धरे दही आदि पदार्थ भी साथ ही उठाए जाते हैं; इसी भांति अवयवों से पृथक अवयवी न भीमानें, कि लक्षण संयोग के बल से ही उक्तकार्य (उठाना, खेंचना) सिद्ध होजावें, तो अवयव, अवयवी का भेद माननाव्यर्थ है; और पहिले सूत्र पर भी यह आक्षेप है, कि वज्रन हरसे एक मनुष्य का वा एक हस्तका जैसे प्रत्यक्ष नहीं होता, और सेना वा वन का प्रत्यक्ष हो जाता है; ऐसे ही एक परमाणु का प्रत्यक्ष नहो, उन के समूहका प्रत्यक्ष होजावेगा; उत्तर यह है: प्रत्येक मनुष्य में और हस्त में प्रत्यक्षका कारण महत्वरहने से उनके समूह में महत्व भी रहेगा, और उनका प्रत्यक्ष भी अवश्यहोगा; और प्रत्येकपरमाणुमेंजब महत्व नहीं है, तो उनके समूह में महत्वकहां से रहनाया जो उनका प्रत्यक्षहो; इससेअवयवोंसेपृथक अवयवी अवश्य माननायोग्यहै ३४ ॥ ❊ ❊

इतिअवयवीपरीक्षाका ९वां प्रकरणसमाप्तहुआ ९ ॥

शेषोपलब्धिमात्रशेषभ्योव्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ३५ ॥

अवसर संगति से क्रम-प्राप्त अनुमान की परीक्षा के अर्थ पूर्वपक्ष (आशंका) करते हैं; तीन प्रकार का अनुमान पीछे कह आये हैं, उन में से प्रत्येक जब प्रमाण नहीं है, तो अर्थ से ही सिद्ध होगया; कि अनुमान प्रमाण (प्रमा का करण) नहीं है; जिससे अनुमान के सब हेतुओं में व्यभिचार दोष लगता है; यथा पूर्ववत्—कीड़ियों को अंडे लिये भागती देख के वर्षा का अनुमान जोकरते हो, तो जहां किसी मनुष्य ने चींटियों का घर तोड़दिया, वहां हेतु (अंडे लिये चींटियों का भागना) तो है, परंतु साध्य (वर्षा) नहीं है; अर्थात् इस व्यभिचार दोष से पूर्ववत् अनुमान दुष्ट हुआ; इसी भांति शेषवत् नदी के बढ़ने से वृष्टि का अनुमान करते हैं, इस में भी जहां नदी के रोकने से नदी बढ़ती है; वहां हेतु (नदी का बढ़ना) तो है, परंतु साध्य (वर्षा) नहीं है; किंतु इस व्यभिचार दोष से शेषवत् अनुमान भी दुष्ट ही है; ऐसेही सामान्यतो दृष्ट मोर के शब्द से वर्षा का अनुमान करते हैं; इस में भी जहां मोरकी नाईं कोई मनुष्य बोलता है; वहां हेतु (मोरका शब्द) तो है, परंतु साध्य (वर्षा) नहीं है; इसीव्यभिचार दोष से सामान्यतोदृष्ट भी दुष्ट ही है; अंडों को लेकर चींटियों का भागना यहां वर्षाका कारण माना गया है; अथवा लक्षण सूत्र में पूर्ववत् का अर्थ हेतु से पूर्व (पहिले) विद्यमान साध्य की अनुमितिका कारण, और शेषवत् अर्थात् हेतु

से अनंतर (पीछे) होने वाले साध्यकी अनुमिति का कारण इसी भांति सामान्यतो दृष्ट हेतु के साथ वर्तमान साध्य की अनुमिति काकारण होता है; ऐसा अर्थ करने से अनुमान में तीन (भूत, भविष्य, वर्तमान) कालों के पदार्थों का बोध कराना सिद्ध होता है; और कई ग्रंथकार ऐसे भी कहते हैं, कि अंडे लेकर चींटियोंके भागने से अत्यंत ऊष्म (गर्मी) का अनुमान होता है; पुनः इस धर्म से पृथिवी आदि महाभूतों के क्षोभ (क्रिया) का अनुमान होता है; परंतु यह महाभूतों का क्षोभ वर्षा काकारण होता है, इसलिये कारण (महाभूतोंकीक्रिया) से कार्य (वर्षा) का अनुमान होता है; इसी भांति जो जो अनुमान करोगे, सब में जिस किसी रीति अनुमिति के प्रति व्यंयक व्यभिचार की शंका होजावेगी, तो अनुमिति के कारण अव्यभिचार (व्याप्ति) का निश्चय होना दुर्लभ होजावेगा; अर्थात् पूर्ववत् आदि प्रत्येक अनुमान जब उक्त युक्तियों से प्रमाण नहीं है, तो अनुमान नामी प्रमाण का पृथक् मानना सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है ३५ ॥

नैकदेशावासंसाद्दृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ३६

उत्तर यह है, कि ऊपर कहा अनुमान का खंडन योग्य नहीं है; क्यों कि हमने रोध आदि लौकिक निमित्तों से विना ही नदीका बढ़ना हेतु किया है, जिसमें कभी व्यभिचार नहीं आता; इसी भांति विना किसी भय आदि लौकिक निमित्त के स्वभाव से ही अंडे ले ले चींटियों का भागना हमारा हेतु है; जिस में कोई व्यभिचार नहीं आता; और

सामान्यतोदृष्ट में भीमोर के यत्न से उत्पन्न शब्द हेतु है; जिसमें व्यभिचार कभी नहीं आता; अर्थात् तुमने (मेरे कहे हेतुओं से) अन्य हेतु अपनी ओर से बना के व्यभिचारदोष दिया है; परंतु मेरे हेतुओं में कोई दोष नहीं है, किंतु अपने कहे हेतुओं का तुमने आप ही खंडन किया, इससे तुमारे कहे अनुमानके खंडन का खंडन हुआ; अर्थात् तुमारी युक्तियों सेही अनुमान प्रमाण सिद्ध होगया; और सब अनुमानों में तो व्यभिचारकी शंका हो ही नहीं सकती; किंतु जिस अनुमान में व्यभिचार की शंका होती है; वहां तर्क के द्वारा शंका का उद्धार किया जाता है; तो सिद्ध हुआ, कि अनुमान प्रमाणमानने में कोई दोष नहीं है ३९

इति अनुमानपरीक्षाका १९ वांप्रकरणसमाप्त हुआ ॥

वर्त्तमानाभावः पतनः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः ३७ ॥

भूत भविष्यत् वर्त्तमान, इन तीनों कालोंके पदार्थों का बोध अनुमान से मानना सर्वथा असंगत है; क्योंकि वर्त्तमान वास्तविक जगत् में जब नहीं है, तो वर्त्तमानकी अपेक्षा से जिन का ज्ञान होता है ऐसे भूत, भविष्यत् का होना सर्वथा असंगत प्रतीत हुआ; अर्थात् तीनकाल (भूतभविष्य वर्त्तमान) ही जब सिद्ध नहीं हो सकते, तो अनुमान प्रमाण से तीन काल के पदार्थों का बोध मानना, युक्ति से बाहर है; इस अभिप्राय से वर्त्तमान की परीक्षा करने के अर्थ पहिले वर्त्तमानका खंडन करते हैं; जब वृक्ष से कोई फल नीचे को गिरता है, तो वृक्ष की शाखा से उस फल तक जो देश है; उसे पतित (लंघा हुआ) मार्ग कहते हैं; अर्थात् उतनी दूर गिरने का समय भूत कहाता है; और उस फलसे भूतल तक जो शेष देश है, उसे पतितव्य (लंघने के योग्य) कहते हैं, अर्थात् उतनी दूर लंघने का समय भविष्य कहाता है; तो शेष कोई समय नहीं रहा, कि जिसे हम वर्त्तमान कहें; तो प्रतीत हुआ, कि ऐसी कोई युक्ति नहीं है; कि जिससे वर्त्तमान समय की सिद्धि करें; किंतु यह सिद्ध हुआ, वर्त्तमान काल कोई नहीं है ३७ ॥ ❖ ❖ ॥

तयोरप्यभावो वर्त्तमानाभावेनदृष्टत्वात् ३८ ॥

उत्तर यह है, कि वर्त्तमान काल यदि माना जावे, तो भूत भविष्यत् कालोंका स्वीकार भी नहीं कर सकोगे;

क्यों कि भूत भविष्यत् काल की अवस्था भी वर्त्तमान काल से ही कही जाती है; जिस से विद्यमान ध्वंस के प्रतियोगी को भूत और विद्यमान प्रागभाव के प्रतियोगी को भविष्यत् कहते हैं; अर्थात् वर्त्तमान काल मानने से विना इन दोनों लक्षणों में विद्यमानशब्द का अर्थ लक्ष नहीं होसकता, और इन लक्षणों में विद्यमान शब्द यदि नदियाजावे, तो भूत भविष्यत् की अवस्थासर्वथा उड़ जावेगी, अर्थात् जो वस्तु आगे उत्पन्न होगी, उसका ध्वंस नाश भी अवश्य होगा; इसलिये उसे भूत कह दो: और जोवस्तु उत्पन्न हो चुकी है, प्रागभाव उसका भी था; इसलिये उसे भविष्यत् कह दो; तो भूत भविष्यत् का नियम ही हटगया ३९

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ३९ ॥

वर्त्तमान की अपेक्षात्याग के भूत की अपेक्षा से भविष्यत् और भविष्यत् की अपेक्षा से भूत मानाजावे, तो परस्पर की अपेक्षा पड़ने से अन्योन्याश्रयदोष लगेगा; अर्थात् दोनों में से कोई एक भी नहीं सिद्ध होसकेगा. ३९ ॥

वर्त्तमानाभावेसर्वाग्रहणाप्रत्यक्षानुपपत्तेः ४० ॥

भूत, भविष्यत् के नसिद्ध होने से क्या हानिहै; इसलिये और युक्ति देते हैं; कि वर्त्तमान की सिद्धि से विना प्रत्यक्ष किसी वस्तु काभी नहीं होसकेगा. जिस से प्रत्यक्ष केवल वर्त्तमानवस्तु का ही बोधकराताहै; इसी से ग्रंथकारों ने कहा भी है, कि संबद्ध (मिलीहुई) और वर्त्तमान वस्तुओं को ही इंद्रिय ग्रहण करसकते हैं; अर्थात् प्रत्यक्ष नमानें, तो अनुमान आदि कोई एक ज्ञान भीनहीं सिद्ध होता, जिस से अनुमान

आदिसब ज्ञानों का मूल (आदिकारण) प्रत्यक्ष ही है; अ-

ज्ञानाकर्मव्यतोयपनेत्तद्भ

यथाग्रहणम् ४१ ॥

इस पर आशंका है, यदि वर्त्तमानध्वंस का प्रतियोगी भूत और वर्त्तमान प्रागभाव का प्रतियोगी भविष्य कहा जावे, तो वर्त्तमान एक ही घट में ये दो प्रतीति कैसे होती हैं; कि यह घट श्याम था, और रक्त होगा, उत्तर यह है, कि विद्यमान एक ही घट में श्याम रूपका नाश और रक्तरूप की उत्पत्ति को लेकर था और होगा ये भूत भविष्यत् के प्रयोगमात्र होते हैं; सिद्धांत में तो श्याम रूप था और रक्तरूप होगा; घट में ये व्यवहारगौण हैं ४१ ॥ इतिवर्त्तमानपरीक्षाका ९ वांप्रकरणसमा प्तभआ॰ ९ ॥ ❖ ❖ ❖

अप्यन्नप्राप्यैकदेशसाधर्म्यादुपमानसिद्धिः ४२
अवसर संगति से उपमान की परीक्षा करनेके अर्थ आदि में पूर्वपक्ष (आशंका) करते हैं; प्रसिद्ध पदार्थ के साधर्म्य (सादृश्य) से जो उपमिति पीछे कह आए हैं, वह योग्य नहीं है, क्योंकि उपमान के संपूर्ण धर्मों से उपमेय में सादृश्य देवें, तो नहीं बनता, ऐसे सादृश्य से यह उपमिति कोई नहीं करता; गौके तुल्यगौ है; और उपमान के अधिकधर्मों से भी उपमेय में सादृश्य नहीं बनता, जिससे सींग आदि अधिकधर्मोंके द्वारा ऐसी उपमिति किसी को नहीं होती, कि गौके तुल्य महिषी है; इसीभांति उपमान के किसी एक धर्म से सादृश्य देके भी उपमिति नहीं होती; क्योंकि वाच्यत्व आदि कोई एक धर्म लेकर ऐसी उपमिति किसी को नहीं होती, कि सुमेरु के तुल्य सर्षप है; इसीभांति तीन पक्ष बना के वैधर्म्य से भी उपमिति का खंडन करदेना; अर्थात् किसी प्रकारभी साधर्म्य से वा वैधर्म्य से उपमिति नाम की प्रमा पृथक नहीं सिद्ध होसकती ४२ ॥

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ४३ ॥

समाधान यह है; प्रसिद्ध अतिशय काके महिषी आदि में जो नरहे, उस (अवयवसंयोग) का ज्ञान उपमिति का कारण मानने से कोई दोष नहीं है; और साधर्म्य तो सब स्थानों में एकही नहीं है; किंतु प्रकरण आदि के अनुसार कहीं कुछ कहीं कुछ भिन्न भिन्न साधर्म्य हैं; ॥ ४३ ॥

अप्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ५३ ॥

इस पर वैशेषिकों का यह आदेय है, कि अनुमान के अंतरगत होने से उपमाननामी पृथक प्रमाण नहीं मानना; क्योंकि धूम आदि के प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष वह्नि आदि के ज्ञान को अनुमिति कहते हैं; इसी भांति गोसादृश्य के प्रत्यक्ष (ज्ञान) से अप्रत्यक्ष गवयपदवाच्यत्व (इसे गवय कहेंगे) का ज्ञान भी अनुमिति ही कहना योग्य है; अर्थात् अनुमान से पृथक् उपमान नामी कोई प्रमाण जगत में नहीं है। किंतु प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं; उपमान और शब्द अनुमान के ही अंतरगत हैं, यह वैशेषिक (कणाद) का सिद्धांत है ५४ ॥ ❊

नाप्रत्यक्षो गवयेप्रमाणार्थमुपमान
स्यपश्यतः इति ५५ ॥ ❊

उत्तर यह है, अनुमिति का कारण व्याप्य वत्ता ज्ञान (परामर्श) गवय में न होने से उपमान के कार्य उपमिति प्रमा (यथार्थज्ञान) का अनुमान के साथ कुछ संबंध ही नहीं है; अथवा जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता, व्याप्तिज्ञान आदिकी अपेक्षा त्याग के केवल उपमान से उत्पन्न गवय पद के शक्तिज्ञान को हम अनुमिति नहीं मानते ५५ ॥

तथेयमुपसंहारादुपमानसि
द्धेर्नाविशेषः ५६ ॥

और यदि अपनी ओर से व्याप्तिज्ञान की कल्पना करके वही अनुमिति मानें, तो यह भी नहीं हो सकता; जैसी गो है, वैसाही गवय होता है, इतने सादृश्यज्ञान मात्र से

उपमिति उत्पन्न होती है; अर्थात् आभिज्ञान की अपेक्षा त्याग के केवल सादृश्यज्ञानसेज्ञान उत्पन्न होता है; उसे अनुमिति कहना सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है; किंतु अनुमिति से पृथक् उपमिति प्रमा अवश्य माननी योग्य है; क्योंकि इस पदार्थ को हम अनुमित नहीं करते किंतु उपमितकरते हैं; इस अनुव्यवसाय से सिद्ध उपमिति का खंडन नहीं होसकता ४६ ॥ ॥

इतिउपमानपरीक्षाका १८ वां प्रकरण समाप्तहुआ १८ ॥

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ४७ ॥

क्रम से प्राप्त शब्द की परीक्षा करने के अर्थ आदि मे पूर्वपक्ष आशंका करते हैं; शब्द (शब्दजन्य ज्ञान) अनुमान (अनुमिति) है; शब्द से कहने योग्य अर्थ जिससे प्रत्यक्ष नहीं, किंतु अनुमेय (अनुमान करने के योग्य) है; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शब्द हेतु से अर्थ का ज्ञान अनुमिति है; जिस से प्रत्यक्ष नहीं है ४७ ॥ ❊ ❊

उपलब्धेरविप्रतिपत्तेश्च ४८ ॥

और इस हेतु से भी स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शाब्दबोध और अनुमिति एक ही हैं; जिस से शब्द जन्य ज्ञान और अनुमानजन्य ज्ञान एक प्रकार का ही होता है; अर्थात् शाब्दत्व अनुमितित्व दो जाति नहीं हैं; क्योंकि शब्द हेतु ज्ञान की नाईं बोध का कारण है; इस से धूम आदि अन्य हेतुओं के ज्ञान से उत्पन्न वह्नि के ज्ञान (पर्वतोवह्निमान्) की नाईं शब्द से उत्पन्न ज्ञान भी अनुमिति ही है, अर्थात् अनुमिति से विजातीय कोई शब्द जन्य ज्ञान नहीं है, कि जिस का नाम शाब्दबोध रक्खें, जब शब्द प्रमाण पृथक् कोई नहीं है; तो शब्दप्रमाण भी अनुमान प्रमाण से पृथक् नहीं है ४८ ॥

सम्बन्धाच्च ४९ ॥

और यह हेतु है, कि शक्ति वा लक्षणा नामी नियत संबंध के ज्ञान (व्याप्तिज्ञान) से ही शाब्दबोध होता है; जब व्याप्तिज्ञान से विना शाब्दबोध नहीं होता, तो शाब्दबोध को अनुमिति कहना ही योग्य है ४९ ॥ ❊ ॥

आप्तोपदेशसामर्थ्यादर्थसम्प्रत्ययः ५०

सिद्धांत यह है, आप्त (भ्रमआदि से रहित) पुरुष के उपदेश (कथन) की सामर्थ्य (आकांक्षा योग्यता आदि के संबंध) से शाब्दबोध होता है; अथवा आप्त (आप्त) उपदेश की सामर्थ्य (आकांक्षा आदि के संबंध) से शाब्दबोध होता है; अर्थात् आप्तिज्ञान की अपेक्षा त्याग के आकांक्षा आदि के ज्ञान से पदार्थका संप्रत्यय (शाब्दबोध) होता है; जिस से इस ज्ञान में आप्तिज्ञान की अपेक्षा नहीं पड़ती, इस से यह ज्ञान (शाब्दबोध) अनुमिति के अंतरगतनहीं हो सकता, और इस का करण शब्द अनुमान प्रमाण में नहीं आसकता; किंतु शब्द एक प्रमाण है; और यह अनुभव भी होताहै, कि शब्द से इस अर्थ को मैं जानता हूं, न अनुमान से ५० ॥ ❖ ❖

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ५१ ॥

शब्द का अर्थ के साथ आप्तिनामी संबंध मानने में कोई प्रमाण नहीं है, अर्थात् शब्द आकाश में रहता है, और अर्थ (घट आदि पदार्थ) भूतल आदि देशोंमें रहते हैं; तो जब शब्द और अर्थ एक अधिकरण में ही नहीं रहते, तब: व्याप्य व्यापकभाव इन का किसभांति होवे; ५१ ॥ ❖ ❖

दूरणाप्रदाहपाटनानुपलब्धेः
असम्बन्धाभावः ५२ ॥

और यह दोष है, कि अर्थ के साथ शब्द का यदि व्याप्यव्यापकभाव संबंध माना जावे; तो व्याप्यतो रहता है; वह व्याप्य अवश्य ही रहता है; इस लिये व्याप्य अन्नशब्द के उच्चारण से मुख में व्यापक अन्न अवश्य प्राप्तहोना योग्य है;

ऐसे अग्निशब्द के उच्चारण से मुखमें दाह, कुठार शब्द के उच्चारण से मुख का छेदन, अवश्य होजावे; परंतु ऐसा कभी नहीं होता, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि शब्द का अर्थ के साथ वाच्यवाचकभाव संबंध हो भी, तो व्याप्यव्यापकभाव संबंध किसी भांति भी नहीं बन सकता ५२ ॥

शब्दार्थयोरवस्थानादप्रतिषेधः ५३ ॥

इस पर आशंका यह है, कि क्या संबंध से विना ही शब्द अर्थ का बोध कराता है; तो अव्यवस्था होजावेगी, अर्थात् यह नियम कोई नहीं रहेगा, कि घट शब्द से घट का ही बोध होवे, पटआदि पदार्थों का बोध न होवे; किंतु सबशब्दों से सब पदार्थों के बोध की आपत्ति (अतिव्याप्ति) लगेगी; इसलिये स्पष्ट प्रतीत हुआ, अर्थ के साथ शब्द के संबंध का निषेध करना योग्य नहीं है; क्यों कि सबशब्दों से सब अर्थों का बोध कभी नहीं होता, किंतु किसी शब्द से किसी नियत अर्थ का बोध होता है; इस रीति जब संबंध मानलिया, तो उसी संबंध से व्याप्य व्यापकभाव के होने में कोई संदेह नहीं है; परंतु उस संबंधसे मुख का सूखना वा दाह अथवा छेदन कभी नहीं हो सकता, क्यों कि सूखना, दाह आदि का देश संयोग संबंध है; परंतु में जो वाच्यवाचकभावसंबंध है; वह सूखना, दाह आदिका देश नहीं है ५३ ॥

नसामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ५४ ॥

नैयायिकों का उत्तर यह है, कि हमारे मत में शब्द और अर्थ की अव्यवस्था (अनियम) नहीं हो सकती; जिस से शब्द जन्य अर्थ का ज्ञान (शब्दबोध) सामयिक (शक्तिज्ञान के -

अधीन) है; परंतु इस शक्ति संबंध से शब्द का अर्थ के साथ व्याप्यव्यापकभाव नहीं हो सकता, क्योंकि यह शक्ति (वाच्य-वाचकभाव) संबंध परंपरा रूप होने से इतिता का नियामक (नियमबांधनेवाला) नहीं हो सकता; और व्याप्यव्यापकभाव उसी संबंध से होता है, जो (संबंध) इतिता का नियमबांधसके सोसिद्धअआ, कि शब्द का अर्थ के साथ शक्ति संबंध हो भी परंतु इन का व्याप्यव्यापकभाव नहीं बनता;

जातिविशेषेचानियमात् ५५ ॥ ५४ ॥

और यह शक्ति (वाच्यता) संबंध भी स्वाभाविक नहीं, किंतु कल्पित है; क्योंकि यह नियम नहीं है, कि इस शब्द से इसी अर्थ का बोध हो; यथा आर्य्य (प्राचीन) लोग यव शब्द से बड़ल लंबी भोछवाले अन्न का बोध मानते हैं; और म्लेछ लोग उसी यव शब्द से कंगू (कउ-नी) का बोध मानते हैं; जब नियम न रहा, तो सब शब्दों से सब अर्थों का बोध होवे; और अनेकशक्तिमानने पर भी जिस अर्थ में जिस शब्दकाशक्तिहै उस शब्द से उसी अर्थका बोध होता है ५५ ॥

इतिशब्दसामान्यपरीक्षाका ९८ वां प्रकरणसमाप्तअआ ॥

तदप्रामाण्यमनृतव्याघात
पुनरुक्तदोषेभ्यः २९ ॥

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेद से शब्द दो प्रकारका कह आये हैं; उन में से अदृष्टार्थ शब्द (वेद) के प्रामाण्य की परीक्षा करने के अर्थ आदि में पूर्वपक्ष (आशंका) करते हैं; कि वह (अदृष्टार्थशब्दवेद) प्रमाण नहीं है; अनृतत्व (झूठ) आदि दोषों से, यज्ञा पुत्र की कामना से जो पुत्रेष्टी यज्ञकरना लिखा है, परंतु कहीं पुत्रेष्टी यज्ञ करने से भी पुत्र नहीं उत्पन्न होता, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि वेद में कहे पदार्थ अनृत (झूठे) हैं; इसी भांति व्याघात (परस्परविरोध) भी आता है; जैसे लिखा है, कि सूर्य के उदय होने पर हवन करता है; सूर्य के उदय होने से पहिले हवन करता है; समय बिता कर हवन करता है; ऐसा लिख के पुनः लिखा है, कि जो सूर्य के उदय होने पर हवन करता है; उसकी आहुति को श्यावनामी कुत्ता खाता है; और जो उदय से पहिले हवन करता है उस की आहुति को शबल नामी कुत्ता खाता है; और जो समय बिता के हवन करते हैं, उनकी आहुति को श्याव, शबल ये दोनों कुत्ते खाते हैं, यहां पहिले कहे वाक्यों का उत्तर वाक्यों से स्पष्ट विरोध आता है; इसीरीति एक २ ऋचा को तीन २ वेर पढ़ने में पुनरुक्ति दोष आता है; इन वाक्यों के अप्रामाण्य से इनके सजातीय सारे वेदवाक्य अप्रमाण प्रतीत होते हैं २९ ॥

तत्कर्मकार्यसाधनवैगुण्यात् ३० ॥

सिद्धांत यह है, कि वेद किसीरीति अप्रमाण नहीं होसक

ने, किंतु कर्म, कर्ता, साधनके वैगुण्य (न्यूनाधिकता) से कार्य (पुत्रोत्पत्ति आदि) का विघात (नाश) होता है; यथा कर्म (क्रिया) का वैगुण्य (विधिसे विरुद्धकरना) कर्ता (यजमान) का वैगुण्य (वेद शास्त्र आदि के ज्ञान से रहित होना) और साधन (घृतआदिसामग्री) का वैगुण्य (अपवित्र और मलिन होना) अर्थात् इन न्यूनता ओं से वहां फल नहीं होता, क्यों कि वेद में कहे प्रकार से संपूर्ण कर्म के करने पर यदि फल नप्राप्त होवे, तो वेद में अप्रामाण्य की संभावना होवे; परन्तु वेद में कही रीतिसे कर्म करने में जब कोई न कोई न्यूनता अवश्य रहजाती है; तो उस न्यूनता से ही फल का विघात होजावेगा; इस (फल के विघात) निमित्त को लेकर वेद को अप्रमाण कहना, सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है; अर्थात् इस सूत्र से यह सिद्ध हुआ, कि वेद के वाक्यों से मिथ्या अर्थ निकलते हैं; इस से वेद अप्रमाण हैं; यह कथन सर्वथा असंगत है ५७ ॥ ⁘ ⁘ ⁘

अभ्युपेत्यकालभेदेदोषवचनात् ५८ ॥

व्याघात (परस्परविरोध) दोष का परिहार करते हैं; पीछे कहा हुआ तुमारा वाक्य विरोध नहीं आसकता; अग्निहोत्र कर्म के आरंभ में इन (उदित, अनुदित, समयाध्युषित) में से जो समय मान लिया, पीछे से उस समय को त्याग के यदि अन्य समय में कर्म (हवन आदि) करे तो दोष कहा है; इस से विरोध का भ्रम मात्र ही है, यथार्थ कोई विरोध नहीं है ५८ ॥ ⁘ ⁘ ॥

अनुवादोपपत्तेश्च ५९ ॥

इसी रीति पुनरुक्ति दोष भी नहीं आता, किंतु पुनः पुनः कथन से अनुवाद प्रतीत होता है; क्योंकि विना किसी प्रयोजन के एक वाक्य को कई वेर कहते जाना, पुनरुक्ति दोष होता है; और किसी प्रयोजन से एक वाक्य को कई वेर कहना अनुवाद होता है; प्रकृत में ९ ऋचाओं में से पहिली और पीछली को तीन तीन वेर पढ़ने का यह प्रयोजन है, जो मुझ से प्रेम नहीं करता, और जिससे मैं प्रीति नहीं करता; इसभर्तीजे को मैं पंद्रह यामवाले वाणी के वज्र से वा धा (पीड़ा) देता हूं; इस श्रुतिसे स्पष्ट प्रतीत होता है, पंद्रह आवरण बनाने के प्रयोजन से ये दो ऋचातीन २ वेर पढ़ी गई हैं; इससेयह अनुवाद है, पुनरुक्ति नहीं है ५९

वाक्यविभागस्यचार्थग्रहणात् ६० ॥

अनुवाद में पुनः कथन सार्थक होता है, इस में प्राचीनों की संमति दिखाते हैं; वाक्यों में से अनुवाद नामी वाक्य में शिष्टों ने किसी प्रयोजन से पुनः कथन माना है; जिस से शिष्टों ने विधायक, अनुवादक आदि वाक्यों के भेद दिखाके अनुवादक वाक्यों को भी सार्थकता कही है; इसी भांति वेद में भी अनुवादक वाक्य सार्थक ही माने हैं; ६०

विधयर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ६१

वेद में वाक्यों के भेद दिखाते हैं, मंत्र, ब्राह्मणनाम से प्रसिद्ध वेद के दो भाग हैं; इन दोनों में से ब्राह्मण भाग के तीन आवांतर भेद हैं, यथा (१) विधिवचन, (२) अर्थवादवचन, (३) अनुवादवचन; ६१ ॥

विधिर्विधायकः ६२ ॥

इनतीनों में से विधिवाक्य का लक्षण करते हैं; इष्टसिद्धि के बोधक (विधि लिङ्-तव्य आदिकृत्य) प्रत्यय जिस वाक्य में हों, उसे विधिवाक्य कहते हैं; यथा अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्ग कामः इत्यादि इसवाक्यमें जुहुयात् क्रिया हु धातु से विधि लिङ् के प्रथमपुरुष का एकवचन आके बनी है; इस से यह विधिवाक्य है; विधि में कहे अर्थकोस्तुतिकरके शीघ्रप्रहृत्तकरनाअर्थवादका प्रयोजन है ६२ ॥

स्तुतिर्निन्दापरकृतिः पुराकल्पइत्यर्थवादः ६३ ॥

यह अर्थवाद स्तुति, निंदा, परकृति और पुराकल्प इस भेद से चार प्रकार का है, इनमें से विधि के अर्थ की जो साक्षात् प्रशंसा करे, उसे स्तुति वाक्य कहते हैं, यथा सब की प्राप्ति के अर्थ और सब को जीतने के अर्थ देवताओं ने सर्व जित् नामी यज्ञ से सब का यजन (इज्जन) किया; क्योंकि इस यज्ञ से मनुष्य सब को जीतलेता है और सब को प्राप्त होता है; नकरने से अनिष्ट (हानि) दिखा कर जो वाक्य विधि के अर्थ को ग्रहण करावे, उसे निंदा वाक्य कहते हैं, यथा यह ज्योतिष्टोमयज्ञ संपूर्ण यज्ञों में प्रथम (प्रधान) है, जो मनुष्य इस (ज्योतिष्टोम) के किये बिना अन्य यज्ञ को करता है; वह नरक में पड़ता है, इत्यादि और जो वाक्य मनुष्यों के कर्मों में परस्पर विरोध दिखावे, उसे परकृति कहते हैं; यथा हवन कर के कोई तो वपा (मज्जा) को स्रुवे से प्रणीता पात्र में डालते हैं; और कोई घृत को डालते हैं; चरक अध्वर्यु तो घृतको ही डाल के कहते हैं,

कि अग्नि के प्राण हृत ही है; हृदों से सुन के पशुनी बातका कथन प्रशंसा है; यद्वा ब्राह्मणों ने इसरीति प्रगट रूप से सवेद की स्तुतिकी ९३ ॥ ❖ ❖ ❖

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ९४ ॥

अनुवाद का लक्षण यह है, प्राप्त (कहे) पदार्थ का अनु (पीछे से) वाद (किसीप्रयोजन से कथन) अनुवाद होता है; यह अनुवाद दो प्रकार का है, विध्यनुवाद और विहितानुवाद इस सूत्र में तो विध्यनुवाद का लक्षण किया है; कि विधि में कहे अर्थ को किसी प्रयोजन से पुनः कहना, विध्यनुवाद होताहै; यह अर्थवाद और अनुवाद विधिवाक्योंका कोई विभाग जानना; इस से वेदांत में कहे भूतार्थवाद का वर्णन यहां नहीं भी किया, तो न्यूनता कोई नहीं जाननी, क्यों कि यह भूतार्थवाद किसी विधि से संबंध नहीं रखता; ९४ ॥ ❖ ❖ ❖

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः
शब्दाभ्यासोपपत्तेः ९५ ॥

इस अवसर में यह आशंका होती है, कि शब्द (एकवार कहे, शब्द) का अभ्यास (पुनः कथन) दोनों (अनुवाद, पुनरुक्त) में तुल्य है; इस लिये पुनरुक्त से पृथक् अनुवादका मानना सर्वथा असंगत प्रतीत होता है; अर्थात् पुनरुक्त और अनुवाद ये दोनों शब्द विप्र और ब्राह्मण शब्दों की नाईं एक अर्थ का ही बोध कराते हैं ९५ ॥

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ९९ ॥

उत्तर यह है, कि पुनः कथन मात्र से पुनरुक्त और अनुवाद एकनहीं होसकते, क्यों कि पुनरुक्त में व्यर्थ ही एक वाक्य को कई वेर कह देते हैं; और अनुवाद में तो किसी प्रयोजन से पुनः कथन होता है; यथा जगत में चलो ऐसा कहकर पुनः चलो २ कहना, शीघ्रता को जनाता है; इसीरीति सार्थक पुनः कथनको अनुवाद और व्यर्थ पुनः कथन को पुनरुक्त कहते हैं; यह भेद है ९९ ॥ ❖ ❖

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्चतत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ९७ ॥

इसरीति अप्रामाण्य का निषेध करके शब्द में प्रामाण्य की सिद्धि करते हैं; आप्त (वेद के कर्ता ईश्वर) के कहे सब वाक्य यथार्थ होने से प्रमाण हैं; जैसे वैदिक मंत्रों (विष आदिकोनाशकरनेवालों) केवाक्य और आयुर्वेद (चिकित्सा) के वाक्य यथार्थ फलदेने से प्रमाण हैं; इसीभांति संपूर्ण वेदोंके वाक्य भी ईश्वर के कहे ऊपर हैं; इस से यथार्थ प्रमाण हैं ९७ ॥ ❖ ❖ ❖

इति शब्द की विशेष परीक्षा का ९ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ इतिश्रीविश्वनाथपंचाननकी बनाई न्यायसूत्रवृत्ति में विभाग की अपेक्षात्याग के अंग सहित प्रमाणों की परीक्षा का २ य० अध्याय में १म० आह्निक समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖ ❖ ॥

नचतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिस
म्भवाभावप्रामाण्यात् २।

विशेष विभाग करने से अनंतर होने योग्य प्रमाणों की परीक्षा करते हैं; इस आह्निक में चार प्रकरण हैं, आदि में प्रमाणों की चार संख्या के विचार का प्रकरण है; और जहां जहां आवेंगे, उनके नाम वहां ही लिखे जावेंगे; इस सूत्र से खंडन किया है, कि प्रमाण चार ही हैं, यह कथन सर्वथा असंगत प्रतीत होता है; जिस से ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव, अभाव नामी अन्य प्रमाण भी विद्यमान हैं; प्राचीन लोग कहते थे, कि वट के वृक्षों पर यक्ष रहते हैं; ऐसे परंपरा से सुने वाक्य को ऐतिह्य कहते हैं; परंतु यह वाक्य किसी आप्त (यथार्थ कहनेवाले) का कहा है, वा किसका कहा है, ऐसा निश्चय न होने से यह (ऐतिह्य) शब्द प्रमाण के अंतरगत नहीं, किंतु पृथक प्रमाण है; और अनुपपन्न अर्थ (कार्य) से उपपादक (कारण) की कल्पना अर्थापत्ति होती है, जैसे वृष्टि से मेघ की कल्पना करते हैं; परंतु वृष्टि पृथ्वी पर होती है, और मेघ आकाश में रहते हैं; इस (आश्रयों के) भेद से व्याप्तिज्ञान की अनुपपत्ति होजाने पर यह (अर्थापत्ति) अनुमान के अंतरगत नहीं किंतु पृथक प्रमाण है इसीरीति भूयः (बारबार) सहचार (इकट्ठे रहने) के ज्ञान से जो ज्ञान हो, उसे संभव कहते हैं; यथा यह मनुष्य अवश्य विद्वान है, जिस से आप्त है; अथवा यहां सौ रुपया अवश्य है, जिस से यहां सहस्र रुपया है; परंतु यह (संभव) व्याप्ति की अपेक्षा

नहीं रखना, इस से यह अनुमान के अंतरगत नहीं किंतु संभव भी एथक प्रमाण है; और एक विरोधी के अभाव के ज्ञान से दूसरे विरोधी की कल्पना को अभाव कहते हैं; यथा नकुल के अभाव का निश्चय करके नकुल के विरोधी सर्पकी कल्पना करनी; कि यहां सर्प अवश्य है, जिस से यहां नकुल नहीं है; परंतु यह (अभाव) भी व्याप्ति की अपेक्षा नहीं रखता, इस से अनुमान के अंतरगत नहीं, किंतु एथक प्रमाण है; अथवा कारणाभाव के ज्ञान से कार्याभाव की कल्पना को अभाव प्रमाण कहते हैं; यद्यपि यहां व्याप्ति भी होती है, तोभी जिन्हों ने भावों की व्याप्ति को अनुमान का अंग मानी है; उनके मत से यह अनुमान के अंतरगत नहीं किंतु एथक प्रमाण है; अर्थात् आठ प्रमाणकहो २ ॥

शब्देतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः २ ॥

सिद्धांत यह है, कि प्रमाणों की चारसंख्या का जो खंडन करते हो, वह योग्य नहीं है; जिस से ऐतिह्य तो शब्द प्रमाण के अंदर आजाता है, शाब्दबोध का कारण आप्तत्व का ज्ञान सामान्यरूपसे (निश्चय वा संशय) रहगया; अथवा आप्तोक्तत्व का ज्ञान शाब्दबोध में कारण नहीं है, किंतु आकांक्षा आदि का ज्ञान शाब्दबोध में कारण है; और योग्यता के यथार्थ ज्ञान से शाब्दबोध भी यथार्थ होताहै; इसी रीति अर्थापत्ति आदि भी अनुमान में आजा

नं है; जिस मे व्याप्तिज्ञान के विना कार्य से कारण का ज्ञान होना अतिकठिन है: दृष्टित्व में मेघजन्यत्व की व्याप्ति बनी ही है; और संभव जो व्याप्ति की अपेक्षा से प्रवृत्त हुआ, वह अनुमान में आजाता है; और जो व्याप्ति से विना प्रवृत्त हो, वह अभिचार दोष से अप्रमाण है; इसी रीति अभाव जो व्याप्ति की अपेक्षा से प्रवृत्त हुआ, वह अनुमान में आगया, और जिस में व्याप्ति नहीं, वह प्रमाण नहीं; अभावों की व्याप्ति को अनुमान का अंग मानने में कोई विशेष नहीं है २ ॥

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ३

अर्थापत्ति यदि प्रमाण हो, तो पीछे से यह विचार होता है, कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में अर्थापत्ति आती है, अथवा पृथक् प्रमाण है; इस पर तटस्थ की यह आशंका है, कि मेघ से विना वर्षा नहीं होती, अर्थात् मेघ के होने पर वृष्टि अवश्य होती है; यह अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है, बहुत स्थानों में मेघ के होने पर भी वर्षा नहीं होती, इस अभिचार दोष से ३ ॥

अनर्थापत्तावर्थापत्यभिमानात् ४ ॥

उत्तर यह है, कि अर्थापत्ति में अभिचार दोष नहीं लगता, क्योंकि मेघ से विना वर्षा नहीं होती, और जहां वर्षा होती है, वहां मेघ अवश्य होते हैं; इस अर्थापत्ति में कोई दोष नहीं आता, किंतु जहां मेघ हो, वहां वृष्टि अवश्य होती है, इस अनर्थापत्ति (अर्थापत्ति के भ्रम) में तुमने अभिचार दोष दिया है; इस से अर्थापत्ति का खंडन नहीं हो सकता; जैसे अयथार्थ व्याप्तिज्ञान से अयथार्थ-

अनुमिति होती है, परंतु इसव्याप्ति भ्रम के खंडन से अनुमान प्रमाण का खंडन कभी नहीं हो सकता; इसी रीति अर्थापत्ति के भ्रम का खंडन करने से अर्थापत्ति का खंडन नहीं हो सकता ४ ॥ ❖ ❖ ❖

प्रतिषेधाप्रामाण्यंचानैकान्तिकत्वात् ५ ॥

तुम ने जो अर्थापत्ति का खंडन किया है, वह व्यभिचार दोष से अप्रमाण है; अर्थात् किसी अर्थापत्ति (भ्रम) में यह दोष लगता है, और किसी (यथार्थ अर्थापत्ति) में यह दोष नहीं लगता; जो इसव्यभिचार दोष से यह निषेध, स्वं अप्रमाण हो के अर्थापत्ति का खंडन क्या करेगा, ५ ॥

तत्प्रामाण्ये वानार्थापत्यप्रामाण्यम् ६ ॥

और व्यभिचार दोष लगने पर भी यदि इसनिषेध को प्रमाण मञ्च लो, तो कहीं व्यभिचार लगने पर भी अर्थापत्ति को हम प्रमाण मान लेवेंगे; क्योंकि संपूर्ण स्थलों में तो व्यभिचार लगता ही नहीं है, और किसी एक स्थल के व्यभिचार को तुम प्रतिबंध क नहीं मानते; ६ ॥ ❖

नाभावप्रामाण्यंप्रमेयासिद्धेः ७ ॥

तटस्थ की यह आशंका है, कि अभाव नामी प्रमाण नहीं मानना; क्योंकि अभावनामी प्रमाण तब सिद्ध होवे, यदि अभाव का कोई प्रमेय (ग्रहणकरने के योग्यपदार्थ) सिद्ध होलेवे; परंतु अभाव एक तुच्छ पदार्थ है, उसे प्रमेय नहीं कह सकते, इस तुच्छ में प्रमाण की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती ७ ॥ ❖ ❖ ❖

लक्षितेऽलक्षणालक्षितत्वादलक्षितानांतत्प्रमेयसिद्धेः ८ ॥

सिद्धांत यह जानना, अभाव प्रमाण का भी प्रमेय (ग्रहण करने के योग्यपदार्थ) सिद्ध हो सकता है; कौन सा वह प्रमेय है, यह दिखाते हैं; कि घट आदि पदार्थों का जब लक्षण होता है; तो उस घट आदि की नाईं जिस (तुच्छभाव) का लक्षण नहीं होता, वह अभाव प्रमाण से ग्रहण करने के योग्य प्रमेय है; यद्यपि गुण, कर्म, जाति के ढंग अभाव का लक्षण कुछ नहीं कर सकते; तो भी अलक्षण (लक्षणाभाव) ही अभाव का लक्षण जानना; जैसे किसी ने कहा, कि अनील (नीलसेभिन्न) को ले आओ, यहां नीलाभाव (नीलभेद) ही ओरों से व्यावृत्ति (पृथक) करने का हेतु लक्षण है; इस से सिद्ध हुआ, कि अभाव अप्रमाणिक नहीं है ८ ॥ ❊ ❊

असत्यर्थेनाभावप्रतिषेधा न्यलक्षणयोगापपत्तेः ९ ॥

आक्षेपकर के समाधान करते हैं; कि बिना प्रतियोगी के अभाव का कथनही असंगत है; और यदि प्रतियोगी हो, तोभी उसका अभाव कैसे कहाजावे; उत्तर यह है किसी एकस्थान में प्रतियोगी के ज्ञान से अन्यस्थान में अभाव का ज्ञान होताहै; उसीस्थान में प्रतियोगी की आवश्यकता नहीं है ९ ॥ ❊ ❊ ❊

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः १० ॥

इस पर आशंका यह है, कि जिस वस्तु का स्वरूप जाना

जाय, उसी वस्तु को लक्षण इतर पदार्थों से पृथक् सिद्ध क रता है; तो प्रकृत में अभाव का स्वरूप कोई नहीं जानाजाता इसलिये कोई भी लक्षण अभाव को इतर पदार्थों से पृथक् नहीं सिद्ध कर सकता; अर्थात् प्रथम तो अभाव का लक्षण कोई नहीं बनता, यदि बड़ी कठिनता से लक्षण बनावें भी तो निष्फल होजाता है; १० ॥ ❊

नलक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः ११ ॥

उत्तर यह है, प्रतियोगी के लक्षण की अवस्थापेक्षा से ही अभाव का लक्षण भी सार्थक होजाता है; अर्थात् प्रतियोगी के स्वरूप का निरूपण करने से ही विरोधीमुख से अभाव के स्वरूप का निरूपण भी होजाता है; पृथक् अभाव के स्वरूप अथवा लक्षण के निरूपण की कोई आवश्यकता नहीं है; यथा घट के ज्ञान से ही घटाभाव का ज्ञान होता है; कि यहां घट है, यहां नहीं है; यह घट का न होना ही घटाभाव है; जिसका पूर्ण ज्ञान घट के ज्ञान से ही होता है ११ ॥ ❊ ❊

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च १२ ॥

इस सूत्र में ८ वें सूत्र से अनुवृत्ति करके मंडूकप्लुति से 'प्रमेयसिद्धिः' इतना ले आतेहैं; अर्थ यह होताहै, कि पदार्थ की उत्पत्ति से प्रथम यह पदार्थ उत्पन्न होगा; अभी नहीं (उस का अभाव) है; यह प्रागभाव की प्रतीति संपूर्ण लोगों में प्रसिद्ध है; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि वस्तु की उत्पत्ति से पहिले वर्त्तमान उस वस्तु का अभाव अनुपलब्धि नामी प्रमाण के द्वारा ग्रहण करने के योग्य प्रमेय है,

इस सूत्र में चकार देने से यह भी प्रतीत होता है; कि वस्तु के नाश से अनंतर उस वस्तु का ध्वंस नामी अभाव भी विना विवाद के सारे लोगों में प्रसिद्ध अनुपलब्धि से ग्रहण करने के योग्य प्रमेय है; जिससे स्वाभाविक यह प्रतीति होती है; कि वह वस्तु थी, अब नहीं है, परंतु पीछे यहसिद्ध कर चुके हैं, कि अभाव (अनुपलब्धि) अनुमान के ही अंतरगत है; और चेष्टा (हाथ, अंगुली आदि दिखानेका संकेत) स्वयं व्यापार रूप है, आगे उस (चेष्टा) का व्यापार कोई नहीं है, परंतु व्यापार से विना प्रमाण (प्रमा के करण) का होना असंभव है, इस से चेष्टा नामी पृथक् प्रमाण नहीं है; वास्तव लेख की कोई संकेत रूप होने से चेष्टाभी अनुमान के अथवा शब्द के अंतरगत है; पृथक्प्रमाण नहीं है; तोसिद्धआ, चार ही प्रमाण हैं; न्यूनवाअधिकनहीं हैं १२ ॥ ❊ इतिप्रमाणोंमें चारसंख्याकीसिद्धिका २१ वां प्रकरण समाप्तआ ॥ ❊ ❊ ❊ ॥

विमर्शहेत्वनुयोगे चविप्रतिपत्तेःसंशयः १३ ॥
जिससे वेद आप्तों (प्रमाणमनुष्यों) के कहे रूप हैं; इस से प्रमाण हैं, परंतु यह बात योग्य नहीं प्रतीत होती कि स से वेद नित्य हैं, इस आशंका पर यह विचार किया गया है; कि वर्ण (अक्षर) जब अनित्य हैं, तो वर्णों का समूह वेद कैसे नित्य है, इस आशय को लेके शब्द को अनित्यत सिद्ध करने का प्रकरण चलाया है; आदि में यह पूर्वपक्ष (आशंका) का सूत्र है, विमर्श (संशय) के हेतु (कारण) का अनुयोग (संबंध) होने पर विप्रतिपत्ति (विरुद्ध पक्षों के बोधकशब्द) से यह संदेह हुआ है, कि शब्द नित्य है, अथवा नहिं अर्थात् शब्द आकाशविभु का विशेषगुण होने से ईश्वरविभुके विशेषगुण ज्ञान आदि की नाईं क्या नित्य है; अथवा शब्द आकाश नामी जड़ (ज्ञानशून्य) पदार्थ का विशेषगुण होने से यष्टी आदि जड़ पदार्थों के विशेषगुण गंधआदि की नाईं क्या अनित्य है, इन अनित्यत्व के साधक दृष्टांतों से और नित्यत के साधक दृष्टांतों से अंत में फल यह ही निकलता है, कि शब्द नित्य है, अथवा अनित्य है, क्योंकि नित्यत्व और अनित्यत्व इन दोनों पक्षों के साधक हेतु विद्यमान हैं; तो निश्चित नहीं कहा जाता, कि शब्द नित्य ही है, अथवा अनित्य ही है; १३ ॥

आदिमत्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च १४
यह गौतम का सिद्धांत है, कि शब्द अनित्य है, जिससे आदि (उत्पत्ति) वाला है; अर्थात् किसी कारण से उत्पन्न होता है, इस पर यह आशंका है, कि घटत्वादि आदि

का अभिव्यक्त (प्रकाश) तो शब्द का व्यंजक (प्रगट करने-वाला) है; शब्द का कारण कोई नहीं है, पुनः शब्द के अनित्य होने में क्या हेतु है; इस से और हेतु दिया है, "ऐन्द्रियकत्वात्" अर्थात् बहिरिंद्रिय से जिस २ पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, वे रूपआदि पदार्थ अनित्य होते हैं; ऐसे शब्द का भी बहिरिंद्रिय (श्रोत्र) से प्रत्यक्ष होता है, इससे शब्द अवश्य अनित्य है; कोई आचार्य इस हेतु का यह अर्थ करते हैं, कि लौकिक प्रत्यक्ष का विशेष्य (प्रधान) होनेसे शब्द अनित्य है; जाति और समवाय ये दोनों लौकिकप्रत्यक्षमें विशेषण (अप्रधान) ही होते हैं; और जातित्व का प्रत्यक्ष ही नहीं होता; और मनको इंद्रिय नहीं मानते, अथवा आत्मा का मानस प्रत्यक्ष भी नहीं मानते, इससे आत्मा में व्यभिचार नहीं लगता; परंतु व्यभिचार संदेह के वारक तर्क के नहोने से इस हेतु का भी खंडन कर देते हैं; इस से तीसरा "कृतकवदुपचारात्" हेतु दिया है, अर्थात् घट आदि जिन २ पदार्थों का कार्यत्व धर्म से प्रत्यक्ष होता है, वे अनित्य हैं, और शब्द का भी कार्यत्व धर्म से प्रत्यक्ष होता है, इस से शब्द अवश्य अनित्य है; और कोई यूंभी कहते हैं, उपचार (विनाश) से अन्यकार्यों की नाईं शब्द भी अनित्य है; और कोई यूंभी कहते हैं, कृतकसत्वआदिकी नाईं तीव्रमंदआदिव्यवहार से शब्द अनित्य है; नित्यपदार्थों में तीव्रता और मंदता कभी नहीं होती ॥५॥

नच्चटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ॥ १५ ॥

पूर्व कथित शब्द के अनित्यत्व के साधक तीनों हेतुओं में व्यभिचार दोष सांख्यकार देता है; कि तुमारे हेतु योग्य नहीं हैं, जिससे घट का अभाव (ध्वंस) और सामान्य (जाति) नित्य हैं; और नित्यों (आकाश आदि) में भी अनित्यों की नांई उपचार (तीव्रमंद आदि व्यवहार) होता है; अर्थात् घटध्वंस दंड आदि कारणों से उत्पन्न तो होता है, परंतु नाश के नहोने से नित्य है, इस से आदिमत्व हेतु व्यभिचारी (अप्रमाण) है, और सामान्य (घटत्व आदि जाति) का प्रत्यक्षतो होता है, परंतु यह (सामान्य) अनित्य नहीं, किंतु नित्य है, इससे ऐन्द्रियकत्व हेतु भी व्यभिचारी (अप्रमाण) है; इसी रीति आकाश में घटाकाश उत्पन्न हुआ, मठाकाश उत्पन्न हुआ, ऐसे घट आदि कार्यों की नांई व्यवहार होते हैं; परंतु वह (आकाश) अनित्य नहीं किंतु नित्य है; और आत्मा में अब मैं बहुत सुखी हूं, अब थोड़ा सुखी हूं, इत्यादि तीव्रमंद व्यवहार अन्य कार्यों की नांई होते हैं, परंतु यह (आत्मा) अनित्य नहीं, किंतु नित्य है; इस से तीसरा उपचार हेतु भी व्यभिचारी होने से अप्रमाण है; इन तीनों हेतुओं में व्यभिचार (हेतु के होने पर साध्यका नहोना) दोष लगने से सिद्ध प्रतीत हुआ, शब्द अनित्य नहीं, किंतु नित्य है, कंठ तालु आदि के अभिघात (टकरने) से प्रगट होजाता है, सूक्ष्म रूप से पहिले ही विद्यमान होता है, इस से शब्द नित्य है।

तत्वभाक्तयोर्ज्ञानात्विभागादव्यभिचारः ९६ ॥

पहिले आदिमत्व हेतु से अभिचार दोष का उद्धार करते हैं; तत्व(यथार्थ) और भाक्त(कल्पित) भेदों के विभाग(अंतर) से अभिचार दोष नहीं आता, अर्थात् ध्वंस में आदिमत्व(किसी कारण से उत्पन्न होना) हेतु जब रहता है, तो नित्यत्व (ध्वंस के प्रतियोगी नहोना, और प्रागभाव के प्रतियोगी नहोना) का अभाव अनित्यत्व साध्यभी अवश्य रहता है; इस से अभिचार दोष नहीं लगता; अर्थात् नाश के नहोने से जो नित्यत्व आपने ध्वंस में माना है वह औपचारिक(कल्पित) है; हम ने यथार्थ नित्यत्व का अभाव अनित्यत्व साध्य किया है; अथवा आदिमत्व हेतु का अर्थ और ही है कि प्रागभाव का प्रतियोगी जो सत्ता वाला है वह अनित्य है, ऐसा अनुमान बनालेते हैं; यद्यपि ध्वंस प्रागभाव का प्रतियोगी है, परंतु सत्तावाला नहीं है; इस से ध्वंस में हेतु ही नहीं जाता तो अभिचार कहां से लगता या अर्थात् हमारे अभिलषित हेतु(प्रागभाव के प्रतियोगी होके सत्तावाले होना) में तुम अभिचार नहीं देसकते, किंतु अन्य (कल्पित) हेतु में अभिचार तुमने दिया है; इस से हमारे मत को कुछ हानिनहीं है ९६ ॥ ❊ ❊

सन्तानानुमानविशेषणात् ९७ ॥

हमारे ऐंद्रियकत्व हेतु से अभिचारदोष का उद्धार करते हैं; अनुमान(अनुमिति के करण हेतु) में संतान(जातिमत्व) विशेषण देने से अभिचार दोष का वारण होजाता है; अर्थात् यद्यपि जाति का मत्वर्थ तो होताहै; तोभी

जाति में जाति के न रहने से हेतु ही नहीं रहा, तो व्यभिचार कहां से लगना था; ९७ ॥ ❊ ❊

कारणद्रव्यस्यप्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्ये ष्वप्यभिचारवृत्ति ९८ ॥ ❊

तीसरे उपचार हेतु से व्यभिचार दोष का वारण करते हैं, कारणद्रव्य (कारण वाले अनित्यद्रव्य) का प्रदेशशब्द के द्वारा अभिधान (कथन) से नित्यों (आकाशआदि) में अनित्यों की नांई प्रदेश व्यवहार के न होने से व्यभिचार नहीं आता; अर्थात् आकाश आदि में प्रदेश व्यवहार गौण होता है, मुख्य नहीं होता, क्योंकि आकाश आदि नित्य पदार्थोंका कारण ही कोई नहीं होता; इसी रीति अब मैं बहुत सुखी होगया हूं, इत्यादि प्रतीतिओं से तीव्रता, मंदता, अथवा उत्पत्ति सुख की ही जाननी योग्य है; आत्मा में तीव्रता वा मंदता वा उत्पत्ति की प्राप्ति ही नहीं है, और जिन (सुखआदि) में इन (तीव्रता आदि) की प्राप्ति है, उन (सुखआदि) के अनित्य होने में कोई संदेह ही नहीं है; अर्थात् उक्त तीनों हेतुओं से व्यभिचार दोषों के उद्धार से सिद्ध हुआ, कि शब्द अनित्य ही है ९८ ॥ ❊

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेश्चावरणाद्यनुपलब्धेश्च ९९ ॥

विरुद्ध पक्ष (शब्द को नित्यसिद्ध करनेवाले) के निषेध करनेवाले तर्कों से निश्चित होता है, कि उक्त हेतुओं में अप्रयोजकत्व दोष भी नहीं आता; उच्चारण से प्राक् (पहिले) अनुपलब्ध के न होने से और आवरण (रोकने के-

हेतु पदार्थ) के नदीखने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि श
ब्द अनित्य है; अर्थात् शब्द यदि नित्य होवे, तो उच्चारणसे
पहिले भी अवश्य सुनने में आवे; क्योंकि श्रोत्र इंद्रिय
के साथ समवाय संबंध तो नित्य होने से पहिले ही व
ना है; और प्रतिबंधक कोई देखने में नहीं आता, कि
जिसने शब्द के होने पर भी प्रत्यक्ष को रोक दिया हो;
और शब्द अन्य स्थान में चला जाता है, इस से प्रत्यक्ष न
हीं होता; यह भी नहीं कहसकते, जिस से शब्द अमूर्त
(मूर्त द्रव्योंसेभिन्न) है; इसलिये शब्द में क्रिया (गति)
किसीभांति भी नहीं हो सकती; और परमाणु आदि
अतींद्रिय अनंत पदार्थों को शब्द के प्रत्यक्ष में प्रति-
बंधक मानने की अपेक्षा शब्द को अनित्य मानने में ही
लाघव है; अनंत अतींद्रिय पदार्थों को प्रतिबंधक मा
नने से महागौरव दोष आता है १९ ॥ ❖

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः २०

किसी भ्रांतियुक्त पुरुष की आशंका इन दो सूत्रों से प्र
गट की गई है, आवरण की अनुपलब्धि (नदीखने)
के अनुपलंभ (नदीखने) से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि
किसी आवरण (प्रतिबंधक) की उपपत्ति (सिद्धि)
अवश्य होती है, अर्थात् जैसे आवरण का न प्रत्य
क्ष होने से तम आवरण के अभाव की कल्पना कर
ते हो, कि आवरण कोई नहीं है; इसी भांति आवरण
की कल्पना करते हैं; कि कोई आवरण अवश्य
है; २० ॥ ❖ ❖ ❖

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववन्ना
वरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् २१ ॥

अनुपलब्धि (नप्रत्यक्षहोने) के अनुपलंभ (नप्रत्यक्षहोने) से भी यदि तुम अनुपलब्धि का अभाव (आवरण का प्रत्यक्ष) न मानो, किंतु अनुपलब्धि (आवरण के प्रत्यक्ष का अभाव) ही मानो; तो इसीरीति आवरण का नप्रत्यक्ष होने पर भी हम आवरण का अभाव (नहोना) नहीं मानेंगे, किंतु आवरण कोई है, तोसिद्ध हुआ, कि कंठतालु आदिके अभिघात (टक्करने) से जब आवरण दूर होता है; इससे पहिले शब्द विद्यमान भी है, परंतु वही आवरण प्रत्यक्ष को नहीं होने देता; शब्द नित्यही है २१

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः २२

सिद्धांत यह है, कि आवरण के नप्रत्यक्ष के नप्रत्यक्ष से जो आवरण की सिद्धि कही है; यह जाति (दुष्ट) उत्तर है, अपने पक्ष की हानि कोई सिद्ध करता है; मेरे मत का निषेध नहीं करसकता, जिस से अनुपलब्धि (प्रत्यक्ष का नहोना) अनुपलंभ (ज्ञानाभाव) का स्वरूप है; परंतु ज्ञान का प्रत्यक्ष मन से होता है, तो मन से ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष होने में कोई विवाद नहीं है; पुनः अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) का अनुपलंभ (प्रत्यक्षनहोना) यह कथन सर्वथा असंगत है; अर्थात् शब्द अनित्य ही है २२ ॥

अस्पर्शत्वात् २३ ॥

अब उक्त सिद्धांतके अनुमानों में सत्प्रतिपक्ष दोष की आशंका करते हैं; अस्पर्श (स्पर्शरहित) होने से प्रतीत होता है, कि आकाश आदि की नाईं शब्द भीनित्यहै; २३

नकर्मानित्यत्वात् २४ ॥

उत्तर यह है, जिस से तुमारा हेतु व्यभिचारी (अप्रमाण) है; इससे सत्प्रतिपक्ष दोष कभी नहीं आता, जो जो पदार्थ स्पर्शरहित हैं, वेसब नित्य हैं; यह व्याप्ति (नियम) व्यभिचार खाजाती है, जिससे कर्म स्पर्शरहित तो है, परंतु नित्य नहीं किंतु अनित्य है; इसीरीति स्पर्श रहित होने पर भी शब्द के अनित्य होने में कोई दोष नहीं आता २४ ॥

नाणुनित्यत्वात् २५ ॥

व्यभिचारी (अप्रमाण) हेतु कभी प्रमाण नहीं होता, जिस से अणु (परमाणु) नित्य है; अर्थात् यदि व्यभिचारी हेतु प्रमाण माना जावे, तो रूपवत्व हेतु से परमाणु में भी अनित्यत्व की सिद्धि होजावे यथा घट आदि जो जो पदार्थ रूपवाले हैं, वे सब अनित्य हैं; वैसे ही परमाणु भी रूपवाले हैं, इससे अनित्य हैं; २५ ॥

सम्प्रदानात् २६ ॥

इसपर यह आशंका है, कि गुरु दान करके विद्यार्थी को विद्या देता है; परंतु दान उसी वस्तु का देसकता है, जो वस्तु पहिले ही अपने पास विद्यमान होवे; इस से सिद्ध हुआ, कि पढ़ाने से पहिले भी गुरु के

पास शब्द वर्तमान थे, अर्थात् नित्य थे, अन्यथा दान किस रीति कियाजावे; तो सिद्ध हुआ, कि शब्द नित्य है २६

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः २७ ॥

उस (छात्र के आने) के अंतराल में (पहिलेऔरपीछे) शब्द की अनुपलब्धि (प्रत्यक्षनहोने) से उक्त (दान) हेतु शब्द में नित्यत्व की सिद्धि नहीं कर सकता; अर्थात् छात्र जब आता है, तो गुरु पढ़ाते हैं; तब शब्द का प्रत्यक्ष होता है; यदि शब्द नित्य होवे, तो छात्र के आने से पहिले और पीछे भी अवश्य सुनने में आवे, और रोकने वाला तो कोई प्रतीत नहीं होता; इस से सिद्ध हुआ, कि शब्द अनित्य है २७ ॥

अध्यापनादप्रतिषेधः २८ ॥

पुनः आशंका करते हैं, कि अध्यापन (पढ़ाने) से मेरे हेतु का अप्रतिषेध (खंडन नहीं) है; अर्थात् शिष्य के आने से पहिले अथवा पीछे से यदि शब्द वर्तमान न होवे, तो गुरु का पढ़ाना किसभांति बने; केवल प्रत्यक्ष की सामग्री (कंठताल आदि का अभिघात आदि) के नहोने से पहिले प्रत्यक्ष नहीं होता, शब्द तो नित्यहोने से पहिले ही वर्तमान है; और उदयनाचार्य इनदो (२७ २८वें) सूत्रों को थूं लगाते हैं; परंतु विभक्तियों का परिवर्तन कर देते हैं, कि हेतु (स्वत) के नहोने से अंतराल (स्वत्वध्वंस नामीदान) की अनुपलब्धि (प्रत्यक्षनहीं होना) है; अर्थात् स्वत के न होने से शब्द का दान (स्वत्वध्वंस) कभी नहीं होने पाता; उनका यह है, कि दान

तो हमने कहा ही नहीं, किंतु अध्यापन(पढ़ाना)कहा है; परंतु पढ़ाना भी वर्त्तमान शब्द का ही हो सकता है, इस से नित्य ही है २८ ॥ ❊ ❊

उभयोः पदयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः २९

दोनों पदों में से एकपद(शब्द के अनित्यत्व साधक)का निषेध(खंडन) पढ़ाने से कभी नहीं हो सकता; छात्र के उच्चारण के अनुकूल गुरु का उच्चारण पढ़ाना कहाता है; यह उच्चारण(शब्दको स्थिर वा अस्थिर माने) दोनों पदों में तुल्य है; और पढ़ाना दान नहीं है, कि जिससे स्वत्वध्वंस की सिद्धि के अर्थ शब्द को स्थिर(नित्य) मानो; और एकही ग्रंथ को एक समय कई मनुष्य पढ़ासकते हैं; परंतु एकसमयवर्त्तिमनुष्योंकास्वत्वनहींहोसकता, यदि होतोएकमनुष्यदाननहींकरसकता,किंतु उपदेश(उच्चारण) मात्र है; शब्दअनित्यहै; २९ ॥

अभ्यासात् ३० ॥

इस पर यह आशंका करते हैं, अभ्यास(बारबार ग्रहण करने)से सिद्ध होता है; कि शब्द अवश्य नित्य है; अर्थात् बारबार जिस वस्तुको ग्रहण करते हैं वह स्थिर होता है, जैसे दसबार रूप को देखा, तोवह रूप स्थिर है; ऐसे ही दस वेद अनुवाक(वेदकाभाग) पढ़ा तो वह वेद का भाग भी अवश्य स्थिर है ३० ॥ ❊

नान्येनैकाभ्यासेनोपचारात् ३१ ॥

उत्तर यह है, यह आशंका योग्य नहीं है; जिस से भिन्न भिन्न पदार्थों में भी अभ्यास(बारबार ग्रहण) देखने

में आती है; इसलिये अभ्यास से स्थिरता नहीं सिद्ध हो-सकती. जैसे दोवेर हवन किया, अथवा तीनवेर नाचा, यहां हवन क्रिया (अग्नि में घी आदि का फेंकना) और नृत्य क्रिया (अंगोंकोताललयपरफेंकना) भिन्न भिन्न भी हैं, पुनः अभ्यास देखते हैं; इस से सिद्ध हुआ, कि अभ्यास से किसी एक वस्तु की स्थिरता नहीं होती ३१ ॥

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताभावः ३२

अन्यता (भेदपदार्थ) ही जगत में नहीं है; पुनः कैसे कहते हो कि पदार्थों का भेद होने पर भी अभ्यास होता है; यह तटस्थ की आशंका है; जो पदार्थ अन्य से अन्य होता है, वह पहिले पदार्थ से अनन्य (अभिन्न) होता है; और जो पदार्थ अभिन्न है, वह अन्य (भिन्न) कैसे हो सकेगा; जिस से भेद और अभेद दोनों इकट्ठे नहीं रहसकते; और सब पदार्थों में अपना २ अभेद अवश्य रहता ही है; पुनः इसविरोधी के होनेसे भेद पदार्थ जगत में कहीं नहीं रह सकता ३२ ॥

तदभावेनास्त्यनन्यतातयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ३३ ॥

उत्तर यह है, उस (भेद) के अभाव होने (नमानने) पर अनन्यता (अभेद) का होना भी अति कठिन है; जिस से भेद और अभेद दोनों परस्पर (एक दूसरे की) अपेक्षा से सिद्ध होते हैं; वास्तव यह है, भेद और अभेद इन दोनों में से अभेद (भेदाभाव) भेद के ज्ञान से विना कभी नहीं सिद्ध होसकता, जिस से अभाव के ज्ञान में प्रतियो-

गी का ज्ञान कारण होता है; ३३ ॥ ❖ ❖

विनाशकारणानुपलब्धेः ३४ ॥

पुनः आशंका करते हैं, कि शब्द नित्य है, जिससे विनाश के कारण का प्रत्यक्ष नहीं होता; अथवा ज्ञान नहीं होता ३४

अश्रवणकारणानुपलब्धेः

सततश्रवणप्रसङ्गः ३५ ॥

पहिले (प्रत्यक्षनहोने) के खंडन की युक्ति देता है; यदि प्रत्यक्ष के नहोने से वस्तु के अभाव का निश्चय किया जावे, तो अश्रवण (नसुनने) के कारण का प्रत्यक्ष नहोने से श्रवण (सुनने) की निवृत्ति नहोवे, किंतु निरंतर श्रवण (सुनना) ही होता चलाजावे; इस से सिद्ध हुआ, कि केवल प्रत्यक्ष की निवृत्ति से पदार्थ के अभाव का निश्चय नहीं होसकता ३५ ॥ ❖ ❖

उपलभ्यमानेचानुपलब्धेरसत्त्वादनुपदेशः ३६ ॥

अनुमान आदि प्रमाणों से विनाश के कारण का उपलंभ (ज्ञान) होने से प्रत्यक्ष मात्र की निवृत्ति से अनुपलब्धि (अज्ञान) का कथन अयुक्त है; इस से तुमारा हेतु अनुपदेश (असाधक) है, जिस से शब्द नित्यभाव है, इस से घट आदि की नाईं अवश्य विनाशी है; इस रीति शब्द में विनाश (ध्वंस) का अनुमान करके इसी कार्य (विनाश) से विनाश के कारण का अनुमान करते हैं,

यागिनि प्रयत्नाभिघाताच्छब्दाभावेनानुपलब्धिः ३७ ॥ ३६

सिद्धांत यह है, जब कांस्य आदि के पात्र से अभिघात के द्वारा शब्द उत्पन्न होता है, तो उसपात्र को हाथ लगाने

से वह शब्द निष्पन्न होजाता है; अर्थात् शब्द के नाश के कारण (पात्र से हाथ लगाने) का प्रत्यक्ष ही होगया, तो शब्द नाश के कारण की अनुपलब्धि का कथन सर्वथा असंगत है; कोई आचार्य इस सूत्र को यूं लगाते हैं, पाणि (हाथ) है निमित्त जिस का ऐसा जो पाणिज शब्द अर्थात् उत्तर शब्द इस से पहिले शब्द का अभाव (नाश) होने पर विनाश के कारण की अनुपलब्धि का कथन सर्वथा असंगत है; और कोई यूंभी कहते हैं, कि वस्तु का वेगाख्य संस्कार शब्द का हेतु है, इसी वेग की तीव्रता मंदता आदि से शब्द में तीव्रतामंदता आदि होते हैं; उस में भी उत्तर उत्तर शब्द पूर्व पूर्व शब्द के नाश का कारण माना है; हाथ के लगाने से यह वेग प्रत्यक्ष ही दीख पड़ता है, ३७ ॥ ❊ ❊ ❊

विनाशकारणानुपलब्धेरभावस्या नेतन्नित्यत्वप्रसङ्गः ३८ ॥

जिस वस्तु के नाश का हेतु कोई ना प्रतीत हो, वा जो निरंतर स्थित रहे, वह वस्तु नित्य होती है; परंतु शब्द के नाश का हेतु हाथ का लगाना भी प्रत्यक्ष दीख रहा है और शब्द निरंतर स्थित भी नहीं रहता, इससे जानते हैं, कि शब्द नित्य है ३८ ॥ ❊ ❊ ❊

अप्राप्तेरप्रतिषेधः ३९ ॥

इस पर वह आशंका करते हैं, घंटा के साथ हाथ लगाने से यदि शब्द निष्पन्न होजावे तो उस संयोग के अनंतर घंटा अथवा हाथ में ही शब्द उत्पन्न होवे; इस

का उत्तर देते हैं, घंटा आदि जिस से स्पर्शवाले हैं, इस से शब्द के आश्रय (उपादान) नहीं है; इसमें अनुमान प्रमाण है, यथा जिस वस्तु का असमवायि कारण अग्नि का संयोग नहीं, और जो वस्तु कारण के गुणों से कार्य में उत्पन्न होनेवाले गुणों से भिन्न हो, और जिसवस्तु का प्रत्यक्ष भी हो, वह वस्तु (ज्ञानआदि) स्पर्शवाली पृथ्वी आदिकों के विशेषगुण नहीं होती, इस अनुमानसे सिद्ध हुआ, घंटा आदि स्पर्शवाले पदार्थों में शब्द कभी नहीं रह सकता ४९ ॥ ❊ ❊ ❊ ❊

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्चासंभवः ५० ॥

इसीअर्थकोप्रगट करते हैं, समास (स्पर्शआदिकेसमूह) में सहचारी होके शब्द रहता है; यहकथन योग्य नहीं है, पाक से विना ही विभक्ति (उच्चनीच आदि विभाग) की सिद्धि से अर्थात् एक ही शंख से कभी ऊंचा कभी नीचाकभी मध्यशब्द विना पाक के निकलताहै; गंधस्पर्श आदिगुण तो पाक (अग्निसंयोग) से विना कभी न्यून अधिकनहीं होते, इस से स्पष्टप्रतीत हुआ, कि शब्द स्पर्श आदिका सहचारी कभी नहीं है ५० ॥ ❊

इतिशब्दकी अनित्यता का साधक न्यायसूत्रवृत्तिका दसवां प्रकरणसमाप्त हुआ. ॥ ❊ ❊

विकारादेशोपदेशात्संशयः ५१ ॥

शब्द को अनित्यसिद्ध करने के प्रसंग से शब्द को परिणाम रूपता का निषेध करने के अर्थ आदि में शब्द के परिणाम (विकार) रूप होने में संदेह दिखाते हैं; इकोयणचि, इत्यादि उपदेश सूत्रों के अर्थ में सांख्यकार तो यूं कहते हैं; कि इकार का विकार (कार्य) यकार है; और कई शास्त्रकार यह ही मानते हैं, इकार का उच्चारण करने के स्थान यकार का उच्चारण करना, ही आदेश है, इन दो कोटियों की उपस्थिति से यह संशय हुआ, कि शब्द विकार है, अथवा आदेश है; और विकार (कार्य) कहीं तो समवायिकारण के स्वरूप का नाश होजाने पर उपजता है, यथा बीज के स्वरूप का नाश होजाने से कार्य (वृक्ष) उत्पन्न होता है; और कहीं समवायिकारण (कपालआदि) का स्वरूप बने रहने पर भी कार्य (घटआदि) उत्पन्न होते हैं; ५१ ॥

प्रकृतिविहतौविकारविहतेः ५२ ॥

सांख्यकार जो इकारकाकार्य यकार मानते हैं, उन का मतखंडन करने के अर्थ यह (५२) वासूत्र कहा है; कि इकार का कार्य यदि यकार माना जावे तो प्रकृति (कारण) की विहति (अधिकता) से विकार (कार्य) की भी विहति होवे, जैसे छोटे कपालों से बने हुए घट की अपेक्षा बड़े कपालोंसे बना हुआ, घट बड़ा होता है; इसीरीति इस इकार से उत्पन्न हुए यकार की अपेक्षा दीर्घ इकार से उत्पन्न हुआ यकार बड़ा होना योग्य है; अ-

र्थात् कारण(इकार)के अठारह भेद से कार्य(यकार) के भी अठारह भेद होने योग्य हैं; इस से यही स्पष्ट प्रतीत होता है, आदेश मानना ही श्रेष्ठ है, गेहूं को जव का उपादान कारण मानना सर्वथा युक्ति से बाहर है; समवायि कारण इव ही होता है; गेहूंगुण समवायि कारणनहीं होसकता ४२ ॥ ❊ ❊

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकारणकारणाभ्युपगमाद्वेतः ४३

सांख्यकार का आक्षेप(प्रश्न)है, कि विकार(कार्य)कहीं तो कारण(मूल)की अपेक्षा से छोटे(नीच)देखने में आते हैं; और कारण(स्वर्ण)के तुल्य ही कार्य(कुंडलआदि)देखने में आते हैं; और कहीं नारिकेल की अपेक्षा बहुत ही छोटे वट के बीज से नारिकेल वृक्ष की अपेक्षा बहुत बड़ा वट-वृक्ष उत्पन्न होता है; वट के बीज की अपेक्षा बहुत छोटा नारिकेल का वृक्ष उत्पन्न होता है; और कहीं छोटे बड़े दो नारिकेलों से वृक्ष दोनों एकसे ही उत्पन्न होते हैं; इन युक्तियों से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि प्रकृति(कारण) की न्यूनता अथवा अधिकता से विकार(कार्य) की न्यूनता अथवा अधिकता का नियम करना सर्वथा असंगत है; अर्थात् अपने पक्ष(विकार के खंडन) की सिद्धि नहीं करसकता ४३ ॥

नातल्पप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ४४ ॥

उत्तर यह है, उक्तरीति से विकार की सिद्धि योग्य नहीं है; जिन कार्यों की प्रकृतियां(कारण) अतल्प(विलक्षण) हैं; वे कार्य भी अवश्य विलक्षण हैं; इससे यह

नहीं निकला, कि बड़े कारण से बड़ा कार्य और छोटे कारण से छोटा कार्य होता है; किंतु यह ही निकलता है, कि कारणोंकी विलक्षणता से कार्यों की विलक्षणता होती है; यह विलक्षणता उक्त सब उदाहरणों में स्पष्ट ही है; प्रकृत में ह्रस्वइकार की अपेक्षा दीर्घ ईकार तो विलक्षण है, परंतु कार्य यकारविलक्षणनहीं किंतुएकसे ही हैं; इस से आदेश पक्षही श्रेष्ठहै, विकारमाननायोग्य नहीं है किंतु यह उपचार छल है ४४ ॥

द्रव्यविकारवैधर्म्यवद्वर्णविकारवैलक्षण्यम् ४५ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि वट, नारिकेल आदि कारण द्रव्यत्व धर्म से सब तुल्य भी हैं, उनः उन के कार्यों में न्यूनाधिकता देखने में आती है, इसी रीति ह्रस्व दीर्घ इकारआदि वर्णों में वर्णत्व धर्म से तुल्यता भी हो तो भी कार्य यकार में तत्तद्व्यक्तित्व धर्मों से विलक्षणताआ ही जाती है, और वट आदि कार्यों में भी जैसे द्रव्यत्व धर्म से एकता और विशेष (वटत्व आदि) धर्मों से विलक्षणता भी है, ऐसे ही वर्ण के कार्यों (यकारों) में भी यकारत्व धर्मसे एकता और तत्तद्व्यक्तित्व धर्म से विलक्षणता भी है ४५ ॥ ❊ ❊ ❊

नविकारधर्मानुपपत्तेः ४६ ॥

समाधान यह है, वर्णों के कार्यों में द्रव्यों के कार्यों का सादृश्यदेना सर्वथा असंगत है, क्योंकि विकारों (कार्यों) का यह स्वभाव है कि प्रायशः प्रकृति (कारण) के सदृश होना, अर्थात् कारण की एकता से कार्यों की एकता और कारणों

के भेद से कार्यों का भेद होता है, प्रकृत में ह्रस्वत्व दीर्घत्व धर्मों से इकारों का भेद होने पर भी यकारों का भेद नहीं देखने में आता; और नञ्शक्तित्व से यकारों के भेद का कथन भी अन्यथासिद्ध है; क्योंकि नञ्शक्ति से तो ह्रस्व इकारों का भी परस्पर भेद होता है, तो इस धर्म से उनके यकारों का भेद भी सिद्ध होजावे; परंतु ह्रस्वत्वदीर्घत्वधर्मों से इकारों का भेद होने पर भी यकारों का भेद नहीं होता, इस से प्रतीत हुआ, शब्द विकार नहीं है ४६ ॥ ❖ ❖ ❖

विकारप्राप्तानामपुनराप्तेः ४७ ॥

इस हेतु से भी प्रतीत होता है, कि शब्द का कार्य शब्द नहीं हो सकता, जिस से विकार (कार्य) रूप से जो प्राप्त (उत्पन्न) हुआ, वह पुनः कारण रूपता को कभी नहीं प्राप्त होता, प्रकृत में "दध्यत्र" यहां इकार यकार रूपता को प्राप्त होके भी पुनः दधि अत्र यहां वक्ता की इच्छा से इकार का रूप बन जाता है; परंतु दूध से दधि उत्पन्न होने पर पुनः कभी दूध नहीं बनता; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शब्द को विकार रूप मानना सर्वथा असंगत है ४७ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

सुवर्णादीनांपुनरापत्तेरहेतुः ४८ ॥

इस पर यह आशंका करते हैं, कि सुवर्ण आदि पहिले स्वरूप (कड़े आदि) को त्यागके कुंडल बने हुए पुनः कड़े बन सकते हैं; तो प्रतीत हुआ, कि तुमारा कथन सर्वथा असंगत है; कि कार्य एक वेर उत्पन्न होके पुनः

कारण रूप कभी नहीं हो सकता; क्योंकि सुवर्ण आदि में अभिचार लगा, इस से प्रतीत हुआ, शब्द विकार रूप है, यह सांख्य का मत ही श्रेष्ठ है; आदेश पक्ष का मानना योग्य नहीं प्रतीत होता; यह सांख्य कारों का सिद्धांत है;

तद्विकारणांसवर्णाभावाव्यतिरेकात् ५९ ॥

उत्तर देते हैं, कि सवर्ण का दृष्टांत योग्य नहीं है; क्योंकि सुवर्ण के विकार कुंडलआदि का कारण सुवर्ण ही है; कड़े आदि कारण नहीं हैं, परंतु कारण (कड़ेआदि) अथवा कार्य (कुंडलआदि) सुवर्णत्व धर्म को कभी नहीं त्यागते, अर्थात्जिस धर्म (उकारत्व) से कारणता हो, उस धर्मको त्याग के कार्य अन्य धर्म (पकारत्व) को ग्रहण करके पुनः उकारत्व को प्राप्त होने से प्रतीत होता है, कि उकार का विकार (कार्य) यकार नहीं होसकता; इस सवर्ण का दृष्टांत देना सर्वथा असंगत है ५९ ॥ ❖ ❖

वर्णत्वाव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ६०

पुनः आशंका करते हैं, कि दृष्टांत का प्रतिषेध (खंडन) नहीं बनता; क्योंकि सुवर्ण के कारण और कार्य जैसे सुवर्णत्व धर्म को कभी नहीं त्यागते, इसी रीति वर्ण के कारण और कार्य भी वर्णत्व धर्म को कभी नहीं त्यागते, इनः शब्द को परिणाम स्वरूप मानने में क्या दोष है; ६०

सामान्यवतोधर्मयोगान्नसामान्यस्य ६१ ॥

इस का उत्तर यह है, सामान्य (कड़े कुंडलआदि) वाले सुवर्ण को धर्म (कारणता) का योग (संबंध) है; सामान्य (कुंडलआदि) में कारणता का संबंध नहीं है, अ-

र्थात् कुंडलआदि को कार्यों के प्रति सुवर्णत्व धर्म से कारणता है, जिस (सुवर्णत्व) को कार्य और कारण कभी नहीं त्यागते, प्रकृत में यकार के प्रति इकारत्व धर्म से कारणता है; जिस (इकारत्व) को त्याग कार्य (यकार) बन के पुनः इकार बनजाता है, वर्णत्वधर्म से कारणता ही नहीं है, कि सुवर्णका दृष्टांत दें, किंतु आदेशपद होनेसे है

नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वेचानवस्थानात् ५२ ॥ (५१

शब्द विकार (कार्य) रूप नहीं है, इस में मूल युक्ति दिखाते हैं; कि शब्द यदि नित्य हो, तो विकार का होना सर्वथा असंगत है; और यदि शब्द अनित्य हो, तो पहिले क्षण में शब्द उत्पन्न होके दूसरे स्थिति के क्षण में प्रत्यक्ष होके तीसरे क्षण में शब्द का नाश होजावेगा; विकार का होना पुनः असंगत ही रहेगा, अर्थात् शब्द को नित्य मानें, अथवा अनित्यमानें, दोनों पक्षों में शब्द का विकार नहीं सिद्ध होसकता; ५२ ॥ ❖ ❖ ❖

नित्यानामतीन्द्रियत्वाद्धर्मविकल्पा
त्सुवर्णविकारवन्नाप्रतिषेधः ५३ ॥

अब विकारवादी (सांख्यकार) शब्द को नित्य मानके उक्त दोषका परिहार (दूर) करते हैं; दोषों के विकारों का प्रतिषेध (खंडन) योग्य नहीं है, नित्यपदार्थों के धर्मों (अतीन्द्रियत्व, ऐन्द्रियकत्व) के भेद से जैसे आकाश आदि नित्य पदार्थ ऐंद्रियक (इंद्रियोंसे ग्रहण करने के योग्य) नहीं हैं; और नित्य भी गोत्व आदि जाति ऐंद्रियक (इंद्रियोंसे ग्रहण करनेके योग्य) हैं; इसी रीति

अन्यनित्यपदार्थ (आत्माआदि) का विकार नाभी हो, परंतु नित्य वर्णा (इकारआदि) का विकार (यकारआदि) अवश्य होता है; अर्थात् सब नित्य पदार्थ एकही स्वभाव नहीं रखते, जैसे किसी नित्य का प्रत्यक्ष होता है; किसी का नहीं होता, ऐसेही किसी नित्य पदार्थ का विकार होता है, किसी का नहीं होता ५३ ॥ ⁘ ⁘ ⁘

अनवस्थितेचवर्णोपलब्धि
वन्नविकारोपपत्तिः ५४ ॥

अब विकारवादी शब्द के अनित्यत्वपक्ष में भी विकार होने की युक्ति दिखाता है; अनवस्थित (हमरेदर्शनकस्थित) होने पर भी जैसे शब्द (वर्णा) का प्रत्यक्ष होता है, ऐसे ही विकार (कार्य) भी वर्णा का उत्पन्न होजावेगा

विकारधर्मित्वेनित्यत्वाभावात्कालान्तरे (५४ ॥

विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ५५ ॥

नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों पक्षों में सांख्यके कहे वर्णा के विकार का खंडन करते हैं; यदि वर्णा का विकार माना जावे, तो वर्ण नित्य नहीं होसकते क्योंकि यहां विकार शब्द का यह अर्थ है, कि अपने प्रथम स्वरूपको त्याग के अन्य स्वरूप को ग्रहण करना यह (विकार) नित्य (चिरतकरहनेवाले) पदार्थों का कभी नहीं होसकता, और कपाल जैसे घट के कारण हैं; ऐसे इकार यकार का कारण कभी नहीं होसकता; क्योंकि कार्य (घट) के उत्पन्न होनेपर भी कारण (कपालों) का प्रत्यक्ष होता रहता है; प्रकृत में कार्य (यकार) के उत्पन्न होने पर

कारण (इकार) का प्रत्यय नहीं होता; और शब्द को अनित्य न मानने पर प्रत्यय का दृष्टांत देके जो विकार मानना, वह भी अयुक्त है; क्योंकि प्रत्यय तो हमारे दण में ही माना है, और विकार में हमारे दण का नियम नहीं बहुत काल के अंतर से भी होता है; दधि कह के जब अब कहचुके तो इकार नष्ट होगया, विकार किसका होगा ५५ ॥

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ५६ ॥

और एक यह मुख्य हेतु है, कि वर्णों का विकार नहीं हो सकता; कार्यों और कारणों का यह दृढ़ नियम है, उपादान कारण (दध्यादि) कभी कार्य (दहीआदि) नहीं होसकता और कार्य (दहीआदि) कभी उपादानकारण नहीं होसकते, परंतु वर्णों में यह नियम नहीं चल सकता; क्योंकि "दध्यत्र" यहां इकार उपादान कारण और यकार कार्य है; और "विध्याति" यहां यकार उपादानकारण और इकार कार्य है; इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि वर्णों के विकार मानने सर्वथा असंगत हैं; किंतु आदेश यही श्रेष्ठ है ५६

अनियमे नियमान्नानियमः ५७ ॥

इस पर कोई छल से आशंका करते हैं; कि अनियम (कोई नियम नहीं रखना) के नियम से ही प्रतीत होता है, वर्णों के नियम का प्रतिषेध (खंडन) करना योग्य नहीं है; ५७ ॥

❊ ❊ ❊

नियमानियमविरोधादनियमे
नियमाच्चाप्रतिषेधः ५८ ॥

उत्तर यह है, कि नियम और अनियम (नियमकाअभाव)

ये दोनों विरुद्ध हैं; अर्थात् एकस्थान में इकट्ठे कभी नहीं रह सकते, और अनियम (नियमाभाव) का स्वीकार तुमने कर ही लिया है; तो इसीविरोधीके होने से नियम का होना युक्ति से बाहर है, और जब यह नियम नहीं है, तो वर्णों के विकार का मानना सर्वथा असंगत है; किंतु आदेश पक्ष ही श्रेष्ठ है ५८ ॥ ❖ ❖ ❖

गुणान्तरापन्नुपमर्द्दाग्रहादिलेशश्लेषे
भ्यस्तविकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ५९ ॥

इसरीति वर्णों के कार्यकारण भाव का खंडन करके अपने मत में विकार का व्यवहार (कथन) सिद्ध करते हैं; इस सूत्रभेद का अर्थ पुनः है, इन हेतुओं से वर्णों के विकार (एकवर्णके कथन से दूसरे वर्ण के कथन) की उपपत्ति (सिद्धि) होने से वर्णों के विकार का व्यवहार (कथन) होता है; उन प्रत्येक हेतुओं का वर्णन करते हैं, यथा गुणांतरापत्ति (वर्णके वने रहने पर ही उस में अन्यधर्म के आजाने) से विकार का व्यवहार होता है; जैसे वर्त्तमान उदात्तस्वर को किसी सूत्र के बल से अनुदात्त करदेना; और उपमर्द्द (पहिले शब्द को हरकरके दूसरे शब्द के प्रयोग) से विकार का व्यवहार होता है; जैसे पहिले वर्त्तमान अस्ति के स्थान में भू का प्रयोग करते हैं; और ह्रास (दीर्घ को ह्रस्वकरने) से, ह्रादि (ह्रस्वको दीर्घ करने) से, लेश (किसी अंश का लोपकरने) से और श्लेष (आगम) से इन सब हेतुओं से विकार का व्यवहार (कथनमात्र) होता है;

सिद्धांत में आदेश पक्ष ही श्रेष्ठ है २५ ॥ ∴ ∴
इति शब्द के परिणाम खंडन करने का २२ वां प्रकरण
न्यायसूत्रहानि का समाप्त हुआ, ॥ ∴ ∴

नेविभक्त्यन्ताः पदम् ९० ॥

शाब्दबोध में पदजन्य पदार्थ का ज्ञान कारण होता है; इस से पदार्थ का निरूपण करनेके अर्थ आदि में पद का निरूपण करते हैं; विभक्ति (सुप् अथवा तिङ् प्रत्यय) जिन के अंत में हो, ऐसे वे (वर्ण) पद कहाते हैं; यह नहीं नियम है, कि वर्ण बहुत ही हों; और अंतमें विभक्ति का होना भी आवश्यक नहीं, किंतु अंत में विभक्ति होनेके ज्ञान की आवश्यकता है; सुप् प्रत्याहार और तिङ् प्रत्याहार के अंतरगत प्रत्ययों को विभक्ति कहते हैं; सिद्धांत यह जानना, कि यह पद शाब्दबोध का उपयोगी नहीं, किंतु यह आकांक्षा का स्वरूप है; अथवा विभक्ति अर्थात् इति (शक्ति अथवा लक्षणा) का है, अंत (संबंध) जिन वर्णों में वे पद हैं; अर्थात् शक्ति अथवा लक्षणा के द्वारा जो वर्ण अर्थ का बोध करावे, उसे पद कहते हैं; इससे प्रतीत हुआ, कि पदका निरूपण करके पदार्थ का निरूपण करना योग्य (संगत) है; और जो कहते हैं, कि असंग संगति (एकसंबंधी के ज्ञान से दूसरे संबंधी के ज्ञान) से पदार्थ का निरूपण करते हैं; यह कथन पद निरूपणकी असंगति से अयोग्य है; पदनिरूपणका प्रकरण इथक भीनहीं करसकते, एकसूत्रकाप्रकरणही नहीं होसकता

नदर्शेऽव्यक्त्याकृतिजातिसन्निधा-
वुपचारात्संशयः ६१ ॥

इस रीति पद का निरूपण करने से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि शक्ति अथवा लक्षणा के द्वारा पदसे जिस का बोध हो, उसे पदार्थ कहते हैं; उन पदार्थों में से भी मात प्रत्यय आदि के अर्थ तो व्याकरण आदि के द्वारा निश्चित ही हैं; इस से गो, वट आदि पदों के अर्थ का निरूपण करते हैं, व्यक्ति (गो आदि) जाति (गोत्व आदि) आकृति (अवयवों के संयोग) इन तीनों के संबंध से पदार्थ का ज्ञान होता है; इससे यह संदेह होता है; कि व्यक्ति, जाति, आकृति इन तीनों का युगपत् (इकट्ठा) प्रयत होने से ये (व्यक्ति आदि) प्रत्येक पदार्थ हैं; अथवा समस्त (सारे) पदार्थ हैं; कोई आचार्य कहते हैं, यह सूत्र नहीं, किंतु भाष्य है; सिद्धांत यह जानना, कि अक्षरों के काठिन्य से औदीक्षाकारों की प्रवृत्ति से प्रतीत होता है; कि यह सूत्र ही है, केवल इस सूत्रका "नदर्शे" इतना अंश भाष्य के पाठका प्रतीत होता है; अर्थात् यह संदेह हुआ, कि पद का अर्थ व्यक्तिवाजाति वाआकृति अथवा व्यक्ति आदि तीनों हैं ६१ ॥ ❖ ❖

यावद्द्रव्यभावित्वाद्गुणपरिमाणसंख्याद्रव्यचयवर्ण-
समासानुबन्धानांव्यक्त्याकृतिजातिः ६२ ॥

इस अवसर में केवल व्यक्ति को पदार्थ मानने वालों का मत युक्ति सहित दिखाते हैं; कि गौजाती है, यह व्यवहार व्यक्ति में ही होता है; अमूर्त्त होने से जाति और आकृति में यह क्रिया का व्यवहार कभी नहीं हो सकता; ऐसे ही

गौओं का समूह यह समुदाय का व्यवहार (कथन) भी व्यक्तियों में ही होसकता है; गोत्वजाति तो एक ही है, उस का समूह शब्द से क्या कहना था; गौको देना है यह दान भी जाति अथवा आकृति का तो हो ही नहीं सकता, किंतु दान भी व्यक्ति का ही होसकता है; ऐसे ही गौ को लेता है, यह लेना भी व्यक्ति का ही होसकता है; जाति अथवा आकृति का लेना सर्वथा असंगत है; और ये दश गौ हैं, यह संख्या का व्यवहार भी व्यक्ति में ही हो सकता है, क्योंकि जाति अथवा आकृति तो एक ही है; और गौ बड़ी है, गौ कृश होगई है, गौ कपिल वर्ण की है, गौने बछड़ा दिया है, गौ बैठी है, यह गौ का मुख है, इत्यादि व्यवहार जाति अथवा आकृति में किसी रीति भी नहीं होसकते, हैं; इस से सिद्ध हुआ, कि पद का वाच्य अर्थ व्यक्ति ही है ९२

नतदनवस्थानात् ९३ ॥

व्यक्ति को पद का अर्थ मानने में दोष देते हैं; कि व्यक्ति में पद की शक्ति नहीं मान सकते, जिस से व्यक्तियों की व्यवस्था (संख्याकानियम) नहीं है; अर्थात् व्यक्ति अनंत हैं, उनमें शक्ति मानने से अनुगम (हद्दनियम) नहीं बन सकता; ९३ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

सहचरणस्थानतदर्थहन्नमानधारणसामीप्य योगसाधनाधिपत्येभ्योब्राह्मणमञ्चकरराजपुरुषचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ९४ ॥ ❖ ❖ ❖

और केवल व्यक्ति में ही शक्ति मानें, तो गो पद से किसी

एक गौका ही बोध होवे, सब गौओं का बोध न होवे; इस से गोत्व आदि जाति विशिष्ट गोव्यक्ति (सब गौओं) में शक्ति माननी योग्य है; परंतु विशेषण के ज्ञान से विना विशिष्ट (विशेषणवाले) का ज्ञान कभी नहीं होता; इस नियम से जाति में ही शक्ति मानें; जब केवल जाति में ही शक्ति हुई, तो व्यक्ति का ज्ञान किस रीति होगा; इस से यह ४४ वां सूत्र कहा है, कि जिन पदार्थों का ज्ञान जैसे परंपरा (लक्षणादि) से होता है, इसी रीति व्यक्ति में पद की शक्ति ना भी हो, तो लक्षणा से व्यक्ति का बोध होता है; शक्ति तो लाघव से जाति में ही माननी योग्य है; जैसे सहचरण (संयोगविशेष) से "लाठी को भोजन कराओ" इस वाक्य में लाठी पद से लाठीधारण करने वाले ब्राह्मण का ज्ञान होता है; स्थान (स्थिति) से "मंजेबोलते हैं" इस वाक्य में मंजों पर बैठे मनुष्यों का ज्ञान मंच शब्द से होता है; ऐसे ही तादर्थ्य (उसके लियेलेआने) से कट के हेतु वीरण (तृणविशेष) में कट शब्द, हन (यम की नाईं दंडदेने) से राजा में यम शब्द का प्रयोग होता है; मान (आढ़कमापने) से तंडुलों में आढ़क शब्द का प्रयोग होता है; धारण (उठाने) से तुला (तराजू) में घृत चंदन भी तुला कहाता है; समीपता से "गंगा पर गोएंचरती हैं" इस वाक्य में गंगाशब्द से गंगासमीपी देश का बोध होता है; योग (कुलरूप के संबंध) से शकट (गाड़ी) में कुल शब्द का योग होता है; प्राणों के साधन (कारण) होने से अन्न को प्राण कहते हैं; और कुल का स्वामी होनेसे राजा को ही कुल कहते हैं, इत्यादि उदाहरणों में जैसे गं-

ग आदि पदों से तीर आदि का बोध लक्षणा से होता है, ऐसे ही घट आदि पदों का वाच्य द्रव्य आदि रहे, तौभी व्यक्तियों (घटों) का बोध लक्षणा से होजावेगा, इस से यह दोष भी दूर होगया, कि दो पदार्थों में एक पद की एकही शक्ति नहीं हो सकती क्योंकि जाति में ही केवल शक्ति मानी है, दोमें शक्ति नहीं मानी है; और यह दोष भी दूर होगया, कि एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से अन्वय होता है, जाति और व्यक्ति येदोनों यदि एक पद के अर्थ मानें तो इन का परस्पर अन्वय न होवे; क्योंकि जाति को ही पदार्थ माना है; और गोत्वन्यधर्म से जब गोत्वमें शक्ति मानी है, तो अन्वयी की उपस्थिति (ज्ञान) विशेषण से विना नहीं हुई, किंवा दोष में किसीप्रकारकी न्यूनता आवे; यहजाति वादी का मत है; ९५ ॥ ❖ ❖ ❖

आकृतिस्तदपेक्षत्वात्तस्यावस्थानसिद्धेः ९५

आकृतिवादी का मत (केवल आकृतिपद का मुख्य अर्थ है) दिखाते हैं; तस्य (गौ आदिजीवों) की अवस्था (नियम) केवल आकृति (अंगों की रचना) सेही सिद्ध होसकती है, इस से केवल आकृति ही पद का मुख्य अर्थ है; अर्थात् यह गौ है, यह घोड़ा है, इत्यादि व्यवहार केवल आकृति (अंगों की रचना) से ही सिद्ध होसकते हैं; इसलिये केवल आकृति (अंगों की रचना) ही पद का मुख्य अर्थ है; जाति अथवा व्यक्ति पद का मुख्य अर्थ नहीं है ९५ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

व्यक्त्याकृतियुक्तेष्वसङ्गत्वोदनां दीनामङ्गवैकल्यात् ॥ ९९ ॥

अब जातिवादी व्यक्ति और आकृति इन दोनों में शक्ति का खंडन करके केवल जाति में शक्ति की सिद्धि करता है; सिंही की बनी हुई गौ भी एक व्यक्ति है, और इस (सिंहीकीगौ) की आकृति (अंगरचना) भी यथार्थ गौ के तुल्य है, परंतु प्रोक्षण आदि (वेद में कहे बलिदेनाआदि) में इस (सिंहीकीगौ) का प्रसंग (संबंध) ना देखने से विदित होता है; कि जाति ही मुख्य अर्थ है, अर्थात् वेद में कहे बलि आदि कर्म यथार्थ पशुओं की नांई सिंही के पशुओं से कभी नहीं होसकते यद्यपि उन की आकृति (आकार) भी अन्य यथार्थ पशुओं के समान है; और व्यक्ति के होने में कोई संदेह ही नहीं भी है; इस से स्पष्ट हुआ, कि पद का मुख्य अर्थ जाति ही है ९९ ॥

नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ९० ॥

केवल व्यक्ति और आकृति में शक्ति का निषेध करके केवल जाति में शक्ति का निषेध करते हैं; व्यक्ति और आकृति को त्याग के जाति का शब्दबोध कभी नहीं होसकता, और शक्ति से विना शब्दबोध में व्यक्ति और आकृति का ज्ञान भी किसीरीति से नहीं होसकता; पुनः केवल जाति में ही शक्ति माननी, अर्थात् केवल जाति को ही पद का मुख्य (प्रधान) अर्थ मानना सर्वथा असंगत है; इस पर सब आर्य कहते हैं, कि गो पद की शक्ति तो केवल गौ में ही है; परंतु गौ से गोत्वजाति और व्यक्ति

ति (सास्नादि अंगोकीरचना) वाली व्यक्ति (गो) का शब्दबोध होता है; उत्तर यह है, कि शक्ति से विना ही गो पद से यदि व्यक्ति और आकृति का ज्ञान माना जावे, तो गोत्व में भी गो पद की शक्ति न होवे; द्रव्यत्व आदि उदासीन जातियों में शक्ति होजावे, व्यक्ति और आकृति की नाईं विना ही शक्ति के गोत्व जाति का भी ज्ञान होजावेगा; किंतु शक्ति से विना किसी पदार्थ का भी ज्ञानशब्द से नहीं होता, इससे केवल जाति पद का मुख्यअर्थ नहीं है ९७

व्यक्त्याकृतिजातयस्तुपदार्थः ९८ ॥

इस विचार से सिद्ध हुआ; व्यक्ति, आकृति, जाति, इन तीनों में पद की शक्ति है; इस ९८ सूत्र में तु शब्द से व्यक्ति आदि प्रत्येक में शक्ति का निषेध किया है; और व्यक्ति आदितीनोंमें एकशक्ति जताने के अर्थ यह (पदार्थः) एकवचनदिया है; तीनों में पृथक् शक्तियां मानें, तोभी किसीकाबोधहो, किसीकानहो, तीनों में शक्ति तो तुल्य है, परंतुविशेष्य होने से व्यक्ति प्रधान है; तीनोंमें एक धर्म कोई नहीं जिस से एकशक्तिमानें, तौभी लाघव से एक ही शक्तिमाननी धर्मका कोई नियम नहीं है, इस सूत्र में जातिपद से सामान्य धर्मलेना, इससे पशुत्वजाति नहीं भी है; तौभी कोई दोषनहीं ९८ ॥ ❋

व्यक्तिर्गुणविशिष्टाप्रधानमूर्तिः ९९ ॥

वे व्यक्ति आदि कौन से हैं, इस अपेक्षा से कहा है; संख्या आदि सामान्य गुणों से भिन्न रूप आदि जाति और आकृति के सहचारी (इकट्ठे रहनेवाले) गुणों वाली मूर्ति

(परिमाणमेंमध्यम) व्यक्ति कहाती है; और कई ग्रंथकार यूं कहते हैं, कि गुण (रूपआदि) विशेष (उत्क्षेपणआदि कर्म) जिस में रहें, उसे व्यक्ति कहते हैं; अर्थात् द्रव्यको व्यक्ति कहते हैं, परंतु जिस में जाति रहे, ऐसे द्रव्य को व्यक्ति कहते हैं; विशेष लक्षण यह (मूर्ति) है, अर्थात् मध्यम (अणोरपरममहतश्चभिन्न) परिमाण जिसमें रहे, उसे व्यक्ति कहते हैं; यद्यपि जातिआदि भी व्यक्ति हैं, उनमें उक्त लक्षण के बजाने से अव्याप्ति दोष लगता है; तो प्रमेयत्व ही व्यक्ति का लक्षण जानना, तौभी जाति और आकृति जिस में रहे, ऐसी व्यक्ति का लक्षण यहां किया है; कोई कहते हैं, कि इतना (मूर्ति) ही व्यक्ति का लक्षण है; अर्थात् गुणविशेष (मध्यम परिमाण) जिस में रहे, ऐसे मूर्त द्रव्य को व्यक्ति कहते हैं; ६९ ॥

आकृतिर्जातिर्लिङ्गाख्या ७० ॥

क्रम से प्राप्त आकृति का लक्षण करते हैं, जाति का लिंग (बोधकहेतु) आकृति कहाता है; वह आकृति (अंगोंकासंयोग) परंपरासंबंध (स्वसमवायिसमवेतत्व) से द्रव्य (व्यक्ति) में रहती है; अर्थात् द्रव्य की असमवायिकारणता कानियम बांधने वाली जाति जिसमें रहे; उसे भी आकृति कई ग्रंथकार मानते हैं ७० ॥ ❋

समानप्रसवात्मिकाजातिः ७१ ॥

क्रम से प्राप्तजाति का लक्षण करते हैं, समान (एकाकारकी) प्रसव (प्रतीति) का उपजाना है, आत्मा (स्वरूप) जिस का उसे जाति कहते हैं; अर्थात् अनंत एकएक द्रव्य

क पदार्थों (घटआदि) में जिस धर्म (घटत्वआदि) की एक ता से प्रतीति एकसी ही होती है, वह धर्म (घटत्वआदि) जाति होता है; कोई यूं भी कहते हैं, कि एकसी प्रतीति को उपजाने के योग्य, अनेक पदार्थों में समवाय संबंध से वर्त्तमान, नित्य (उत्पत्ति और विनाश से रहित) धर्म जा ति कहाता है; परंतु यह स्मरण रहे, कि शब्दबोध में पदों से जाति और व्यक्ति की नाईं आकृति का बोध कभी न-हीं होता; अनुभव के बल से जाति और व्यक्ति का ज्ञा न ही पदों के ज्ञान से माना गया है; नहीं तो लाघव से जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही पदों की शक्ति माननी योग्य है ७१ ॥ ❊ ❊ ❊ ❊

इति न्यायसूत्रवृत्ति में शब्दशक्ति की परीक्षा का १४ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ❊ ❊

दूसरे अध्याय का दूसरा आह्निक समाप्त हुआ ॥

विभाग की परीक्षा के सब अंगों के साथ समासों की परीक्षा समाप्त हुई ॥ ❊ ❊

इति श्रीविश्वनाथपंचानन की बनाई न्यायसूत्रवृत्ति के दूसरे अध्याय का ये सुखदायक भाषी का बनाया हिंदी भाषा में अनुवाद समाप्त हुआ २ ॥

३य. अध्यायकी प्रवतरणिका.

जिस की कृपा से विना मनुष्य हल आदि जड़ पदार्थ के समान होजाता है; जिसकी करुणा के लेश मात्र से मनुष्य मोहजाल (अज्ञान के समुद्र) को तैर जाता है; उस (सरस्वती) को हृदय-कमल में स्थित (ध्यान) कर के सुंदर वाणी के प्रचार (विस्तार) की कामना से सब देवताओं में उत्कृष्ट सरस्वती को मैं सर्वदा नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

अब चार प्रमेयों की परीक्षा के अवसर में आत्मा आदि छे प्रमेयों की परीक्षा तीसरे अध्याय में होगी; इस लिये आत्मा आदि छे प्रमेयों की परीक्षा तीसरे अध्याय का प्रयोजन कह दिया. इस अध्याय में से आत्मा आदि चार प्रमेयों की परीक्षा १म. आह्निक का प्रयोजन है. इस आह्निक में ९ नौ प्रकरण हैं, इन में से भी आदि मे आत्मा को इंद्रियों से पृथक सिद्ध करने का १म. प्रकरण है, आगे जैसे प्रकरण आवेंगे, उनके नाम वहां ही लिखे जावेंगे; इस १म. प्रकरण में इंद्रियों के ज्ञान है, अथवा नहीं ऐसा संदेह होने पर इंद्रियों को ज्ञान मानने वालों की यह आशंका है, कि ज्ञान देने का (साधन) इंद्रिय हैं, यह सिद्धांत सब ने माना है, तो इन्द्रियों मे ज्ञान के कर्ता (चेतन) भी इंद्रिय आत्मा लिये जावें, तो कोई दोष नहीं आता, अतः इंद्रियों से पृथक आत्मा (चेतन) का मानना, कोरा दोष से सर्वथा अदूषित है; और आत्मा शब्द के अनेक अर्थ मानने

अथवा इंद्रियोंको भौतिक (भूतोंसेउत्पन्न) माननेसे संकर दोषभीनहींआता; इसमतकेखंडनकेलियेसूत्र-कहा है ॥ ❊ ❊ ❊

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् १

दर्शन (चक्षु) और स्पर्शन (त्वचा) से एक ही पदार्थका ग्रहण (ज्ञान) होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि आत्मा इंद्रियों से पृथक है; अर्थात् इंद्रियों को चेतन मानें, तो यह प्रतीति न होवे, कि जिस घट को मैं ने आंख से देखा था, उसी को अब त्वचा से स्पर्श करता हूं; क्यों कि जिस (चक्षु) में देखने की सामर्थ्य है, वह (चक्षु) स्पर्श नहीं कर सकता, और जो (त्वचा) स्पर्श करता है, वह (त्वचा) देख नहीं सकता; इस से सिद्ध हुआ, कि चक्षु त्वचा आदि द्वार मात्र हैं; जानने वाला आत्मा इंद्रियों से भिन्न ही है १ ॥ ❊ ❊ ❊

नविषयव्यवस्थानात् २ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि विषयों (रूप आदि) की व्यवस्था (नियम) से इंद्रियों में चैतन्य का खंडन करना योग्य नहीं है; अर्थात् एक एक चेतन (इंद्रिय) से एक एक विषय (रूपआदि) का ज्ञान होता है; उस अभेद का ज्ञान भ्रम (अयथार्थ) होने से अप्रमाण है, किंतु इंद्रिय ही चेतन हैं २ ॥ ❊ ❊

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ३ ॥

सिद्धांत यह है, कि इसी (विषयोंकी) व्यवस्था से ही

आत्मा की सिद्धि होने से आत्मा का प्रतिषेध (खंडन) योग्य नहीं है; अर्थात् भिन्न २ प्रत्येकों के उपादान कारण भिन्न २ इंद्रिय मानने से गौरव दोष लगता है; और किसी विशेष हेतु से विना अनुभिति आदि ज्ञानों के उपादानकारण सब इंद्रिय मानने से भी गौरव दोषआता है, और चक्षु आदि इंद्रियों के नाश से अनंतर रूप आदि विषयों का स्मरण भी होता है; और मैं चक्षु हूं, यह प्रतीति भी नहीं होती; इससबयुक्तियों से सिद्ध हुआ, कि सबजन्यज्ञानों काउपादानकारण नित्य (नाशआदिसेरहित) चेतनआत्मा इंद्रियोंसेभिन्न (पृथक) है ३ ॥

इंद्रियोंसे भिन्न आत्माकीसिद्धिका २५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

शरीरदाहेपातकाभावात् ४ ॥

गौर रूप वाला मैं जानता हूं, इत्यादि प्रतीतियों से शरीर ही चेतन मानना योग्य है, इस आशंका को उठा के शरीर में चैतन्य का खंडन करते हैं; यदि शरीर को चेतन मानें, तो शरीर का दाह करदेने से उत्तर जन्म में पातक (दुःख) नहोवे, किंतु आश्रय के नाश से पाप पुण्य भी यहां ही दग्ध होजावें; तो उत्तर जन्म में सुख अथवा दुःख का नियम कुछ ना होवे; तथा देह के साथ ही धर्म अधर्म के नाश से मोक्ष होजावे; अथवा अपना शरीर दाह करने से उत्तर जन्म में आत्मघात का पाप नलगे; यद्यपि भूतों को चेतन मानने वाले पाप पुण्य को नहीं मानते,

तोभी उनका मत अशिद्ध होने से अथवा किसी एक दो-
षी की आशंका होने से कोई असंगति नहीं है ४ ॥

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तस्नित्यत्वात् ५ ॥

आत्मा को चेतन मानने पर भी यह दोष तुल्य है, यह
आशंका करते हैं; आत्मसहित शरीर का दाह करने से
भी पातक (दुःखआदि) का अभाव (नहोना) अन्न है;
जिससे आत्मा नित्य है; अर्थात् आत्मा जब नित्यमाना
है, उस का तो नाश होही नहीं सकता, इसी से शरीर
विशिष्ट आत्मा का नाश भी नहीं हो सकता; किंतु शरी
र का ही नाश हमभी मानेंगे, जिसने पुनः कभी नहीं
उत्पन्न होना, तो उस (शरीर) के साथसाथ भी साथ ही
नष्ट होगये, इस से उस्र जन्ममें पातक का अभाव इस
मतमें भी तुल्य ही रहा ५ ॥ ❋ ❋

तत्कार्यायप्रयत्नवधात् ६ ॥

उक्त दोष को हर करके सिद्धांत दिखाते हैं; कि कार्यदे-
ह (शरीर) को आश्रय करी (आत्मामें यत्न उपजाने के स्थान)
के वध (मारने) से ही पातक (पाप) माना है; आत्माका
तो नाश ही नहीं होता, किउस (आत्मा) के नाश से पाप
होने अथवा करानें, कोई भी कहते हैं, कि मोक्ष, ब्राह्म-
णत्व आदि धर्म शरीर में रहते हैं, आत्मा में नहीं रहते;
(ऐसे शरीर के वध (मारने) से ही हिंसा का पाप लग
ना है, आत्मा के नाश का होना अथवा न होना हिंसा से
कोई संबंध नहीं रखता; किंतु जिस से आत्मा नित्य (उ-
त्पत्तिनाश विनाशसे रहित) है, इसी से इस जन्मके किये

हिंसा आदि पापों से उत्तर जन्म में परमदुःखी और इस जन्म में किये यज्ञ आदि उत्तम कर्मों (पुण्यों) से उत्तर जन्म में परम सुखी होता है; और मरने से अनंतर पड़े हुए शरीर में ज्ञान आदि कोई भी चेतन के नहीं प्रतीत होने, इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, चेतन आत्मा नित्य अवश्य शरीर से भिन्न है; और नास्तिक के मत से तो आत्मा में शरीर का भेद आगे आपही सिद्ध करेंगे ६ ॥ ❊ ❊

शरीरसे आत्मा को पृथक सिद्ध करनेका २६ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ❊ ❊ ❊

सव्यदृष्टस्येतरेणप्रत्यभिज्ञानात् ७ ॥

प्रसंग संगति से दोनेत्रों में एक चक्षु इंद्रिय सिद्ध करने के प्रकरण का प्रारंभ करते हैं; सव्य (बांई) आंख से देखे हुए पदार्थ का इतर (दहिनी) आंख से प्रत्यभिज्ञान (यह वही पदार्थ है, ऐसा ज्ञान) होने से सिद्ध होता है, कि आत्मा इंद्रियों से अन्य है, यह किसी का मत है; इस का खंडन करने के अर्थ यह प्रकरण चलाया है ७ ॥ ❊

नैकस्मिन्नासास्थिमवहितेद्वित्वाभिमानात् ८

इस पर दोष देते हैं, कि मध्य में स्थित मल (पल) से जैसे एक ही तलाव के दो तलाव प्रतीत होते हैं; इसीरीति मध्य में स्थित नासिका की अस्थि से एक ही चक्षुका गोलक दो नेत्रों में दो दो के प्रतीत होता है; सिद्धांत में उक्त तलाव की नांई चक्षु इंद्रिय भी एक ही है; अर्थात् दो चक्षुओं की प्रतीति भ्रम होने से अप्रमाण है ८ ॥ ❊

एकविनाशेद्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ९ ॥

पुनः आक्षेप(आशंका)करते हैं, कि एक वृक्ष का नाश होने पर भी दूसरे वृक्षका नाश नहोने से प्रतीत होताहै, कि वृक्ष इंद्रिय एक नहीं किंतु दोहैं; अर्थात् दोनों नेत्रों में वृक्ष इंद्रिय यदि एक ही मानी जावे, तो एक वृक्ष का नाश होने से मनुष्य काणा होना है, अंधा तो नहीं होता, अब एक वृक्ष के नाश से भी मनुष्य अंधा ही होजावे, काणाकोई नाहोवे; ९ ॥ ❊ ❊

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः १० ॥

कोई एकदेशी दोषका उद्धार करते हैं; अवयवों(शाखा आदि)के नाश होने पर भी अवयवी(वृक्षआदि)की उपलब्धि(प्रतीति) होने से वृक्ष की एकता का निषेध(खंडन)योग्यनहीं है; अर्थात् वृक्षका एकदेश(शाखाआदि)नष्ट भी होजावे, तो जैसे वृक्ष वही बना रहताहै, इसी रीति वृक्ष का एकदेश नष्ट भी होजावे, तो वृक्ष वही बना रहता है, अर्थात् वृक्ष एक ही है १० ॥ ❊

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ११ ॥

एकदेशी के मत और पहिले आक्षेप के समाधान(उत्तर) केलिये सिद्धांतसूत्र है; दृष्टांत के विरोध से उक्त(एकदेशीका)उत्तर योग्य नहीं है; अर्थात् शाखा के नाश से वृक्ष की स्थिति कहनी योग्य नहीं, किंतु शाखा के नाश से पहिले वृक्ष का नाश होके अन्यवृक्ष की उत्पत्ति होती है; क्योंकि शाखा का नाश होने पर भी यदि वृक्षकी स्थिति मानो, तोवृक्ष का नाश कभी ना होवे, किंतु वृक्ष नित्यही

स्थितरहे; इस से शेष अवयवों से अन्य छद की उत्पत्ति मानके एकदेशी और पूर्वपदी दोनों का मत खंडित होगया, अर्थात् एकचक्षु (चक्षुकेएकदेश) का नाश होजाने पर शेष अवयवों से खंड (छोटे) चक्षु की उत्पत्ति मानने से अंधता की आपत्ति हर होजावेगी, इस से चक्षु इंद्रिय एकही मानना; यह गौतम का सिद्धांत है ११ ॥

इन्द्रियान्तरविकारात् १२ ॥

आत्मा को इंद्रियों से पृथक सिद्ध करने की और युक्ति दिखाते हैं; जंबीरी आदि आम्ल फल के देखने से अन्य इंद्रिय (रसना) में विकार (जलकावहना) होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि आत्मा इंद्रियों से भिन्न है, अर्थात् जिस अधिकरण में अनुभव होता है, उसी अधिकरण में स्मरण होता है; इस नियम से इंद्रियों को चेतन मानने में यह दोष आवेगा; कि जंबीरी आदि आम्ल फलों का अनुभव (प्रत्यक्ष) जब चक्षु में हुआ, तो स्मरण और स्मरण के द्वारा विकार (जलवहनादि) भी चक्षु में ही होना योग्य है, जिह्वा, दांतआदि में विकार होना योग्य नहीं है; परंतु जिह्वा आदि में विकार अवश्य होता है, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि चक्षु के द्वारा जिस में अनुभव हुआ है, और जिस में स्मरण हुआ है; वह चेतन आत्मा चक्षु आदि इंद्रियों से भिन्न ही है १२ ॥

नास्मृतेःस्मर्तव्याविषयत्वात् १३ ॥

पुनः आशंका करते हैं, उक्त (इंद्रियोंमें चैतन्यकानिषेध) योग्य नहीं है; जिस से स्मर्तव्य (जिसकाअनुभवहोचुका)

विषयका स्मरण होता है; चक्षु जिह्वा का कोई नियम नहीं है; अर्थात् जिस पदार्थ का अनुभव किसी रीति भी हो गया हो; उद्योधक (किसीसंबंधी) के ज्ञान से उस पदार्थ का स्मरण होजाता है; यह नियम कोई नहीं है, कि जिस इंद्रियसे अनुभव हो, उसी इंद्रिय से स्मरण हो; किंतु विषय का ही नियम है, कि जिस विषय का अनुभव हो, उसी विषय का स्मरण होगा; पुनः इंद्रियोंको चेतन मानेतो क्या दोष है १३ ॥ ❊ ❊

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः १४ ॥

विषयों की अवस्था से कार्य कारण भावसानके आत्मा का निषेध करना योग्य नहीं है; उक्त युक्तियोंसे यह सिद्ध होचुका है, कि परिशेष से (अंतमें) स्मृति आत्मा का ही गुण है; जिस से यह अनुभव होता है, कि मैं स्मरण करता हूं; यदि विषयों का धर्म ही स्मरण माना जावे, तो चैत्र को किसी पदार्थ का ज्ञान (अनुभव) होनेसे मैत्र को उस पदार्थ का स्मरण हो जावे; जिस से विषय (वह पदार्थ) एक ही है १४ ॥

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य १५ ॥

और यदि स्मरण के उपादान कारण भी विषय ही माने जावें; तो यह दोष है, कि एक आत्मा के स्थान में अनंत विषयों को उपादान कारण मानने से बड़ा गौरव दोष आता है; और यह भी दोष है, कि विषय के नाश से अनंतर विषय का स्मरण न होवे; क्योंकि उपादानकारण का जब नाश होगया, तो किस आ-

आश्रय में स्मरण उपजेगा; यदि अनुभव से विना अन्य आश्रय में भी स्मरण मानाजावे, तो उक्त दोष लगा ही रहेगा, कि चैत्र के अनुभव से मैत्र को स्मरण अवश्य होवे, परंतु ऐसा कभी नहीं होता, इस से सिद्ध हुआ, कि ज्ञान आदि गुणों का उपादानकारण चेतन आत्मा विषयों और इंद्रियोंसे पृथक है ९५ ॥

इति न्याय सूत्रवृत्ति में एक चक्ष इंद्रिय के सिद्ध करने का २७ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ❊

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनांमनसिसम्भवात् ९६ ॥

आशंका करते हैं, कि नित्य (उत्पत्तिऔरनाशसेरहित) मन ही चेतन होवे; आत्मा की प्रतिपत्ति (सिद्धि) के हेतु मन में ही हो सकते हैं, इसलिये मन से भिन्न आत्मा (चेतन) नहीं मानना, किंतु मन ही चेतन है ९६ ॥

ज्ञानादीनसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ९७ ॥

उत्तर यह है, कि यदि मन चेतन हो, तो सुख आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष का नियम बांधने के अर्थ कोई अन्य करण (इंद्रिय) अवश्य मानना पड़ेगा; जब चेतन मन और करण कोई अन्य माना, तो केवल संज्ञा का ही भेद हुआ, लाघव तो कोई नहीं आया; और एक क्षण में अनेक ज्ञान न उत्पन्न होवें, इस से मन को अणु (अतिसूक्ष्म) माना है; और ज्ञान आदि के प्रत्यक्ष की सिद्धि के अर्थ आत्मा महान् विभु (मन से बड़े परिमाणवाला) माना है; पुनः मन (अणु) और आत्मा (म-

ज्ञान एक किसरीति होसकते हैं; और मन को चेतन कहने से यह दोष भी आता है, कि चेतन (मन) में वर्तमान ज्ञान, सुख आदि का प्रत्यक्ष ना होवे; इस से मन अचेतन नहीं है १७ ॥ ❖ ❖ ❖

नियमस्मृतिरनुमानः १८ ॥

आशंका, रूप आदि का प्रत्यक्ष तो इंद्रियों के द्वारा हो, सुख आदि का प्रत्यक्ष विना ही करण (इंद्रिय) के होता है; और अन्य परमाणुओं का प्रत्यक्ष न भी हो, मन का प्रत्यक्ष होजाता है; उत्तर यह है, दृढ़ युक्ति के नहोने से और गौरव दोष से उक्त संकोच के मानने में कोई प्रमाण नहीं है १८ ॥ ❖ ❖ ❖

आत्माकोमनसेष्टत्वकसिद्धकरनेका २८ वां प्रकरण समाप्तहुआ ॥ ❖ ❖ ❖

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्यहर्ष भयशोकसम्प्रतिपत्तेः १९ ॥

इसरीति देहआदि से भिन्न आत्मा की सिद्धि करनेपर भी आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि किये विना परलोक की कामना वाले मनुष्यों की प्रवृत्ति नहीं होगी; इससे आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि के अर्थ यह (१९ वां) सूत्र कहा है; जात (उत्पन्नहुए) बालक को इस जन्म में अनुभव करने से विनाही हर्ष आदिके हेतुओं से हर्ष (हसना आदि) भय (चकितहोना आदि) शोक (रोना आदि) की संप्रतिपत्ति (उत्पत्ति) होने से स्पष्ट प्रतीत होता

है, कि पूर्व (पहिले) कभी अवश्य हर्ष आदिका अनुभव हुआथा, कि जिस (अनुभव) से अब स्मरण हुआहै; परंतु इस जन्म में तो अभी आरंभ ही है, किंतु पहिले जन्म का अनुभव मानना पड़ेगा; इसीरीति उससे भी पहिले जन्म का अनुभव मानना पड़ेगा, अर्थात् इस अभ्यास (परंपरा) से सिद्ध हुआ, कि आत्मा अनादि (उत्पत्तिसे हीन) है; परंतु अनादिभाव का नाश कभी नहीं होता, इस से सिद्ध हुआ, कि आत्मा नित्य (उत्पत्तिविनाश से हीन) है १९ ॥ ❊ ❊ ❊

पद्मादिषुप्रबोधसम्मीलनादि-कारणमधिकारः २० ॥

इसपर आशंका करते हैं, कि मुख के खिलजाने आदि से बालक के हर्ष आदि का अनुमान करना योग्य नहीं है; अदृष्ट विशेष की सामर्थ्य से कमल आदि के फूलने और संकुचित होने की नांई बालक के मुख में हसनाआदि विकार प्रतीत होते हैं; इस से आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि कभी नहीं होसकती २० ॥ ❊

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वा-त्पञ्चात्मकविकाराणाम् २१ ॥

सिद्धांत यह है, कि पंचात्मक (पृथिवीआदिपांचभूतों से उत्पन्न) कमल आदि के विकार (फूलनाआदि) उष्ण (गर्मी) शीत (जाड़ा) वर्षा (बर्षात) इन समयों के मेल से होते हैं; और मनुष्यों के विकार (मुखकाखिलनाआदि) हर्ष आदि निमित्तों से होते हैं; इस से मनुष्यों को

कमल का दृष्टांत देना योग्य नहीं है; २१ ॥ ❖

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात्स्तन्याभिलाषात् २२ ॥

आत्मा में नित्यत्वकी साधक और युक्ति देते हैं; प्रेत्य (मरके) पुनः उत्पन्न होते ही बालक को स्तन्य (दूध) की अभिलाष (इच्छा) देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि पूर्व जन्म में आहार (भोजन) के अभ्याससे ही यहां भी खाने की इच्छा हुई है; इस से सिद्ध हुआ, कि आत्मा अनादि (नित्य) है २२ ॥ ❖ ❖

अयसोऽयस्कान्ताभिगमन
वन्नदृष्टसंयोगानाम् २३ ॥

पुनः आशंका करते हैं, चुमकपत्थर के सामने यस अयस (लोहा) जैसे अयस्कांत (चुमकपत्थर) के सामने जाता है; इसीप्रकार बालक स्तन के सामने जाता है; पूर्व जन्म की दृष्टसिद्धि के ज्ञान से चेष्टा (क्रिया) मानके स्तन पान में प्रवृत्ति माननी, इस में कोई प्रमाण नहीं है २३

नान्यत्रप्रवृत्त्यभावात् २४ ॥

उत्तर यह है, कि स्तनपान में ही बालक प्रवृत्त हो, अन्यत्र न प्रवृत्त हो, इसका नियम विना पूर्व स्मरण के होना कठिन है; वास्तव यह जानना, कि प्रवृत्ति में लोहे की क्रिया का साम्य नहीं आता, जिस से लोहे में प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से जन्य चेष्टा कभी नहीं होती, और बालक में ये दोनों हैं; इसलिये उक्तदृष्टांत से अभिचार देना योग्य नहीं है २४ ॥ ❖ ❖ ❖

वीतरागजन्मादर्शनात् २५ ॥

और युक्ति आत्मा में नित्यत्व की साधक देते हैं, वीत (नष्ट) होगया है, राग (इच्छा) जिस का ऐसे मनुष्य का भाव होता है; जन्म नहीं होता किंतु राग आदि दोषों के होने पर ही जन्म होता है; परंतु इष्टसिद्धि के ज्ञान से विना इच्छा कभी नहीं होती, तोसिद्ध हुआ, कि स्वेच्छा-नुकूल की इष्टसिद्धि के स्मरण से बालक को स्तनपान की इच्छा होती है; तब स्तनपान में प्रवृत्त होता है; इसी रीतियही आदिभी अन्न के कण को खाने लगते हैं, इस साधारण इच्छा के जानने से यह बात पुनः स्पष्ट कर के कही है २५ ॥ ❖ ❖ ❖

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः २६ ॥

आशंका करते हैं, सगुण (रूपआदिगुणोंके साथही) द्रव्यों (घटआदि) की उत्पत्ति जैसे होती है; इसीरीति इच्छा आदि गुणों के साथ ही आत्माभी उत्पन्न होता है; फिर जन्म की इष्टसिद्धि का स्मरण मानने में कोई दृढ़ युक्ति नहीं, अर्थात् तुमारा हेतु अप्रयोजक (अनुकूलतर्कसेहीन) है; २६ ॥ ❖ ❖ ❖

नसङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् २७ ॥

उत्तर यह है, कि राग (इच्छा) आदि का निमित्त (कारण) संकल्प (इष्टसिद्धिकाज्ञान) है; और प्रवृत्ति की कारण इच्छा है, चेष्टा की कारण प्रवृत्ति है; ये कार्यकारणभाव सब ही तर्क हैं तो सिद्ध हुआ, कि आत्मा नित्य है २७ ॥ ❖ ❖ ❖

इति न्याय सूत्र हानि में आत्मा के नित्यत्व का साधक
२९ वां प्रकरण समाप्त हुआ। ॥ ❖ ❖

पार्थिवंगुणान्तरोपलब्धेः २८ ॥

क्रम से प्राप्त शरीर की परीक्षा करने के अवसर में कोई ऐसा कहते हैं; कि मनुष्य आदि का शरीर पांचभौतिक (पृथ्वीआदिपांचभूतोंसेउपजाहुआ) है; सिद्धांत यह है, गुणांतरों (गंध, नीलरूप, कठिनस्पर्श) की उपलब्धि (प्रतीति) से सिद्ध होता है, कि मनुष्य आदिका शरीर पार्थिव (पृथ्वीसेबना) है; २८ ॥ ❖

पार्थिवाप्यतैजसंतद्गुणोपलब्धेः क
निश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातभौतिकम्
ख गन्धेक्लेदपाकव्यूहावकाशदा-
नेभ्यःपाञ्चभौतिकम् ग। ॥

अन्य आचार्यों के मत इन (क, ख, ग) तीन सूत्रों में दिखाये हैं; इनके गुणों (गंध स्नेह, उष्णस्पर्श) की उपलब्धि (प्रतीति) से कोई आचार्य कहते हैं, कि मनुष्य आदि का शरीर इन (पृथ्वी, जल, तेज) तीन भूतों से बना है; क। निश्वास और उच्छ्वास (नाकवायुका भीतर जाना और बाहर आना) देखने से कोई कहते हैं, कि मनुष्यआदि का शरीर इन (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) चारभूतों से बना है। ख। और गंध, क्लेद (जल) पाक (रूपआदिकापरिवर्त्तन,) व्यूह (अंगोंकीगति) अवकाश (छेद) इन सब को देख के कोई ऐसा कहते

हैं, कि मनुष्य का शरीर इन (पृथ्वी, जल, तेज, वायु-और आकाश) पांच भूतों से बना है; ग० अतितुच्छ ज्ञान के भाष्यकार ने इन मतों का खंडन नहीं किया, क्यों कि संकर दोषके भय से एक शरीर में पृथिवीत्व जलत्व आदि अनेक जातियों का मानना सर्वथा असंभव के समान है। और अनेक विजातीय (भिन्न २ जातिके) द्रव्य किसी एक कार्य के उपादान (समवायिकारण) नहीं होसकते; क्योंकि जल से उत्पन्न कार्य को पृथिवी नहीं कह सकते, और चित्र द्रव्य (किसी अंश में पृथ्वी, किसी अंश में जल आदि) भी नहीं मान सकते जिस से शरीर के सब अंशों में गंध का प्रत्यक्ष होता है, और क्लेद आदि जल आदि के गुणों का नाश होने से अनेक भी सकेद्रव्य शरीर में गंध का प्रत्यक्ष होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि मनुष्य आदि के शरीरों का उपादानकारण पृथ्वी है; जल, तेज, वायु और आकाश येचार निमित्तकारण हैं; इसी रीति जलीय शरीर में जल उपादान और अन्यचार निमित्त, यही क्रम सबशरीरों में जानना; इसबात को प्रगटकरने के अर्थ ये (क, ख, ग) तीन सूत्र कहे हैं ॥

श्रुतिप्रामाण्यात् २९ ॥

मनुष्यआदि के शरीर पार्थिव हैं, इस में और श्रुति देते हैं; कि सूर्य को मेरा चक्षु सुनता हूं इस मंत्र के अंत में कहा है, कि पृथ्वी को मेरा शरीर सुनता हूं और उपादानकारण में कार्य का लय (नाश) कहने

के प्रसंग में तेरा चक्षु सूर्य को प्राप्त होता है, इस मंत्र के अंत में कहा है; पृथ्वी में तेरा शरीर प्राप्त होता है; इन श्रुतियों के प्रमाण से भी स्पष्ट प्रतीत होता है, कि मनुष्य आदि के शरीर पार्थिव हैं; कोई ग्रंथकार इनको तीन सूत्रोंका भाष्य ही मानते हैं, परंतु एकसूत्र का प्रकरण न होनेसे इनका कहना योग्य नहीं है; इसीसे अन्य ग्रंथकार तीनों को भाष्य मानके चौथे को सूत्र कहते हैं; अन्य लोग इसी दोषसे वरुणलोक आदि में प्रसिद्ध जलीय, तैजस, वायवीय शरीरों में भी उपभोग (स्वस्वअर्थवाद्: स्वकाप्रत्यक्ष) की सिद्धि के अर्थ पृथ्वीनिमित्त है; इस भाष्य को सूत्र कहते हैं; २९ ॥ ❊

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में शरीर को पार्थिवत्वसिद्ध करनेका १० वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ❊

कृष्णसारेसत्युपलम्भाद्व्यतिरिक्त चोपलम्भात्संशयः ३० ॥

अब क्रमसे प्राप्त इंद्रियों की परीक्षा करनी योग्य है, परंतु पीछे लक्षण सूत्र में कह आये हैं; कि इंद्रियां भौतिक (भूतों से उत्पन्न) हैं; इस बात (इंद्रियां भौतिक हैं) की परीक्षा के अर्थ आदि में संशय दिखाते हैं; कृष्णसार (काली आंख की गोली) के होने पर चक्षुआदिपदार्थों का उपलंभ (प्रत्यक्ष) होने से प्रतीत होता है, कि आंख में काले रंग का गोल तारा ही चक्षु इंद्रिय है; यह बौद्धों का सिद्धांत है, और व्यतिरिक्त (आंख से बाहर चक्षु आदि विषयोंको प्राप्त होके) उपलंभ (प्रत्यक्ष उपजाने) से

प्रतीत होता है, कि गोलतारा से अन्य कोई तेजका अंश इंद्रिय है; क्योंकि यह गोलतारा तो आंख से बाहर कभी नहीं जाता, यह अन्य आचार्यों का सिद्धांत है; इन मतों के भेद से संशय होता है, कि चक्षु इंद्रिय गोलतारा है, अथवा तारा से अन्य है, इस पर नैयायिकों का यह सिद्धांत है, कि गोलतारा से अन्य तेज का अंश चक्षुइंद्रिय है; और भूतों से भी अन्य अहंकारका कार्य इंद्रिय है, यह सांख्य का सिद्धांत है; और अन्य सब आचार्य इंद्रियों को भौतिक (भूतों से उत्पन्न) मानते हैं ३० ॥

महदणुग्रहणात् ३१ ॥

इन सब मतों में से सांख्य के मत से बौद्ध के मतका खंडन करके दिखाते हैं; गोलतारा को इंद्रिय नहीं कह सकते, जिस से यह (तारा) आंख से बाहर जाके विषय (घटादि) को प्राप्त नहीं होसकता, और विनाही प्राप्ति के प्रत्यक्ष मानें तो यह अतिचार दोष लगेगा विना देखे पदार्थ का भी प्रत्यक्ष हो जावे; क्योंकि अप्राप्ति सब में एकसी है, ऐसे ही गोलतारा से अन्य भौतिक इंद्रिय का मानना भी असंगत है; जिस से चक्षु अपनी अपेक्षा छोटे, बड़े सब पदार्थों को ग्रहण करता है, परंतु छोटा चक्षु बड़े पदार्थ को प्राप्त (अंदर) नकर सकने से ग्रहण नहीं कर सकेगा; इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि इंद्रिय भौतिक नहीं किंतु अहंकारिक (अहंकार के कार्य) हैं ३१ ॥

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषान्नाक्षग्रहणम् ३२

सांख्य के मत का खंडन करते हैं; रश्मि (गोलताराके उपरले तेज) का अर्थ (घटआदि) के साथ सन्निकर्ष विशेष (संयोगविशेष) होने से इंद्रिय छोटे बड़े सब पदार्थों को ग्रहण करलेता है; अर्थात् भूत (तेज) से उपजा हुआ भी दीप जैसे अपनी अपेक्षा छोटे और बड़े पदार्थों का भी प्रकाश करता है; इसी रीति भूत (तेज) से उत्पन्न इंद्रिय (चक्षु) भी छोटे, बड़े पदार्थों को ग्रहण करता है; और इंद्रिय यदि भूतों के कार्य न हों, किंतु अहंकार के कार्य हों, तो केवल वर्त्तमान पदार्थों का ही ग्रहण न करें, वरुक भूत, भविष्य आदि तीनोंकालोंके पदार्थों को ग्रहणकरें; ३२ ॥ ❊ ❊

तदनुपलब्धेरहेतुः ३३ ॥

इस पर दोषों की यह आशंका है, कि छोटे, बड़े पदार्थों के ग्रहण करने में जो (रश्मि और पदार्थ का संयोग) हेतु दिया है; वह योग्य नहीं, जिस से गोलतारा से दूर के उस (रश्मि) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) नहीं होती; ३३ ॥

नानुमीयमानस्याप्रत्यक्षतो
ऽनुपलब्धिरभावहेतुः ३४

उत्तर यह है, कि अनुमीयमान (अनुमानप्रमाणसे सिद्ध) पदार्थ का अभाव (नहोना) केवल अप्रत्यक्ष (इंद्रियों) के द्वारा अनुपलब्धि (नजानने) से नहीं सिद्ध हो सकता; अर्थात् नीला आदि रूपों के अप्रत्यक्ष का कारण (साधन) होने से अनुमान प्रमाणके द्वारा जब इंद्रिय

(चक्षु) सिद्ध होगया, तो केवल प्रत्यक्ष के नहोने से उस (चक्षु) के अभाव (नहोने) का कथन सर्वथा असंगत है; इस से सिद्ध हुआ, कि चक्षु जिस से तेजस (तेज का कार्य) है, इसीसे छोटे, बड़े पदार्थों को ग्रहण कर सकता है १४ ॥ ❊ ❊ ❊

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः १५ ॥

यदि चक्षु इंद्रिय प्रमाण से सिद्ध है, तो उस (चक्षु) का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता; इस पर कहा है, कि द्रव्य के धर्म (महत्परिमाणआदि) और गुण के धर्म (उद्भूतत्वआदि) इन धर्मों के अनुसार उपलब्धि (प्रत्यक्ष) का नियम है; अर्थात् सब द्रव्यों का प्रत्यक्ष नहीं होता, किंतु जिस द्रव्य में महत् परिमाण और उद्भूतरूप रहे, उस द्रव्य (घटआदि) का प्रत्यक्ष होता है; और जिस द्रव्य में ये (उक्त) धर्म न रहें, उन द्रव्यों (परमाणु, चक्षुआदि) का प्रत्यक्ष नहीं होता; १५ ॥ ❊ ❊

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्चरूपोपलब्धिः १६ ॥

रूप आदि गुणों का भी उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है; और (रूपआदि) समवाय संबंध से अनेक द्रव्य (चक्षु उपादानों से उत्पन्न द्रव्य) में रहें, और उद्भूत (प्रगट) हों, चक्षु की रश्मि में महत्परिमाण और उद्भूत रूप भी नहीं है; पुनः चक्षु का और चक्षु के रूप का प्रत्यक्ष कहां से होता हुआ; अर्थात् चक्षु का रूप भी अनुद्भूत (अप्रकट) और स्वयं भी अनुद्भूत है; इस से चक्षु का प्रत्यक्ष नहीं होता;

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषान्नदृष्टम् ३२

सांख्य के मत का खंडन करते हैं; रश्मि (गोलतारा के उपरले तेज) का अर्थ (घटआदि) के साथ सन्निकर्ष विशेष (संयोगविशेष) होने से इंद्रिय छोटे बड़े सब पदार्थों को ग्रहण करलेता है; अर्थात् भूत (तेज) से उपजा हुआ भी दीप जैसे अपनी अपेक्षा छोटे और बड़े पदार्थों का भी प्रकाश करता है; इसी रीति भूत (तेज) से उत्पन्न इंद्रिय (चक्षु) भी छोटे, बड़े पदार्थों को ग्रहण करता है; और इंद्रिय यदि भूतों के कार्य न हों, किंतु अहंकार के कार्य हों, तो केवल वर्त्तमान पदार्थों का ही ग्रहण न करें, वरुक भूत, भविष्य आदि तीनोंकालोंके पदार्थों को ग्रहणकरें; ३२ ॥ ❊ ❊

तदनुपलब्धेरहेतुः ३३ ॥

इस पर दोहों की यह आशंका है, कि छोटे, बड़े पदार्थों के ग्रहण करने में जो (रश्मि और पदार्थ का संयोग) हेतु दिया है; वह योग्य नहीं, जिस से गोलतारा से दूर के उस (रश्मि) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) नहीं होती; ३३ ॥

नानुमीयमानस्याप्रत्यक्षता
ऽनुपलब्धिरभावहेतुः ३४

उत्तर यह है, कि अनुमीयमान (अनुमानप्रमाणसे सिद्ध) पदार्थ का अभाव (नहोना) केवल अप्रत्यक्ष (इंद्रियों) के द्वारा अनुपलब्धि (नजानने) से नहीं सिद्ध हो सकता; अर्थात् नील आदि रूपों के प्रत्यक्ष का कारण (साधन) होने से अनुमान प्रमाणके द्वारा जब इंद्रिय

(चक्षु) सिद्ध होगया, तो केवल प्रत्यक्ष के नहोने से उस (चक्षु) के अभाव (नहोने) का कथन सर्वथा असंगत है; इस से सिद्ध हुआ, कि चक्षु जिस से तेजस (तेज का कार्य) है, इसीसे छोटे, बड़े पदार्थों को ग्रहण कर सकता है १४ ॥ ❊ ❊ ❊

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः १५ ॥

यदि चक्षु इंद्रिय प्रमाण से सिद्ध है, तो उस (चक्षु) का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता; इस पर कहा है, कि द्रव्य के धर्म (महत्परिमाणआदि) और गुण के धर्म (उद्भूतत्वआदि) इन धर्मों के अनुसार उपलब्धि (प्रत्यक्ष) का नियम है; अर्थात् सब द्रव्यों का प्रत्यक्ष नहीं होता, किंतु जिस द्रव्य में महत् परिमाण और उद्भूतरूप रहे, उस द्रव्य (घटआदि) का प्रत्यक्ष होता है; और जिस द्रव्य में ये (उक्त) धर्म न रहें, उन द्रव्यों (परमाणु, चक्षुआदि) का प्रत्यक्ष नहीं होता; १५ ॥ ❊ ❊

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्चरूपोपलब्धिः १६ ॥

रूप आदि गुणों का भी उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है; (रूपआदि) समवाय संबंध से अनेक द्रव्य (घटआदि उपादानों से उत्पन्न द्रव्य) में रहें, और उद्भूत (प्रगट) हों, चक्षु की रश्मि में महत्परिमाण और उद्भूत रूप भी नहीं है; पुनः चक्षु का और चक्षु के रूप का प्रत्यक्ष कहां से होना हुआ; अर्थात् चक्षु का रूप भी अनुद्भूत (अप्रकट) और स्वयं भी अनुद्भूत है; इस से चक्षु का प्रत्यक्ष नहीं होता;

कर्म्मकारितेन्द्रियाणांव्यूहःपुरुषार्थतन्त्रः ३७
चक्षु में उद्भूतरूप को नहीं है, इसपर यह कहा है; इंद्रियों का व्यूह(रचनाविशेष) कर्म्म(पुरुषार्थ(सुख अथवा दुःखका प्रत्यक्ष) के अधीन कर्म्म का ज्ञान है, अर्थात् अदृष्ट(धर्म, अधर्म) का प्रत्यक्ष नहीं होता, किंतु कार्य(पुरुषार्थ) से कारण(अदृष्ट) का अनुमान होता है; यही अदृष्ट चक्षु के अनुद्भूत रूप का कारण है ३७ ॥ ❖ ❖ ❖

अव्यभिचाराच्चप्रतीघातेभौतिकधर्म्मः ३८
और जो आवरण विशेष(भित्तिआदि) के व्यवधान से पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता इस में अव्यभिचार(अन्यथा अतिरेक) से भौतिक(भूतोंका) स्वाभाविक धर्म प्रतीघात(अन्यवस्तुकोरोकदेना) प्रतीत होता है; अर्थात् भूतों का यह स्वभाव ही है, कि एक भूत मध्य में हो, तो दूसरे का प्रत्यक्ष नहीं होता, इस सूत्र को हरिकार ने नहीं माना; ३८ ॥ ❖ ❖ ❖

महत्यनेकद्रव्यसमवायात्रूपोपलब्धि
वत्तदनुपलब्धिः ३९ ॥
रूपवाले महत् पदार्थ की अनुपलब्धि(प्रत्यक्ष के न होने) में दृष्टांत देतेहैं; दिन में उल्का(नक्षत्र) का प्रकाश सूर्य के प्रकाश में लीन(छिपा) हुआ जैसे नहीं दीखता, इसीरीति उद्भूत(स्थूल) रूप के न होने से चक्षु का प्रत्यक्ष नहीं होता; ३९ ॥ ❖ ❖

नक्तञ्चरवदनुपलब्धेः ४० ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि इसी रीति चट आदि सब पदार्थों में रश्मि (तेजका अंश) मानना योग्य है; केवल सूर्य के तेज में लीन होने से प्रत्यक्ष नहीं होता, उत्तर यह है, सूर्य के नहोने पर रात्रि में भी नक्षत्रों की नाईं चट आदि की रश्मि नहीं देखने में आती, इस से चट आदि में रश्मि का मानना असंगत है; ४०

बाह्यप्रकाशानुग्रहादिषयोपलब्धे
रनभिव्यक्तेो नुपलब्धिः ४१ ॥

इस पर तटस्थ की यह आशंका है, कि उद्भूतरूप के नहोने से चट का प्रत्यक्ष नहीं होता, अथवा सूर्य के अभिभव (तिरस्कार) से चट का प्रत्यक्ष नहीं होता, इन दो पक्षों में से सिद्धांत कैसे जानाजावे; उत्तर बाह्य (सूर्यआदिके) प्रकाश के अनुग्रह (साहाय्य) से विषय (चटआदि) का प्रत्यक्ष होता है; जेकभी चट में उद्भूत रूप होता तो बाह्यप्रकाश से प्रत्यक्ष अवश्य होता; और यदि चट का अभिभव मानो, तो सूर्यआदि के साहाय्य से भी चट प्रत्यक्ष कोनउपजासके, जैसे दिनमें अभिभूतनक्षत्रअन्यका का अपना प्रत्यक्षभीनहीकरासकता ४१ ॥

अभिव्यक्तेो चाभिभवात् ४२ ॥

इस पर यह आशंका करते हैं, सूर्य के तेज से चट का तिरस्कार नहीं होता; किंतु चट के रूपका अभिभव होता है, परंतु इस (रूप) को प्रत्यक्ष का कारणमानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है; और अभिभव (तिरस्कार) से ही चट का प्रत्यक्ष नहीं होता, अन्य पदार्थों का

प्रत्यक्ष करने में कोई विरोध भी नहीं आता; इस आशंका का यह उत्तर है, अभिव्यक्त (उद्भूत) रूप का प्रत्यक्ष न होने से कल्पना की जाती है; कि इस रूप का अभिभव हुआ है; परंतु चक्षु का रूप जब उद्भूत ही नहीं है, तो इस में अभिभव की कल्पना कभी नहीं होसकती; और सुवर्ण आदि की नाईं कोई अन्य द्रव्य सदामिला रहता है, जिस से चक्षु का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता; इस कल्पना में भी महागौरव दोष आता है; ४२ ॥ ❖ ❖

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ४३ ॥

इस प्रमाण से भी स्पष्ट प्रतीत होता है, कि गोलताग से अन्य रश्मि (तेजकाअंश) चक्षु है, रात्रिचारी (बैल, सिंह, उल्लआदि) के नेत्रों में प्रत्यक्ष से ही रश्मि देखने में आती है, इसी प्रत्यक्ष का दृष्टांत देके संज्ञी जीवों के नेत्रों में अनुमान प्रमाण के द्वारा रश्मि (तेजकाअंश) चक्षु सिद्ध होता है; नहींतो अंधेरे के समय सिंहआदि के नेत्रों में भी रश्मि न दीखे; ४३ ॥ ❖ ❖ ❖

अप्राप्यग्रहणंकाचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ४४ ॥

काच, अभरक, स्फटिक के व्यवधान होने पर भी चक्षु के द्वारा पदार्थों का प्रत्यक्ष होजाने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि प्राप्ति (संबंध) से विना ही चक्षु पदार्थ को ग्रहण (प्रत्यक्ष) करता है, अर्थात् संबंध की अपेक्षा जब नहीं है, तो गोलताग से पृथक् रश्मि (तेजकाअंश) चक्षु मानना सर्वथा असंगत है, किंतु गोलताग ही चक्षु है ४४ ॥

नकुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ४५ ॥

उत्तर यह है, कुड्य(भीत) का अंतर(अवधान) होने पर प्रत्यक्ष नहोने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि विना संबंध के प्रत्यक्ष का मानना असंगत है, इसलिये गोलनाश से पृथक चक्षु का प्रतिषेध भी कभी नहीं होता; कोई ग्रंथकार ४३ वें सूत्र को पूर्वपक्षी का मान के ४५ वें सूत्र को भाष्य की अवतरणिका कहते हैं; वास्तव में यह(४३ वां) सिद्धांती का सूत्र ही है, अर्थात् काच आदि के अवधान से दीप प्रकाश करता है; और तेज है, इसीरीति काच आदि के अवधान होने पर भी चक्षु प्रत्यक्ष को करता है; इस से अवश्य तेजहै, ४५ ॥ ❊ ❊

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ४६ ॥

पुनः आशंका करते हैं, कि कुड्य(भित्ति) के अवधान से जैसे चक्षु का संबंध पदार्थके साथ नहीं होता, इसीरीति काच आदि का अवधान होने पर भी पदार्थों के साथ चक्षुका संबंध होने से विनाही प्रत्यक्ष होजावेगा, पुनः संबंध के अर्थ रश्मि की कल्पनाव्यर्थ है; इस का उत्तर करते हैं, काच आदि स्वच्छ द्रव्यों के अप्रतिघात(स्वाभाविक रुकावट के नहोने) से चक्षु के साथ पदार्थ का संबंध होकेही प्रत्यक्ष होता है, बिना संबंध के प्रत्यक्ष नहीं होता; ४६ ॥ ❊ ❊ ❊

आदित्यरश्मेःस्फटिकान्तरेऽपिदाह्येऽविघातात् ४७

इस पर प्रत्यक्ष दृष्टांत देतेहैं, कि स्फटिक आदि का अवधान होने पर भी दाह्य(जटआदि) पदार्थों में सूर्य की

रश्मि का संबंध कभी रुकता नहीं, अथवा कपाल का व्यवधान होनेपर भी घर में पड़े तंडुलों से आगकी रश्मि का संबंध होने से कभी नहीं रुकता, इसीरीतिकाचआदिका व्यवधान होनेपरभी चक्षु का संबंध हो ही जाता है; अर्थात् काच आदिस्वच्छद्रव्यतेजकीरश्मिकोनहींरोकसकते; ४७ ॥ ❖ ❖ ❖

नेतरेतरधर्म्मप्रसङ्गात् ४८ ॥

इसपर आक्षेप करते हैं, कि इतरों(काचआदि) सेइतर (कुड्यआदि)के धर्म(रोकदेना) की प्राप्ति से यह(स्वच्छद्रव्यतेजकीरश्मिकोनहींरोकते) कथन नहीं बन सकता; अर्थात् कुड्य आदि सबपदार्थों का साधारण स्वभाव काचआदि में न रहे, इस में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है; ४८ ॥ ❖ ❖ ❖

आदर्शोदकयोःप्रसादस्वाभाव्या
द्रूपोपलब्धिवन्नदुपलब्धिः ४९

उत्तर यह है, आदर्श(दर्पण,) उदक(जल) इन दोनों का स्वभाव प्रसाद(स्वच्छहोना) है, इसी से दर्पण, जल में मुख आदि पदार्थों का प्रतिबिंब(छाया) देखने में आता है; परंतु भितिआदिमें कभी ऐसे प्रतिबिंबनहीं दीखता, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, काच आदिका यह स्वभाव है; कि बीच(मध्य)में होनेपर भी प्रसाद को नहीं रोकते, और कुड्यआदिका इस से विरुद्ध यह स्वभाव है, कि मध्यमें होने से प्रसाद को अवश्य रोकदेतेहैं; और आग का यह स्वभाव है, कि स्वच्छ वा मलिन कैसा ही

पदार्थ मध्यमें हो, सब को फाड़के लंघ जाना; दीप का स्वभाव यह है, सब द्रव्य को फाड़के परलीओर प्रकाश करदेना, मलिन द्रव्यको नहीं लंघ सकना इनस्वभावों के भेद से सब दोष दूर होजाते हैं; ५९ ॥

दृष्टानुमितानांनियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ५०

चक्षु को दीपआदि का सादृश्य देने में क्या प्रमाण है, इस पर कहा है, कि दृष्ट (प्रत्यक्ष से सिद्ध) अनुमित (अनुमान सेसिद्ध) पदार्थों का अथ वा दृष्टसे अनुमित (प्रत्यक्षदृष्टांतदेकेअनुमानसेसिद्ध) पदार्थों का विनाकिसीहेतुयुक्तिकेनियोग (ऐसाहोवे) और प्रतिषेध (ऐसानहोवे) अनुपपन्न (युक्ति से विरुद्ध) है; ५० ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में इंद्रियों की परीक्षा का ३१ वांप्रकरण समाप्तहुआ; ॥

स्थानान्यत्वेनानात्वादवयविनानात्वाद वयविनास्थानत्वाच्चसंशयः ५१ ॥

चक्षु और त्वचा से एक पदार्थ का ग्रहण करने से जो इंद्रियों से एथक आत्मा की सिद्धि की है; वह तभी हो सकती है, जब इंद्रियां नाना (बहुत) सिद्ध हो लेवें; इस संगति से इंद्रियों के नानात्व की परीक्षा के अर्थ आदि में संशय दिखाते हैं, स्थान (अवयवों) के भेद से चक्षु पटआदि पदार्थों का भेद देखते हैं, और बहुत से अवयवों में एक ही अवयवी देखते हैं; इस से संशय होता है, कि इंद्रिय बहुत हैं, अथवा एक ही है; ५१ ॥

त्वगव्यतिरेकात् ५२ ॥

आशंका है, कि सारे शरीर में त्वक् का व्यतिरेक(अभाव) नहीं है, इस से एक त्वचा ही इंद्रियमाननी योग्यहै; ५२

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः ५३ ॥

अंधे मनुष्य की त्वचा वर्त्तमान भी है, पुनः उसे इंद्रियांतर(चक्षु) के अर्थ(रूप)का प्रत्यक्ष नहीं होता इस से एक त्वचा ही इंद्रियमाननी योग्य नहीं है, ५३ ॥

त्वगवयवविशेषेणधूमोप
लब्धिवन्नदुपलब्धिः ५४ ॥

नेत्र के भीतर त्वचा का अंश धूम को ग्रहण करता है, सारी त्वचानहीं ग्रहण करसकती; इसीरीति त्वचा के भिन्न भिन्न अवयव पृथक् २ विषयों को ग्रहण करेंगे, पुनः एकत्वचाही इंद्रिय मानीजावे, तो क्या दोष है; ५४

आहतत्वादहेतुः ५५ ॥

यह तुमारा कथन आप ही आहत(खंडित) होजाने से योग्य नहीं है; अर्थात् विषयोंके भेद से अंशों का भेद मानने से इंद्रियोंका भेदतो सिद्ध होगया; परंतु इनसब अंशों को त्वचा कहनें में कोई प्रमाण नहीं है; ५५

नयुगपदर्थानुपलब्धेः ५६ ॥

सिद्धांत यह है, युगपत्(एकवारगी) अर्थों(गंधरसआदि) की उपलब्धि(प्रत्यक्ष) नहोने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कोई एक इंद्रिय नहीं है ५६ ॥

विप्रतिषेधाच्चनत्वगेका ५७ ॥

त्वचा स्पर्श को प्राप्त होके ग्रहण करती है, और गंध, रूप

आदि को प्राप्त होनेसेविना ही ग्रहण करती है; इस वि
प्रतिषेध (तुल्यविरोध) से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि एक
त्वचा ही इंद्रिय है, यह कथन असंगत है; ५७ ॥

इंद्रियार्थपञ्चत्वात् ५८ ॥

इंद्रियों के बहुत होने में कार्यों का भेद ही प्रमाण दिखा
ते हैं; इंद्रियों (चक्षुआदि) के अर्थ (ग्रहण करनेयोग्य)
रूप आदि जब पांच हैं; तो इनके ग्रहण करने वाली
इंद्रियां भी पांच ही हैं; अर्थात् एक ही इंद्रिय यदि मा
नीजावे, तो रूप, रस आदि पदार्थों में विलक्षणता (अं
तर) न होवे; क्यों कि एक ही इंद्रिय जब मानीगई, तो
अंधे को भी रूप का प्रत्यक्ष होजावे; ५८ ॥

नानदर्थबहुत्वात् ५९ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि चक्षु आदि इंद्रियोंके अ
र्थ (नीलपीतआदि) बहुत भी हैं; उनाचक्षु एकहीहै;
बहुत नहीं हैं, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि विषयों के भे
देसे इंद्रियोंका भेद मानना, सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है; ५९ ॥

गन्धत्वाद्यतिरेकाद्गन्धादीनामप्रतिषेधः ६०

उत्तर यह है, कि गंधआदि विषय बहुत भी हों, परंतु
गंधत्व आदि धर्म उन में एक एक ही होने से उक्त अति
षेध (खंडन) योग्य नहीं हैं; अर्थात् गंधत्व धर्म जिनमें
रहे, उन्हें घ्राण, रसत्व धर्म जिनमें रहे, उन्हें रसना, रू
पत्व धर्म जिन में रहे, उन्हें चक्षु, स्पर्शत्वधर्म जिन में
रहे उन्हें त्वचा, और शब्दत्वधर्म जिन में रहे, उन्हें श्रोत्र
ग्रहण करता है; इस गंधत्वआदि पांच धर्मों के भेद

से इंद्रियांभी पांच ही हैं; और नीलत्व आदि से नियम हीनहींमाना कि उक्त आपत्ति लगे ९० ॥ ❊

विषयत्वाद्यतिरेकादेकत्वम् ९१ ॥

यदि नीलत्व आदि व्याप्य धर्मों से प्रत्यक्ष भेदकोत्याग के रूपत्व आदि व्यापक धर्मों से रूप आदि पदार्थों में एकता मान कर पांच इंद्रियों का नियम बांधाजावे; तो गंधत्व आदि के भी व्यापक विषयत्व धर्म से रूपआदि सब विषयों में एकता का स्वीकार करने से पांच की अपेक्षा एक इंद्रिय के माननें में ही बहुत लाघव है; यह आशंका की गई है; ९१ ॥ ❊ ❊

बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्या कृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ९२ ॥

उत्तर यह है, कि बुद्धि (बाह्यप्रत्यक्ष) के लक्षण (भेद) ये (सूंघना, स्वादचाखना, देखना, छूना, और सुनना;) पांच हैं; इस (बाह्यप्रत्यक्ष) के विषय भी पांच हैं, गंध, रस, रूप, स्पर्श, और शब्द; इस (बा॰प्र॰) की उत्पत्ति के क्रमभी ५ ही हैं; गंध का प्रत्यक्ष नासिका के समीप पुष्पआदि गंधीलेपदार्थ आने से होताहै; जिह्वा के साथ रसीले आम आदि के छूने से रस का प्रत्यक्ष होता है; और बहुत दूर तक भी जाकर आंखों से रूप का प्रत्यक्ष होता है; और सारे देह में कहीं भी शीत आदि पदार्थों के छूने से स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है; कान तक पहुंचने से शब्द का प्रत्यक्ष होता है; और इस (बा॰प्र॰) के करणों के आकार (स्वरूप) भी पांच ही हैं इन सबों में पांच संख्या का

नियम बांधने वाले करण घ्राणत्व, रसनत्व, चक्षुष्ट्व, त्वक्, श्रोत्रत्व, धर्मों से एक एक पांच इंद्रिय पृथिवी आदि भूतों के कार्य अवश्य मानने योग्य हैं; ६२ ॥ ❖ ❖

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ६३ ॥

अब घ्राण आदि पांच इंद्रियों में पृथिवी आदि पांच भूतों की कार्यता सिद्ध करने के अर्थ प्रमाण दिखाते हैं; भूतों (पृथ्वि आदि पांचों) के गुण विशेष (गंध आदि पांच) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) से तादात्म्य (अभेद) सिद्ध है; अर्थात् केसर के समान गंध देने वाले घृत आदिका दृष्टांत देके गंध आदि पांचों में से क्रम पूर्वक जो जो इंद्रिय जिसजिस गुण को ग्रहण करे; वह पृथिवी आदि पांच भूतों के कार्य, और अभिन्न (बड़ीजाति से एक) सिद्ध होजाते हैं; ६३ ॥ ❖ ❖ ❖

इति श्री न्यायसूत्र वृत्ति में पांच (बाहरकी) इंद्रियसिद्ध करनेका ३२ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानांस्पर्शपर्य्यन्ताः
पृथ्व्याग्नेजोवायूनांपूर्वंपूर्वमपो-
ह्याकाशस्योत्तरः ६४ ॥

क्रम से प्राप्त अर्थ की परीक्षा के अर्थसिद्धांतसूत्र कहा है; गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द; इन पांचों में से स्पर्श तक चारों वृत्ती में रहते हैं, पूर्व (पहिले) पहिले को त्याग के क्रम से ३ (रस, रूप, स्पर्श) जलमें, २ (रूप स्पर्श) तेजमें, १ (स्पर्श) वायु में और सबसे उत्तर (पीछे) शब्द आकाश में,

रहते हैं; ९४ ॥ ❊ ❊ ❊

नसर्वगुणानुपलब्धेः ९५ ॥

आक्षेप करता है, कि तुमारा यह गुणों का नियम योग्य नहीं है, क्योंकि पृथिवी के जो चार गुण (गंध, रस, रूप, स्पर्श, कहे हैं, उन सब का पृथिवी की इंद्रिय घ्राण से प्रत्यक्ष नहीं होता, और बाहर की इंद्रियों का यह नियम है, कि अपनी प्रकृति के सारे विशेषगुणों को ग्रहण करना, इस से यही प्रतीत होता है, कि पृथ्वी का विशेषगुण गंधही है; इसीरीतिजलआदि में भी आप का नियम टूट जाता है; ९५ ॥ ❊ ❊ ❊

एकैकस्येत्तरोत्तरगुणसद्भावाद्
नेतरगुणतदनुपलब्धिः ९६ ॥

उत्तर देते हैं, उत्तर उत्तर जल आदि कों में एक एक के क्रम से उत्तर उत्तर गुण (रसआदि) विशेषगुण नियत होने से अपने २ विशेषगुण को अपनी अपनी इंद्रिय ग्रहण करेगी, अन्यविषय को अपनी प्रकृति में आने पर भी नहीं ग्रहण करेगी; अर्थात् पृथिवीकेविशेष-गुणगंध को पृथिवी की इंद्रिय घ्राण; जलके विशेष गुण रसको जलकी इंद्रियरसना; तेजके विशेष गुण रूपकोतेजकी इंद्रिय चक्षु; वायुके विशेषगुणस्पर्श को वायुकी इंद्रियत्वचा; और आकाशकेविशेषगुण शब्द को आकाशकी इंद्रिय श्रोत्र ग्रहण करेगी; ९६ ॥

संसर्गाज्ज्ञानेकगुणग्रहणम् ९७ ॥

यदि पृथिवी आदि में रस आदिगुण नहीं हैं, तो पृथ्वी आदि

में उन (रसआदि) का प्रत्यक्ष कैसे होता है; इसका उत्तर वादीने दो सूत्रों में किया है, यद्यपि पृथिवी आदि में एक एक गुण ही है, तोभी संसर्ग (संबंध) से अनेक गुणों का ग्रहण (प्रत्यक्ष) होता है; अर्थात् पृथिवी में विशेषगुण तो गंध ही है, परंतु जल के संबंध से रस तेज के संबंध से रूप और वायु के संबंध से स्पर्श भी प्रतीत होता है; ऐसेही औरों में भी जानलेना ९७ ॥ ❊ ❊ ❊ ❊

विशेषणपरंपरेण ९८ ॥

इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं, अपर (पृथिवीआदि) जिससे पर (जलआदि) के साथ विष्ट (संबद्ध) हैं; इसी से अन्य गुणों का भी प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् पृथिवी में मिले हुए जल से रसना का संयोग होने पर रसका प्रत्यक्ष होता है; पृथिवी में रस नहीं है ९८ ॥ ❊ ❊

नपार्थिवाप्ययोःप्रत्यक्षसिद्धत्वात् ९९ ॥

सिद्धांत यह है, कि पार्थिव (पृथिवीसेउत्पन्न) आप्य (जल सेउत्पन्न) द्रव्यों की प्रत्यक्ष से सिद्धि होनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है; तुमारा कहा एकएकगुणोंकानियम योग्य नहीं है, अर्थात् पृथिवी आदि द्रव्यों में यदि रूप न होवे, तो इन (पृथिवी आदि) का चक्षु से प्रत्यक्ष न होवे; और यदि इन में स्पर्श नहोवे, तो इन (पृथिवीआदि) का त्वचा से प्रत्यक्ष नहोवे; क्योंकि द्रव्यों के चाक्षुष प्रत्यक्ष में रूप और त्वचप्रत्यक्ष में स्पर्श कारण है; और किसी द्रव्य के प्रत्यक्षों में ये (रूपऔरस्पर्श) समवाय संबंधसे कारण माने जावें; किसी द्रव्यके प्रत्यक्षमें ये (रूपऔरस्पर्श) परंपरा (समवायिसंयोग) संबंध से का

रण मानेजावें; तो एक के स्थान दो संबंध मानने से बहुत गौरवदोष आताहै; किंतु पृथिवी आदिद्रव्यों में गंध आदि गुण ९४ वें सूत्रमें कहे क्रममेंही रहते हैं ९५ ॥ ❖

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षान्तन्त्रप्रधानम् ७० ॥

इंद्रियों का यह नियम है, कि अपनी प्रकृति के सब योग्य गुणों को ग्रहण करना; तो पृथिवी में यदि रूप, स्पर्श होवें, तब पृथिवी की इंद्रिय (घ्राण) से इन (रूपऔरस्पर्श) का प्रत्यक्ष अवश्य होवे; इस आशंका का उत्तर करते हैं, पूर्व पूर्व (गंधआदि) गुणों के उत्कर्ष (घ्राणआदि में पृथिवीत्व आदिजातियों की सिद्धिकरने) से वही (गंधआदिगुण) प्रधान (घ्राणआदिसेग्रहणकरनेकेयोग्य) हैं; अर्थात् गंधआदि पांचोंमें से जो गुण घ्राण में पृथिवीत्व की, रसना में जलत्व की, चक्षुमें तेजस्त्व की, त्वचा में वायुत्व की और श्रोत्र में आकाशत्व की सिद्धिकरता है, उसी उसी गुण को अपनी प्रकृति में अथवा अन्यप्रकृति में भी क्रमसे घ्राणआदि इंद्रिय ग्रहण करते हैं, अपनी प्रकृति के सब गुणों काग्रहणकरनेमें कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है ७०

तद्व्यवस्थानन्तभूयस्त्वात् ७१ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि गंध तो सारी पृथिवी में रहता है; पुनः घ्राणकोही इंद्रिय कहना, अन्य पृथिवी को इंद्रिय नहींमानना; इसका नियम कैसे होगा, उत्तर करते हैं, इंद्रिय का व्यवस्थान (नियम) भूयस्त्व (अधिकता) से होता है; अर्थात् जल आदिके संबंध से विना केवल पृथिवी से जो द्रव्य उत्पन्न होता है, उसे घ्राण इंद्रिय कहते हैं; इसी (पृथिवी कीप्रधानता) से यह (घ्राण) गंधके प्रत्यक्ष में करण (द्वार) है ७१

सगुणानामिन्द्रियभावात् ७२ ॥

घ्राण आदि इंद्रियों में गंध आदि गुणों के होने में प्रमाण दिखाते हैं; सगुण (गंध आदि गुणों वाले) ही घ्राण आदि इंद्रिय (गंध आदि के प्रत्यक्ष में करण) होते हैं; अर्थात् घृत में जब गंध है, तो वह (घृत) केसर के गंध का प्रत्यक्ष कराता है, इसी रीति घ्राण आदि जब गंध आदि गुणों का प्रत्यक्ष कराते हैं; तो इन (घ्राण आदि) में भी गंध आदि गुण अवश्य हैं ७२ ॥ ❖ ❖ ❖

तेनैवतस्याग्रहणाच्च ७३ ॥

इसरीति इंद्रियों में गंध आदि गुणों की युक्ति के द्वारा सिद्ध होने पर प्रत्यक्ष के नहोने से कल्पना की जाती है; कि घ्राण आदि में गंध आदि गुण अनुद्भूत (सूक्ष्म) हैं; इस अभिप्राय से गौतम जीने कहाहै, कि उस (इंद्रिय) से उस (इंद्रिय) का अग्रहण होने (प्रत्यक्ष नहोने) से स्पष्ट प्रतीत होताहै; कि इंद्रियों के गुण अनुद्भूत (सूक्ष्म) हैं; ७३ ॥ ❖ ❖ ❖

नशब्दगुणोपलब्धेः ७४ ॥

इसपर आशंका करते हैं, कि उक्त (इंद्रियों के गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता यह) नियम योग्य नहीं है; जिससे श्रोत्र इंद्रिय के गुण शब्द की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) होती है; ७४ ॥

तदुपलब्धिरिनेन्द्रियगुणवैधर्म्यात् ७५ ॥

उत्तर करते हैं, इन्हों (पृथिवी आदि) के गुणों (गंध आदि) का वैधर्म्य (विलक्षण स्वभाव) होने से शब्द का प्रत्यक्ष होता है; अर्थात् रूप आदि गुणों के आश्रय पृथक् पृथक् होने से

चक्षु के रूप का ग्रन्थ नहीं होता; और सब शब्दों का आश्रय (आकाश) लाघव से एक माना गया है; इससे श्रोत्र के गुण शब्द का ग्रन्थ हो जाता है ७५ ॥ ❊

अर्थों की परीक्षा का ३३ वां प्रकरण समाप्त हुआ ।

इति न्यायसूत्रवृत्ति में आत्मादिचार प्रमेयों की परीक्षा का तीसरे अध्याय में पहिला आह्निक समाप्त हुआ । ॥

१य॰ अध्याय॰ २य॰ आह्निक

कर्म्माकाशसाधर्म्यात्संशयः १ ॥

कर्म से प्राप्त बुद्धि और मन की परीक्षा इस आह्निक में की जावेगी, यह (बुद्धि और मन की परीक्षा) ही इस आह्निक का प्रयोजन है; कोई आचार्य यूं कहते हैं, कि देह के भीतर वर्त्तमान सुख आदि के भोगने में सहायक प्रमेयों की परीक्षा इस, आह्निक का प्रयोजन है; परंतु यह कथन असंगत प्रतीत होता है, जिस से शरीर के भीतर वर्त्तमान इंद्रियों की परीक्षा पिछले आह्निक में होचुकी है; इस आह्निक में सात प्रकरण हैं; इनमें से आदि के पांच प्रकरणों में बुद्धि की परीक्षा होगी; इन पांचों में से पहिला बुद्धि में अनित्यता की सिद्धि का प्रकरण है, पहिले बुद्धि में अनित्यत्व का संशय दिखाने के लिये यह (सूत्र कहा है; उत्क्षेपण आदि कर्मों की नाईं स्पर्श से रहित बुद्धि अनित्य है, अथवा आकाश आदि विभुओं की नाईं स्पर्श से रहित बुद्धिनित्य है; अर्थात् अनित्य कर्मों के साथ और नित्य आकाश आदि के साथ साधर्म्य (एकसा स्पर्शशून्यत्वधर्म) देखने से संशय हुआ, कि बुद्धि नित्य अथवा अनित्य है १ ॥

विषयप्रत्यभिज्ञानात् २ ॥

अब सांख्यकार बुद्धि में नित्यत्व की सिद्धि करता है; विषयों (घट आदि) की प्रत्यभिज्ञा (जो घट मैं ने देखाथा उसे ही अब हाथ से छूता हूं; ऐसा ज्ञान) होने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि बुद्धि नित्य है, इस प्रत्यभिज्ञा से सब ज्ञानों का आश्रय कोई एक सिद्ध होता है; परंतु कूटस्थ आत्मा में

नो ज्ञान आदिकिसी पदार्थ की प्राप्ति ही नहीं है; किंतु ज्ञान आदि सब बुद्धि के परिणाम और बुद्धि के ही धर्म हैं; इस बुद्धि का आविर्भाव (प्रगट होना) और तिरोभाव (छिपजाना) माना है; उत्पत्ति और विनाश नहीं माना; इस से बुद्धि नित्य है २ ॥ ❖ ❖ ❖

साध्यसमत्वादहेतुः ३ ॥

उत्तर करते हैं, ज्ञान आदि का आश्रय बुद्धि है; यह बुद्धि न साध्यसम (युक्ति के द्वारा न सिद्ध) होने से अपने पक्ष (बुद्धि में नित्यता) की सिद्धि नहीं कर सकती; उत्पत्ति और विनाश से रहित होके ज्ञानवाला होने से ही आत्मा कूटस्थ कहाता है; अन्य कोई कूटस्थ का लक्षण प्रसिद्ध नहीं है, किंतु आत्मा ही ज्ञान आदि का आश्रय नित्य और चेतन है; बुद्धि अनित्य (क्षणिक) है, ३ ॥ ❖

नयुगपद्ग्रहणात् ४ ॥

नित्य बुद्धि के ही व्यापार विषयों के ज्ञान वह्नि के चिंगाड़ों की नांई बुद्धि से अभिन्न हैं; इस (सांख्यके) सिद्धांत का खंडन करते हैं, युगपत् (एकवारगी) ग्रहण (विषयोंका ज्ञान) न होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि ज्ञान और ज्ञानाश्रय का अभेद कभी नहीं होसकता, अर्थात् ज्ञान और ज्ञानाश्रय यदि एक ही हों, तो एकवारगी सब पदार्थों का ज्ञान होजावे; किंतु ज्ञान का आश्रय आत्मा ज्ञान से भिन्न ही है ४ ॥ ❖ ❖ ❖

अप्रत्यभिज्ञानेचविनाशप्रसङ्गः ५

और ज्ञानों को तुमने भी अनित्य माना है; पुनः आश्रय

के साथ इन (ज्ञानों) का अभेद (ऐक्य) भी माना है, तो प्रत्यभिज्ञा के नाश से आश्रय का नाश अवश्य होना योग्य है; क्योंकि ज्ञान और ज्ञानाश्रय एक ही माने गये हैं; इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि ज्ञान और ज्ञानाश्रय का एकमानना सर्वथा युक्ति से बाहर है ५ ॥

क्रमवृत्तिनादयुगपद्ग्रहणम् ६ ॥

अपने मत में गौतम जी एक क्षण में अनेक ज्ञानों का न उत्पन्न होना सिद्ध करते हैं; अणु (अतिसूक्ष्म) मन का जिस जिस इंद्रिय के साथ संयोग होता है, क्रम क्रम से वही इंद्रिय ज्ञान को उत्पन्न करता है; परंतु अतिसूक्ष्म होने से एकबारगी दो इंद्रियों के साथ तो मन का संयोग होही नहीं सकता; इस से सिद्ध हुआ, कि इन्हीं (मनके साथ इंद्रियों के संयोगों) के क्रम से ज्ञानभी क्षण क्षण के विलंब से ही उत्पन्न होते हैं; एक क्षण में उक्त कारणों के न होने से अनेकज्ञान कभी नहीं उत्पन्न होते ६ ॥

अप्रत्यभिज्ञानंचविषयान्तरव्यासङ्गात् ७ ॥

जिस इंद्रिय से मनका संयोग जबतक नहीं होता, तबतक उस इंद्रिय से ज्ञान नहीं उत्पन्न होता; इस बातको युक्ति से सिद्ध करते हैं, विषयांतर (अन्यइंद्रिय) के साथ मन का व्यासंग (संयोग) होने से जिस इंद्रिय के साथ मन का संयोग नहीं है, उस इंद्रिय से प्रत्यभिज्ञान (ज्ञान) कभी नहीं उत्पन्न होता; किंतु जिस (इंद्रिय) के साथ मन का संयोग होता है, उसी (इंद्रिय) से ज्ञान उत्पन्न होता है ७ ॥

नगत्वभावात् ८ ॥

और सांख्य के मत से यह क्रम नहीं सिद्ध होसकता, क्यों-कि इस मत में कार्य कारण के अभेद से मन जब विभु (सबसे अधिक परिमाणवाला) हुआ, तो मन की गति (एक इंद्रियको त्यागके दूसरे इंद्रिय से जामिलना) नहीं बन सकती; कोई ऐसा कहते हैं, कि मन जब विभु है, तो सब इंद्रियों के साथ इस (मन) का संयोग सदा ही बना रहता है; इसलिये सदा ही सब ज्ञान एकट्ठे उत्पन्न हुआ करें ८ ॥

स्फटिकान्यत्वाभिमानवन्नदन्यत्वाभिमानः ९ ॥

ज्ञान और ज्ञान का आश्रय ये दोनों सिद्धांत में तो एक ही हैं, भेद की प्रतीति भ्रम से होती है; इस आशंका को सू-त्रकार दृष्टांत देके सिद्ध करते हैं; जैसे जवा पुष्प आदि के प्रतिबिंब से स्फटिक में भिन्न भिन्न रूपों के भ्रम से स्फटिक में भी भेद का भ्रम होने लगता है; इसी रीति बु-द्धि से अभिन्न भी है, ज्ञान तोभी नाना विषयों के संबंध (प्रतिबिंब) से ज्ञान और बुद्धि भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं; यथार्थ विचार के देखें, ज्ञान और बुद्धि (ज्ञानकाआश्रय) एकही हैं ९ ॥

❖ ❖ ❖

नहेत्वभावात् १० ॥

इस का खंडन करते हैं, कि हेतु (युक्ति) के अभाव (न होने) से ज्ञानों में भेद के ज्ञान को अयथार्थ (भ्रम) मानना योग्य नहीं है; कोई आचार्य ऐसा कहते हैं, कि यह (नहेत्व-भावात्) सूत्र नहीं किंतु भाष्य है; अर्थात् तब ज्ञान के सूत्रकार ने सांख्य की इस आशंका का उत्तर नहीं किया,

इसलिये भाष्यकार ने न्यूनता दूर करने के अर्थ यह पाठ लिख के संख्या की उक्त आशंका का समाधान करदिया है; इस विचार से सिद्ध हुआ, कि बुद्धि अनित्य क्षणिक है, और बुद्धि (ज्ञान) का आश्रय आत्मा बुद्धि से भिन्न नित्य है ९० ॥ इतिन्यायसूत्रवृत्ति में बुद्धि की अनित्यता का साधक ३४ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः
क्षणिकत्वाद्बुद्धीनामहेतुः ९१

स्फटिक की नाईं ज्ञान भी भ्रम से ही बहुत प्रतीत होते हैं; इस बात को न समझ के सौगत (बौद्ध) आशंका करते हैं, कि ज्ञानों के भेद का खंडन करने के अर्थ स्फटिक का दृष्टांत अहेतु (अयोग्य) है; क्योंकि सब भाव क्षणिक हैं, इस से पहिले स्फटिक का नाश और अन्य स्फटिक की उत्पत्ति क्षण क्षण में होती ही रहती है; अर्थात् स्फटिक में अथवा ज्ञान आदि में भेद का ज्ञान यथार्थ ही होता है, अयथार्थ नहीं है; इस रीति भाव पदार्थों में क्षणिकत्व वात्स्यायन भाष्य में सिद्ध किया है; कि क्षण क्षण में शरीर के अंग कभी स्थूल और कभी कृश देखने में आने से स्पष्ट प्रतीत होता है, पूर्व शरीर का नाश और अन्य शरीर की उत्पत्ति क्षण २ में होती रहती है; क्योंकि एक देह में दो परिमाण इकट्ठे कभी नहीं रह सकते, और आश्रय के नाश से विना परिमाण का नाश कभी नहीं होता; इस-

रीति शरीर का दृष्टांत देके सब भावों में क्षणिकत्व सिद्ध कर लेना, कोई ग्रंथकार इतने भाष्य को भी सूत्र ही मानते हैं; ११ ॥

नियमहेत्वभावायथादर्शनमभ्यनुज्ञा १२ ॥

सिद्धांत यह है, कि सब भावों में नियम से नाश की सामग्री होने का कोई दृढ़ हेतु नहीं है; किंतु जहां (शरीरों) में) नाश की सामग्री (अंगों का बढ़ना घटना) देखने में आवे, उन (शरीरों) को क्षणिक मानने की अभ्यनुज्ञा (सम्मति) है; और जिन (स्फटिक आदि) में उक्त सामग्री नहीं दीखती, उन्हें क्षणिक कहने में कोई प्रमाण नहीं है १२ ॥

नोत्पत्तिविनाशकारणोपपत्तेः १३ ॥

सिद्धांत की सहायक और युक्ति दिखाते हैं, उत्पत्ति और विनाश के निश्चित कारण (अंगों का बढ़ना घटना आदि) जिनमें प्रत्यक्ष दीखें, वे (शरीर आदि) क्षणिक होते हैं; परंतु उक्त कारण स्फटिक आदि में नहीं हैं इस से स्फटिक आदि (भावों) को क्षणिक मानना सर्वथा असंगत है १३ ॥

दोहविनाशकारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्चतदुपपत्तिः १४ ॥

आक्षेप का बोध करते हैं, कि दोह (दूध) के नाश का कारण और दही की उत्पत्ति का कारण यद्यपि प्रत्यक्ष (इंद्रियों) से नहीं दीखता; तोभी दूध का नाश और दही की उत्पत्ति मानी जाती है; इसीरीति कारणों के न दीखने पर भी पहिले स्फटिक का नाश और उत्तर स्फटिक की उत्पत्ति मानलेंगे; अर्थात् स्फटिक आदि सब भाव क्षणिक ही हैं; १४ ॥

लिङ्गनाशाद्द्रव्यनाशोऽप्रसिद्धेः ९५ ॥

न्यायका सिद्धांत यह है, कि द्रव्य का नाश और दही यह कार्य जब प्रत्यक्ष दीख रहे हैं; तो इन्हीं कार्यों से इन के कारण भी अनुमान प्रमाण से सिद्ध होजावेंगे, और तुम्हारे कार्य (पहिले स्फटिक का नाश और दूसरे स्फटिक की उत्पत्ति) तो प्रत्यक्ष से नहीं दीख पड़ते, कि तुम भी उन कार्यों से कारणों का अनुमान करलो; प्रायशः वही अनुमान उत्तम होता है, जिसका हेतु प्रत्यक्ष से निश्चित हो; ९५

नयतश्चः परिणामगुणप्रादुर्भावात् ९६ ॥

बौद्ध के मत पर सांख्य की रीति से दोष देते हैं; द्रव्य का नाश और दही की उत्पत्ति यह कथन सर्वथा असंगत है; किंतु विद्यमान द्रव्य के ही परिणाम (फल) अन्य से अन्य होते रहते हैं; अर्थात् वर्त्तमान द्रव्य में ही अवस्था के भेद से पहिले गुणों (मधुररसआदि) का तिरोभाव (लुप्तहोजाना) और अन्यगुणों (आम्लरसआदि) का आविर्भाव (प्रगटहोना) होता रहता है; विनाशोत्पत्ति किसीकार्य की भी नहीं होसकती, जिस से सृष्टिकार्य नित्य है ९६ ॥

व्यूहान्तरद्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनेन
पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ९७ ॥

पूर्व कहे सांख्य के मत का खंडन करके न्याय का सिद्धांत दिखाते हैं; व्यूहांतर (रचनाविशेष) से द्रव्यांतर (पहिलेद्रव्यसेअन्यद्रव्य) की उत्पत्ति के ज्ञान से अनुमान किया जाता है; कि पहिले (अवयवोंके) संयोग का

नाश होने पर पूर्व (पहिले) द्रव्य का नाश होजाने से अन्य द्रव्य उत्पन्न हुआ है; क्योंकि एक क्षण में अनेक मूर्त द्रव्य एक आश्रय में कभी नहीं रहते, यह बात प्रत्यक्ष से ही घट आदि मूर्त द्रव्यों में पाई जाती है; अर्थात् वर्तमान ही द्रव्य अवस्था के भेद से दही बनजाता है, यह सांख्य का कथन सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है ९७ ॥

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः
क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ९८ ॥

सांख्य के मत में दोष देनेके अर्थ गौतम जी ने सूत्र कहा है; कहीं घट आदि के विनाशका कारण (दंडका अभिघातआदि) प्रत्यक्ष ही देखने में आता है; और कहीं द्रव्य, शब्द आदि के विनाश का कारण प्रत्यक्ष नहीं दीखता; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि यह (द्रव्य का नाश और दही कारणसे विना ही होते हैं;) सांख्यकार का कथन अनेकांत (अनियत) होने से सर्वथा अप्रमाणी है। वास्तव यह है, आम्ल द्रव्य का संयोग दूध के नाशका कारण है; और आम्ल परमाणु और उनका संयोग दही का कारण है; इस से सांख्य का कथन असंगत ही प्रतीत होता है ९८ ॥ इतिन्यायसूत्रवृत्ति में भाव पदार्थों की क्षणिकताके खंडनका २५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

नेन्द्रियार्थयोस्तद्धिनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् १९

बुद्धि आत्मा का गुण है, यद्यपि यद्बात आत्मा की परीक्षा में सामान्यरीतिसे सिद्ध कर आए हैं; तोभीविशेष करके इस प्रकरण में सिद्ध करते हैं, कि बुद्धि आत्मा का ही गुण है; आदि में आशंका यह है, कि भेरी और आकाश के संयोग से उत्पन्न शब्द जैसे आकाश का विशेषगुण है; इसी रीति इंद्रिय और अर्थ (घटआदि) के संयोगसे उत्पन्न ज्ञान भी इंद्रियों का ही विशेषगुण होनायोग्य है; इस पर न्याय का सिद्धांत सूत्रकार ने दिखाया है, कि इंद्रियों का अथवा अर्थोंका गुण बुद्धि नहीं है; जिस से इंद्रियों और अर्थों के नाश से अनंतर भी ज्ञान (स्मरण) होता है; परंतु स्मरण उसी को होताहै, जिसको अनुभव हुआ हो; नहींतो यह नियम नरहे, किसका स्मरण किस को हो, किसको नहो १९ ॥

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेरनमनसः २० ॥

मनकाभी गुण बुद्धि नहीं है, इसबात को प्रगट करते हैं; युगपत् (एकबारगी) ज्ञेयों (पदार्थों) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) होने के अर्थ जब मन अणु (अतिसूक्ष्म) और ज्ञानोंका कारण माना गया है; और प्रत्यक्ष में महत्व (महत्परिमाण) कारण है; तोज्ञानआदि यदि मन के गुण माने जावें, तो मन (ज्ञानआदि) का प्रत्यक्ष नहोवे; और कायव्यूह प्रवेशसे अनेक देहों में ज्ञान आदि न होवें २० ॥

महत्त्वगुणत्वेऽपि तुल्यम् २१ ॥

इस पर यह आशंका है, बुद्धि को आत्माका गुण मानने

पर भी यह (एकवारगीवहुतज्ञानउत्पन्नहोवें) देखने-
में है, जिस से विभु आत्मा का संयोग एकवारगी सब इंद्रि
यों से बनाही है; पुनः मनक्याकरसकता है २१ ॥

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदुपपत्तिः २१

उत्तर यह है, कि विभुआत्मा का संयोग सब इंद्रियों के सा
थ एकवारगी यद्यपि बना रहता है; परंतु अणु (अति
सूक्ष्म) मन का संयोग एकवारगी सब इंद्रियों के साथ न
होने से एक क्षण में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति (सिद्धि)
नहीं हो सकती अर्थात् आत्मा के साथ इंद्रियों के संयोग
की नांई मन के साथ इंद्रियों का संयोग भी ज्ञान का काम-
ण अवश्य है; २१ ॥

बोत्पत्तिकारणानपदेशात् २२ ॥

पुनः आशंका करते हैं, बुद्धि की उत्पत्ति के कारण का अ-
नुपदेश (अकथन) होने से यह (बुद्धिआत्मा कागुण है)
कथन अप्रमाण है; और यदि आत्मा के साथ मन का संयो
ग ही बुद्धि का कारण मानाजावे, तो बुद्धि (ज्ञान) सार्वदि-
क (नित्य) होनी योग्य है; जिस से नित्य आत्मा और नित्य
मन का संयोग सदा ही बना रहता है २३ ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चात्म-
स्थानेनित्यत्वप्रसङ्गः २४ ॥

बुद्धि को आत्मा का गुण मानने में और दोष देते हैं; कि
बुद्धि का आत्मा में अवस्थान (होना) मानें, तो बुद्धि के ना-
श का कारण (आश्रय का नाशआदि) उपलब्ध (प्रतीत)
नहीं होता, इस से बुद्धि नित्य (उत्पत्ति और नाशसे रहित)

होनी योग्य है; अर्थात् इन (२३+२४) दो सूत्रों से यह सिद्ध हुआ, कि बुद्धि की उत्पत्ति का कारण और विनाश का कारण जब कोई नहीं प्रतीत होता, तो बुद्धि नित्य है; और आत्मा का गुण बुद्धि नहीं है २४ ॥

अनित्यत्वग्रहादुहे बुद्धेर्ज्ञानस्य हि नाशः शब्दवत् २५ ॥

उत्तर यह है, कि बुद्धि के अनित्यत्व (उत्पत्ति और विनाश) का ग्रह (अनुभव) होने से इन्हीं (उत्पत्ति और नाश) कार्यों के द्वारा कारणों का अनुमान कर लिया जाता है; कि आत्मा के साथ मन का संयोग ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है; और उत्तर (पीछे से होनेवाली) बुद्धि अथवा संस्कार पहिली बुद्धि के नाश का कारण है; और अदृष्ट से अथवा दीर्घकाल से अंतिम (सबसे पिछली) बुद्धि का नाश होता है; एक बुद्धि का नाश दूसरी बुद्धि से होता है, इस में योग्य दृष्टांत दिखाते हैं; 'शब्दवत्' जैसे एक शब्द का नाश दूसरे शब्द से होता है; और निमित्त (अभिघातआदि) के नाश से अंतिम शब्द का नाश होता है, इसीरीति ज्ञान में भी जानना २५ ॥

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः संस्कारोत्पत्तेर्नयुगपदुत्पत्तिः २६ ॥

पुनः आशंका करते हैं, कि बुद्धि जब आत्मा का गुण है, तो संस्कार और आत्मा के साथ मन का संयोग ये दोनों हेतु वर्त्तमान होने से एक क्षण में अनेक स्मरण उत्पन्न होवें; इस पर किसी एकदेशी का उत्तर यह है, ज्ञान (संस्कार

का कारण अनुभव) जिस पदार्थ का आत्मा में समवेत (उत्पन्न) हो, उस पदार्थ में आत्मा और मन का सन्निकर्ष (संयोग) स्मृति का कारण है; परंतु वह सन्निकर्ष क्रमिक (एकबारगी न उत्पन्न होनेवाला) है; इस से एकदम में अनेक स्मृति नहीं होंगी; कोई ग्रंथकार करण अनुभूति से ज्ञान पद का अर्थ संस्कार ही करते हैं २६ ॥ ❊

नानाशरीरवृत्तित्वान्नानाम्नः २७

एकदेशी के मत का खंडन करते हैं, कि यह मत योग्य नहीं है, जिस से शरीर के अंदर वर्त्तमान ही मन अपने व्यापार (आत्मा से संयोग) के द्वारा ज्ञान को उपजाता है; शरीर से बाहर मन का संयोग ज्ञान का कारण ही नहीं है; अर्थात् शरीर के भीतर मन का संयोग जब कारण माना, तो उक्त (एकदम में अनेक स्मरणों का होना) दोष सामग्री (संस्कार और आत्ममनोयोग) के होने से लगा ही रहेगा २७ ॥ ❊ ❊ ❊

साध्यत्वादहेतुः २८ ॥

एकदेशीपक्षः आशंका करते हैं, कि शरीर के भीतर आत्मा के साथ मन का संयोग साध्य (अनिश्चित) होने से स्मरण का हेतु (कारण) नहीं हो सकता; अर्थात् देह के भीतर ही आत्मा के साथ मन का संयोग स्मरण का कारण माना जावे, इसमें कोई प्रमाण नहीं है २८ ॥

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः २९ ॥

न्याय का सिद्धांत यह है, कि स्मरण करने के समय शरीर के धारण की उपपत्ति (सिद्धि) से उक्त (शरीर के भी

तर आत्मा के साथ मन का संयोग स्मरण का कारण नहीं है) प्रतिषेध (खंडन) योग्य नहीं है; अर्थात् शरीर के बाहर मन का संयोग यदि कारण माना जावे, तो स्मरण के समय यत्न के कारण शरीर के अंदर आत्मा के साथ मन का संयोग न होने से शरीर का धारण (जीना) न होवे, किंतु स्मरण के समय शरीर मृत होजावे; २९ ॥ ❖

नतदाशुगतित्वान्मनसः ३० ॥

पुनः आशंका एकदेशी करते हैं, कि मन की उस समय अतिशीघ्र गति होने से अर्थात् बहुत शीघ्र पुनः शरीर में आजाने से शरीर मृत नहीं होता और स्मरण तो देह से बाहर विषयतक मनके जानेसेही होता है ३० ॥ ❖

नस्मरणकालानियमात् ३१ ॥

एकदेशी के मत का खंडन करते हैं, कि स्मरणके समयका कोई दृढ़ नियम न होनेसे यह (मन बाहर विषय तक जाके पुनः बहुतशीघ्र शरीरके अंदर आजाता है) कथन असंगत है; अर्थात् कभी शीघ्र स्मरण होता है, और कभी मन को केवल एक विषय की ओर लगाने पर विलंब से स्मरण होता है; यदि एकदेशी कहे, कि मनकेवल एकविषय की ओर तो शरीरके भीतर ही लगाया जाता है; किंतु स्मरण की उत्पत्ति से एक क्षण पहिले मन बाहर विषय तक जाता है; तो यह भी कहना असंगत है, जिस से बाहरजाना और फेर के पुनः भीतर आना, इन क्रियाओं से उत्पन्न विभाग, पहिले संयोग का नाश, अन्यसंयोग की उत्पत्ति, इत्यादिका र्य जितने क्षणोंमें उत्पन्न होंगे, उतने क्षणों तक शरीर मृत

रहे; ३१ ॥

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञता
मिश्रनसंयोगविशेषः ३२ ॥

एकदेशी के मत पर कोई और एकदेशी दोष देता है, कि शरीर के बाहर विषय से मन का संयोग स्मरण के अर्थ आत्मा की प्रेरणा से नहीं होसकता; क्योंकि आत्मा विषय को जानने से अनंतर मन को प्रेरेगा, तो पहिले ही स्मरण होजाने से प्रेरणा व्यर्थ है; यदृच्छा से (विनाकिसीकारणके) भी विषय से मन का संयोग नहीं कह सकते, जिससे यह वह संयोग कब हो, और कब नहो) नियम कोई नहीं बांध सकेगा; और यह भी नहीं कह सकते, कि चेतन मन स्मरण की इच्छा से विषय से जामिलता है, जिससे मन में चैतन्यका खंडन अणुत्व (अतिसूक्ष्महोने) से करदिया है; कोई लोग प्रेरणा (ज्ञान) यदृच्छा (इच्छा) और ज्ञता (यत्न) कहते हैं; परंतु केवलयत्नके कथनसेही निर्वाहहोजानेसे यदृच्छ कथनअसंगत है ३२ ॥

व्यासक्तमनसःपादव्यथनेनसं-
योगविशेषेणसमानम् ३३ ॥

इस (हमारेएकदेशीके) मत का खंडन करते हैं; नृत्यआदि में एक टक मन लगाये मनुष्य को कांटे आदि से पाउं में व्यथा (पीड़ा) होने पर जैसे मन बहुतशीघ्रता से नृत्य को त्याग के पाउं से आमिलता है; इसी रीति स्मरण के समय विषय से छूके मन बहुत शीघ्रता से शरीर में आजाता है; नहीं तो नृत्य के स्थल में भी ये सब दोष लगें, अदृष्ट विशेष के अधीन

क्रियाओंके सामर्थ्य से यदि मन का संयोग त्वक्के स्थलमेंमा-
नाजावे; तो स्मरण में भी इसीरीति अदृष्ट के सामर्थ्य से नि-
र्वाह करलेना ३३ ॥ ❖ ❖ ❖

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगप
ज्ज्ञानायुगपदस्मरणम् ३४ ॥

न्याय के मत से एक क्षण में अनेक स्मरणों का न होना सि
द्ध करते हैं; प्रणिधान(चित्त की एकाग्रता अथवा स्मरण-
की इच्छा) लिंग(उद्बोधक) आदि के ज्ञान जिससे युगपत्
(एकवारगी) नहीं होते; इसी से एकवारगी अनेक स्मरण
भी नहीं होते, किंतु स्मरण के कारण उक्त ज्ञान जिस क्रम
से होते हैं, उसी क्रम से स्मरण भी होते हैं; यदि उद्बोधक
आदि इकट्ठे जाने जावें, तो स्मरण भी इकट्ठा सब पदार्थों
का एक ही होजाता है; जैसे बहुत अक्षरों के पद का ज्ञा-
न होता है ३४ ॥ ❖ ❖ ❖

प्रातिभवत्तत्प्रणिधानाद्यनपेक्षमा
त्तैर्योगपद्यप्रसङ्गः ३५ ॥

प्रतिभा(स्फूर्ती) से मन की एकाग्रता आदि की अपेक्षा से
बिना ही जैसे अनेक ज्ञान अति शीघ्रता के प्रभाव से एकबार
गी होते प्रतीत होते हैं; उसीरीति जिन स्मरणों में अभ्यास
आदि के प्रभाव से उद्बोधक आदि की अपेक्षा नहीं रहती,
वेस्मरण भी अतिशीघ्रतासे एकवारगी होते प्रतीत होते हैं। ३५

ज्ञानेच्छादेषनिमित्तात्मकारभानिर्देशः ३६ ॥

अब बौद्ध यदि इच्छा को मन का गुणमान के कारण(ज्ञान)
को अपने कार्यों के आधार(मन) में शक्ति से ही सिद्ध करके

आत्मा में ज्ञान का निषेध करे, तो यह उत्तर है । कि ज्ञान आदि मन के गुण नहीं, किंतु आत्मा के गुण हैं, जिससे कार्यों में प्रवृत्त होना, और निवृत्त होना ये प्रयत्न (आत्मा के गुण) अपने कारण इच्छा और द्वेष जो कि ज्ञानका कार्य है, उसे आत्मा में ही सिद्ध करता है; अर्थात् अपने कार्य के कार्य प्रयत्न (अभ्यास) हेतु से चेतन, विभु (सबसे अधिक परिमाणवाला) आत्माही ज्ञान का आधार सिद्ध होता है, अणु (अतिसूक्ष्म) मन अभ्यास नहीं करसकता; १६ ॥

नलिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवा देष्व प्रतिषेधः १७ ॥

इस पर नास्तिक की यह आशंका है; ज्ञान, इच्छा, यत्न, होने तो एक ही आश्रय में हैं, परंतु वह आश्रय मनुष्य के आकार से इकट्ठा हुआ, परमाणुओंका पुंज (समूह) शरीर ही है; प्रयत्न (अभ्यास) को प्रत्यक्ष से ही शरीर में देख के इस (प्रयत्न) के कारण इच्छा द्वेष और ज्ञान भी शरीर में अनुमान से सिद्ध होजाते हैं; इस से पार्थिव (देहआदि) पदार्थों में ज्ञान, इच्छा यत्न, का प्रतिषेध नहीं है १७ ॥

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् १८ ॥

समाधान करने की इच्छा से नास्तिक के मतपर दोष देते हैं; कि परशु (कुहाड़ा) आदि में क्रियाविशेष (काटना आदि) के द्वारा यत्न का अनुमान करने से ज्ञान आदि चेतन के सब गुण जड़ पदार्थों में भी सिद्ध होजावें; इस से यह ही प्रतीत होता है, कि यत्न समवाय संबंध से शरीर आदि (जड़ों) की क्रिया का कारण नहीं; किंतु परंपरा (स्वाश्र-

यसंयोग) संबंध से कारण है; यदि समवाय संबंध से यत्न क्रिया का कारण होवे, तो परमाणुआदि में यत्न भी अवश्य होवे; अर्थात् काटना आदि में नियम से चेतन (विचारणाआदि) की अपेक्षा न पड़े ३८ ॥

क्रमादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ३९ ॥

घट आदि के अवयवों में घट के आरंभ (प्रवृत्ति) को और रेत में घट के न उपजाने (निवृत्ति) को देख के भी इच्छा द्वेष के न होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि यत्न (आरंभनिवृत्ति) से इच्छा, द्वेष का अनुमान करना अहेतु (अयोग्य) है ३९ ॥

नियमानियमौतद्विशेषको ४० ॥

न्याय मत में उक्त दोषों का वारण इस रीति होता है; चेतन और अचेतन (जड़) का विशेष (भेद) नियम (समवायसंबंध से ज्ञानइच्छायत्न के होने) और अनियम (समवायसंबंध से उक्त ज्ञानआदि के न होने) से सिद्ध होता है; अर्थात् समवाय संबंध से ज्ञानआदि चेतन (आत्मा) में ही रहते हैं; और अवच्छेदकतानामी स्वरूप संबंध से ज्ञान आदि शरीर में चेष्टा के कारण हैं; और परमाणुआदि में यत्न विषता संबंध से क्रिया का कारण है; सिद्धांत यह है, यत्न परमाणुआदि की क्रिया का कारण नहीं, किंतु चेष्टा ही कारण है ४० ॥

यथोक्तहेतुत्वात्यत्नस्यादकृतत्वाभ्यागमाच्चनमनसः ४१ ॥

इच्छा आदि मनके गुण नहीं हैं, इस पर और युक्ति दिखाते हैं; इच्छा आदि मन के गुण नहीं हैं, उक्त हेतु (कार्य, कारण के एक आश्रय में रहने) से चेतन (ज्ञान के आधार) आत्मा

में ही इच्छा आदि गुण सिद्ध होते हैं; और जिस से मन परतंत्र (आत्माके साहाय्यसे ही कार्य्य सिद्ध करने में समर्थ) है; इस से इच्छा आदि मन के गुण नहीं, किंतु आत्मा के ही गुण हैं; वास्तव यह [illegible] जानना, कि इच्छा आदि गुण जिस से परतंत्र हैं; अर्थात् अपने आश्रय में वर्त्तमानज्ञान की विषयता ही इन (इच्छाआदि) की विषयता है, इतरत्र कोई विषयता इन की नहीं है, इस से ज्ञान के अधिकरण आत्मा में ही इच्छा आदि गुण रहते हैं; और अपने किये कर्म से उत्पन्न सुख अथवा दुःख का भोग (प्रत्यक्ष) आत्मा में होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि यत्न यदि मन में हो, तो आत्मा में भोग (प्रत्यक्ष) नहो; अथवा अन्य पुरुष के कर्मका फल अन्य में होने लगे; बंध मोक्ष का भागी होने से आत्माही प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों का आश्रय है, मन नहीं हो सकता; सुख आदि का प्रत्यक्ष होने से इन (सुखआदि) के आश्रय आत्मा में महत्त्व (बड़ापरिमाण) माना है; और एकवारगी अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति होने के अर्थ मन अणु (अतिसूक्ष्म) माना है; इससेआत्मा औरमन एक भी नहीं होसकते, इसपर आशंका है, कि आत्मा और मन दोनोंनित्यहैं, इसलिये इनका संयोगभी नित्य होने से मोक्ष कभी ना होवे; इस से मनको अनित्य मान के मनके नाशको मोक्षकहो; उत्तर यह है, कि अदृष्ट के नहोनेसे हिमालय और विंध्यकीनांई नित्य (आत्माऔरमन) कासंयोग नहीं होगा; ज्ञानआदिके अभिप्रायसेकरीश्रुतिना (अन्नंवै प्राणिनःप्राणा) इस की नांई निमित्तकारणताको ही जनाती है ४१ ॥

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ४२ ॥

ज्ञान आदि को आत्मा में ही सिद्ध करते हैं; शरीर आदि में युक्तियों के द्वारा निषेध करदेने से और चक्षु आदि अनेक इंद्रियों से एकपदार्थ का ज्ञान होता है; इत्यादि उक्त हेतुओं से ज्ञान आदि आत्मा के गुण ही सिद्ध होते हैं; ४२ ॥

स्मरणात्मनोऽज्ञस्वाभाव्यात् ४३ ॥

आत्मा में ज्ञान की सिद्धि करने से ही स्मृति की सिद्धि भी होजाती है, तौभी बालकों की बुद्धि विस्तार ने के अर्थ आत्मा में स्मृति की सिद्धि करते हैं; पुनः स्मरण भी आत्मा का ही गुण है, जिस से सबज्ञान आत्मा के गुण हैं, और स्मरण भी एक प्रकार का ज्ञान है, अथवा स्मरण का कारण अनुभव सबआत्मा का गुण है, तो स्मरण भी आत्मा का ही गुण है; कोई ग्रंथकार ऐसे कहते हैं, कि यद्यपि स्मरण का कारण अनुभव नष्ट होजाता है, तौभी ज्ञानवान (आत्मा) के स्वभाव (संस्कारगुण) से स्मरण उत्पन्न होता है; अर्थात् अपने व्यापार (संस्कार) के द्वारा अनुभव ही दीर्घकाल तक भी स्मरण के पूर्वक्षणतकवना रहता है ४३ ॥

प्रणिधानलिङ्गाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्य
परिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यविरोधैक
कार्थविरोधातिशयप्राप्तिसम्बन्धसमवायेभ्यः
च्छादेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनि
मित्तेभ्यः ४४ ॥ ॥

एकवाणी अनेक स्मृतियों का व्यवहार सिद्ध करने के अर्थ प्रणिधान (मनकीएकाग्रता) आदि उद्देश्यों का क्रम सर

ण का कारण माना है; इसलिये प्रणिधान आदि उद्योधक इस सूत्र में दिखाये हैं, स्मरण की अनुहानि पिछले सूत्र से करनी, और द्वंद्वसमास से अनंतर पढ़े निमित्त पद का प्रणिधान आदि प्रत्येकपदकेसाथ अन्वय करने से सूत्र का यह अर्थ होता है; प्रणिधानआदि प्रत्येक निमित्त से स्मरण होता है; अन्य विषयों से हटा के मन को एक विषय में लगाना, प्रणिधान कहाता है; निबंध (एकसूत्र में अथवा एक ग्रंथ में उल्लेख) के द्वारा जैसे प्रमाण से प्रमेय का स्मरण होता है; दृढ़ संस्कार को अभ्यासकहते हैं; यद्यपि यह (संस्कार) उद्योधक नहीं, किंतु कारण है, तोभी संस्कार की अधिकता से उद्योधक शीघ्र प्रतीत होते हैं, इस अभिप्राय से अभ्यास को उद्योधकों में लिखा है; लिंग (बाण) से आपक का स्मरण होता है; लक्षण (चिह्न) से ध्वजा में कपि (वानर) से अर्जुन का स्मरण होता है; सादृश्य से देह आदि की स्मृतिहोती है, परिग्रह (स्वस्वामिभाव) से स्वामि से दास का और दास से स्वामि का स्मरण होता है; आश्रय (आधार) से आश्रित (आधेय) का स्मरण होता है; संबंध (गुरुशिष्य भाव) के द्वारा गुरु से शिष्य का और शिष्य से गुरु का स्मरण होता है; आनंतर्य से प्रोतण (पोने) से अवतान (कूटने) का स्मरण होता है; वियोग (विरह) से स्त्रीआदिका स्मरण होता है, एककार्य (एकसाध्यायी) से दूसरे साध्यायीका स्मरण होता है; विरोध से सांपनेवला आदिमें से किसी एक के देखने से दूसरे का स्मरण होता है; अतिशय (यज्ञोपवीतआदिसंस्कार) से आचार्य (गुरु आदि) का

स्मरण होता है; धन आदि की प्राप्ति से दाता का स्मरण होता है; व्यवधान (ओट) कोश (म्यान) आदि के देखने से खड्ग आदि का स्मरण होता है; सुख से दुःख का और दुःख से सुख का स्मरण होता है; अथवा सुख दुःख से इन (सुख-दुःख) के हेतुओं का स्मरण होता है; इच्छा, द्वेष से इन (इच्छाद्वेष) के विषयों का स्मरण होता है; भय से मरण का अथवा भय के हेतु चोर आदि का स्मरण होता है; अर्थित्व (भिक्षा मांगने) से दाता का स्मरण होता है; क्रिया (शस्त्रादि के कांपने) से वायु आदि का स्मरण होता है; राग (प्रेम) से पुत्र आदि का स्मरण होता है; और धर्म अधर्म से पूर्वजन्म में किये सुखदुःख के साधनों (उपायों) का अथवा पूर्वजन्म में अनुभव किये सुखदुःख का स्मरण होता है; इन हेतुओं में से कोई तो साक्षात् स्मरण के कारण होने से उद्बोधक कहाते हैं; और कइयों के ज्ञान स्मरण के कारण हैं, इस से वेभी उद्बोधक कहाते हैं; बालकों की बुद्धि विस्तारने के अर्थ यह उद्बोधकों का विस्तार दिखाया है; ४४ ॥

इति श्रीन्यायसूत्रवृत्ति में बुद्धि आत्मा का गुण सिद्धकरने का १६ वां प्रकरण हिंदीभाषा में समाप्त हुआ ॥ ❋

कर्म्मानवस्थापिग्रहणात् ४५ ॥

उत्तर बुद्धि से पूर्व बुद्धि का नाश कहा है, परंतु उत्पत्ति से तो सब क्षण में बुद्धि का ध्वंस (नाश) सिद्ध होने से ही वह होसकता है; इसलिये बुद्धि में उत्पत्त्यायवर्गित्व (उत्पत्ति से तीसरे

देशमें नाश) की सिद्धि के अर्थ यहसिद्धांतरूप कहा है; शरीर प्राण आदि की क्रिया का प्रचार प्रतिदेश भिन्न होने से इन(क्रियाओं) के ज्ञान भी विषयों के भेद से प्रतिदेश भिन्न ही मानने योग्य हैं; और पहिली एक की बुद्धि एक कर्म को ग्रहण करके अन्यकर्म को नहीं ग्रहण करसकती; जिस से एककर्म के ग्रहणकरने से व्यापार निवृत्त होचुका है, और व्यापार से विना कार्य का होना ही असंभव है; और उत्तरबुद्धि जब उत्पन्नहीनहीं हुई, तो पूर्व(पहिले) कर्म का ग्रहण कौनेकरावेगी; इस से सिद्ध हुआ, कि उत्पत्ति से तीसरेक्षण में बुद्धि का नाश होता है; बुद्धि का आश्रय आत्मा तो नित्य ही है, इसलिये आश्रय के नाश से तो बुद्धि कानाश नहीं करसकेंगे; किंतु विरोधिगुण (दूसरेज्ञान) से पहिले ज्ञान का नाश होता है ४५ ॥ ❊

बुद्ध्यवस्थानात्प्रत्यक्षत्वेस्मृत्यभावः ४६ ॥

इसी सिद्धांत का सहायक यह सूत्र है; बुद्धि का यदि अवस्थान(चिरकालतक रहना) मानें, तो पदार्थ का प्रत्यक्ष ही चिरतक बनारहेगा, स्मरण कभी नहोवे, क्योंकि अनुभव और स्मरण दोनों एककाल में इकट्ठे नहीं रह सकते; इससेभी सिद्ध हुआ, कि उत्पत्ति से तीसरेक्षण में बुद्धि का नाश होता है ४६ ॥ ❊ ❊ ❊

अप्रत्यक्षग्रहणमनवस्थापित्वादिदुक्त
त्वेतदप्यनुपपन्नं ग्रहणवत् ४७ ॥

इसपर आशंका यह है, कि बुद्धि का नाश यदि उत्पत्ति से तीसरेक्षण में माना जावे; तो जैसे बिजली के चमकने

पर पदार्थ अव्यक्तरूप से (विशेष्यविशेषण के भेद से विना) ही प्रतीत होते हैं; इसीरीति पदार्थ अव्यक्तरूप से ही सदा प्रतीत होवें, विशेषरूप से (विशेष्यविशेषण के भेद से) कभी ना प्रतीत होवें, परंतु विशेषरूप से पदार्थों का ज्ञान सब को होताहै, इस से सिद्ध हुआ, कि बुद्धि स्थिर (नित्य) है, क्षणिक (तीसरेक्षण में नष्ट होनेवाली) नहीं है; ५७ ॥ ❖

हेत्वपादानात्प्रतिषेधस्याभ्यनुज्ञा ५८

उत्तर यह है, कि हेतु (बिजली के चमकने पर उत्पन्नबुद्धिमें शीघ्रनाशका होना) के उपादान (स्वीकार) से तुमने भी प्रतिषेधस्य (बुद्धि के शीघ्रनाशहोने) की अभ्यनुज्ञा (सम्मति) दी है; अर्थात् बिजली के समय उपजी हुई बुद्धि का अतिशीघ्र नाश मान के जब तुम बुद्धि में नित्यत्व की सिद्धि करते हो; तो तुम्हारे मत में यत्न (बुद्धि) के एक देश में बाध दोष लगता है; ५८ ॥ ❖ ❖ ❖

प्रदीपार्चिःसन्ततिवदव्यक्तग्रहणं वृत्तेरुपलब्धेः ५९ ॥

बिजली के समय उत्पन्न बुद्धि का तीसरे क्षण में नाश जब तुमने मानलिया है; तो इसी दृष्टांत से सब बुद्धियों का नाश तीसरे क्षण में मानना योग्य है; जैसे दीप के किरणों का समूह क्षणिक (क्षणक्षण में नष्ट होनेवाला) भी है; पुनः उनका विशेष ज्ञान होने में कोई न्यूनता नहीं है; इसीरीति सब क्षणिक भी हों, पुनः पदार्थों के विशेष ज्ञान होने में कोई न्यूनता नहीं है; बिजली के समय जो बुद्धि उत्पन्न हुई है, वहभी अपने विषय में व्यक्त ही है; अव्यक्त नहीं है ५९ ॥

इतेन्यायसूत्रहानि में उत्पत्ति से तीसरे क्षण में बुद्धि के नाश का साधक १७ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

इतेस्वगुणाद्यगुणोपलब्धेःसंशयः ५० ॥

अब इस बात को सिद्ध करते हैं, कि बुद्धि शरीर का गुण नहीं है; यदि कोई कहे, कि यह बात तो पीछे आत्मा की परीक्षा में ही सिद्ध होचुकी है; पुनः इस प्रकरण का प्रारंभ व्यर्थ है, तो इसका यह उत्तर है, कि जिस से गोरे रंग का हूं, इसी से मेरा ज्ञान अधिक है, ऐसे ऐसे अनुभवों से आत्मा में ज्ञान की साधक और शरीर में ज्ञान की बाधक युक्तियों का खंडन होजाने से इस प्रकरण की पुनरुक्ति की आवश्यकता है; इसलिये विशेषरूप से शरीर में बुद्धि का खंडन करने के अर्थ आदि में संशय का बीज (निमित्त) दिखाते हैं; इति (चंदनआदि) में अपने गुण (गंधआदि) और अन्य (जलआदिके) गुण (शीतस्पर्शआदि) भी प्रतीत होते हैं; इसीप्रति शरीर में अपने गुण (रूपआदि) और अन्य (तेजआदिके) गुण (उष्णस्पर्श आदि) की प्रतीति से संशय होताहै; कि शरीर में बुद्धि अपना गुण है, अथवा-किसी अन्यका गुण है; ५० ॥

यावच्छरीरभावित्वाद्दृष्टादीनाम् ५१ ॥

इस पर न्याय का यह सिद्धांत है; इस सूत्र के आदि में वा-स्यायन जीने प्रतिज्ञा अपनी ओर से मिलादी है, कि चेतना (बुद्धि) शरीर का गुण (विशेषगुण) नहीं है, जिस से

शरीर के विशेषगुण (रूपआदि) सारे यावत् (परिमित) द्रव्य (शरीर) में रहते हैं; यदि बुद्धि शरीर का विशेषगुण हो तो रूप आदि की नाईं आश्रय (शरीर) के नाश होने पर ही नष्ट होवे; परंतु शरीर के नाश से विना भी बुद्धि का नाश होजाने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि बुद्धि शरीर का विशेषगुण नहीं, किंतु किसी नित्य (आत्मा) का विशेषगुण है।

नपाकजगुणान्तरोपलब्धेः ५२ ॥

सिद्धर (अनर्थकी) में पाक मानने वाले (गौतमके) मत सेउक्त अनुमान में व्यभिचार दोष देते हैं; पाक (अग्निके संयोग) से पहिले गुणों (रूपआदि) का नाश और गुणांतर (अन्यरूपआदि) की उपलब्धि (प्राप्ति) से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि शरीर के नाश से ही शरीर के विशेषगुणों (रूप-आदि) का नाश मानना सर्वथा अयुक्त है; अन्यग्रंथकार ऐसे सिद्धांतसूत्र ही मानके यूं अर्थ करते हैं; पाक से पहिले रूपआदि का नाश होके अन्य रूपआदि उत्पन्न होते हैं; इससे उक्त अनुमान में व्यभिचार की शंका नहीं करनी; अर्थात् उक्त अनुमान का यह अभिप्राय है, कि शरीर के पहिले रूपआदि का नाश जबतक नाहोवेगे; तबतक अन्य रूप आदि उसशरीर में कभी नहीं आसकते, एवंबुद्धिके वर्त्तमान क्षण में दूसरी बुद्धि उत्पन्न होने से सिद्ध हुआ, कि बुद्धि शरीर का विशेष गुण नहीं है ५२ ॥

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेःपाकजानामप्रतिषेधः ५३ ॥

गौतम के मत सेही उत्तर भी करते हैं, जैसे गौतम द्रव्य आदि पदार्थों में आश्रय (द्रव्यआदि) के नाश से विना भी पदा-

से रूपआदिका नाश और अन्य रूपआदि की उत्पत्ति हो; परंतु अवयवों की वृद्धि और हानि से प्रतिवृद्धि (अन्यशरीर) की सिद्धि होने पर शरीर में पाकज गुणों का प्रतिषेध (खंडन) योग्य नहीं है; अथवा अपाकजरूप आदि का दृष्टांत देने से पाकज रूपआदि की प्राप्ति ही नहीं है; तो प्रतिषेध करने से लगनाथा; कोईलोग इस सूत्र को इसलगाते हैं; कि पाकज रूप आदि के प्रतिवृद्धि (विरोधी) रूपआदि की सिद्धि से स्पष्ट है; कि शरीरका विशेषगुण बुद्धि नहीं है, अर्थात् एक द्रव्य में दोरूप एक शरीर में नहीं रहसकते; परंतुएकद्रव्य में दोबुद्धिकीसिद्धि से बुद्धि शरीरका विशेषगुण नहीं है ५३ ॥ ❖ ❖ ❖

शरीरव्यापित्वात् ५४ ॥

इस हेतु से भी सिद्ध है, कि ज्ञान आदि शरीर के विशेषगुण नहीं हैं; शरीर के विशेषगुण (रूपआदि) व्यापी (सारे शरीरमेंरहते) हैं; और ज्ञानसुखआदि का अनुभव तो केवल हृदय में ही होता है, सारेशरीर में नहीं होता; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि ज्ञानआदि शरीर के विशेषगुण नहीं हैं; ५४ ॥ ❖ ❖ ❖ ॥

केशनखादिष्वनुपलब्धेः ५५ ॥

इसपर दोष देते हैं, कि शरीर के विशेषगुणों (रूपआदि) का सारे शरीर में कथन असंगत है; जिस से केशों और नखों में शरीर के रूप आदि गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता; ५५

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्यकेशनखादिष्वप्रसङ्गः ५६

उत्तर यह है, कि रूप आदि विशेषगुण सारे शरीर में होते

ने हैं; क्योंकि केशों और नखों का नाम शरीर नहीं है, जिससे जहां तक त्वचा का प्रसार है, उसी को शरीर कहते हैं; अर्थात् प्रीत, उस स्पर्श का प्रत्यक्ष त्वचा से जहांतक हो, वहांतक ही शरीर कहाजाता है; परंतु केशों और नखों में उक्त स्पर्शों का प्रत्यक्ष नहीं होता; इससे केशों और नखों को शरीर नहीं कहते; कोई आचार्य्य इन (५४-५५-५६) सूत्रों को यों लगाते हैं; जिस से बुद्धि शरीर और शरीर के सब अंगोंमें एक (अवच्छेदकतानामीस्वरूप) संबंध से रहती है; इस से शरीरकाविशेषगुण नहीं है; जिस से शरीर के गुण रूप आदिशरीर में समवाय संबंध से और अंगों में स्वसमवायिसमवेतत्व संबंध से रहते हैं; आशंका यह है, केशों और नखोंमें तो बुद्धि नहीं है; उनः सब अंगों में बुद्धि कैसे कही है; उत्तर यह है, जिनजिन अंगों में त्वचा का प्रसार (स्पर्शों का प्रत्यक्ष होना) है; उन अंगों में बुद्धि मानी है, केशोंऔर नखोंमें स्पर्शों का प्रत्यक्ष ना होने से बुद्धिमानी हीनहीं है; पुनः निषेधबुद्धि सका करते हो ५६ ॥ ❖ ❖ ❖

शरीरगुणवैधर्म्यात् ५७ ॥

शरीर में बुद्धि का निषेध (खंडन) करने के अर्थ और हेतु दिखाते हैं; शरीर के गुण रूप आदि का वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) बुद्धि में रहने से बुद्धि शरीरका गुण नहीं है; अर्थात् चक्षु आदि बाहर की इंद्रियों से बुद्धिका प्रत्यक्ष नहीं होता, और प्रत्यक्ष होता है; इस से बुद्धि शरीर का विशेष गुण नहीं है; ५७ ॥

मरुत्सातीनामितरेतरवैधर्म्यात् ५८ ॥

इस पर आक्षेप (आशंका) करते हैं, जिन का बाहर की

इंद्रिय से प्रत्यक्ष न हो; उन का यदि शरीर में निषेधकरो, तो बाहर की इंद्रिय चक्षु से स्पर्श का और त्वचा से रूप, रस आदि का प्रत्यक्षनहोने से शरीर में रूप आदिका भी निषेध होना योग्य है; अर्थात् रूप आदिगुणोंके वैधर्म्य से शरीर में बुद्धि का निषेधकरनायोग्यनहीं है; ९८ ॥ ❖

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ९९ ॥

उत्तर यह है, कि बाहर की किसी एक इंद्रिय से भी जिस का प्रत्यक्ष होजावे; उसका शरीर में निषेध नहीं होता, इस लिये बाहर की चक्षु आदि एक एक इंद्रिय से रूप आदि एक एक का प्रत्यक्ष होजाने पर शरीर में रूप आदि का निषेध सर्वथा अयुक्त है; और बाहर की किसी इंद्रिय से भी बुद्धि का प्रत्यक्ष नहीं होता, परंतु मन से बुद्धि का प्रत्यक्ष होता है; इस से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि शरीरका विशेषगुण बुद्धि नहीं, किंतु आत्मा का विशेषगुण बुद्धि है; ९९ ॥ इति न्यायसूत्रवृत्ति में शरीर से बुद्धि के खंडनकरने का ३८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

ज्ञानायौगपद्याज्जैकं मनः ६० ॥

क्रम से आप मन की परीक्षा करते हैं, कि एक शरीर में एक ही मन है, अथवा चक्षु आदि पांच इंद्रियों के सहायक पांच मन हैं; इस संदेह होनेपर किसीका (पूर्वपक्ष आशंका) है; कियांच ही मन मानने योग्य हैं, जिस से एक एक मनके संबंध से एकज्ञान की और अनेक मनों के संबंध से अनेक

ज्ञानों की सिद्धि भी एक क्षण होजावेगी; इस आशंकाका उत्तर करने के अर्थ गौतम जीने यह सिद्धांतसूत्र कहा है; ज्ञानों के अयौगपद्य (इकट्ठे एक क्षणमें नउत्पन्न होने) से एक ही मन है; अनेक मन नहीं हैं; अर्थात् मन यदि अनेक हों, तो एक ओर चित्त लगाने के समय भी अनेक ज्ञान उत्पन्न होजावें; इस से मन एक ही है, ६० ॥ ❊

नयुगपदनेक क्रियोपलब्धेः ६१ ॥

इसपर आशंकाकरते हैं, कि लोन, मीठा आदि अनेक रसों से भरी ऊर्द बड़ूत अच्छी प्रकार खानेके समय रूप, रस, गंध और स्पर्श आदि के अनेक (क्रिया) ज्ञान युगपत् (इकट्ठे एकक्षण में) होते देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि अनेक (पांच) ही मन हैं; एक मन नहीं है ६१ ॥

अलातचक्रदर्शनवदुपलब्धि रभ्युपज्ञायात् ६२ ॥

उत्तर यह है, क्रम क्रम से उत्पन्न हुए अनेक पदार्थ भी किसी दोषविशेष (अतिशीघ्रताआदि) से इकट्ठे उत्पन्न होते प्रतीत होने लगते हैं; जैसे अलात (बुआती) बड़ूत वेग से घुमाई जावे, तो उस (अलात) की बड़ी सी क्रिया अतिशीघ्रता के दोष से एक चक्रवत् बनाहुआ प्रतीत होती है; इसीप्रकार अतिसूक्ष्मकाल) के विलंब से होते रूपआदि के ज्ञान अतिशीघ्रता के दोष से इकट्ठे होते प्रतीत होते हैं; मन एक ही है ६२ ॥ ❊ ❊

यथोक्तहेतुत्वाच्च ६३ ॥

जब एक मनसिद्ध हुआ, तो एक क्षण में अनेक ज्ञानों

की उत्पत्ति सिद्ध करने के अर्थ यह (मन) विभु मानना योग्य है; इसका उत्तर इस सूत्र में किया है, कि यथोक्त (कहे हुए) हेतु (एकक्षण में अनेक ज्ञानों के न उत्पन्न होने) से ही मन अणु (अतिसूक्ष्म) है; विभुनहीं है; अर्थात् एक क्षण में अनेक ज्ञानों का होना ही असिद्ध (प्रमाण से विरुद्ध) है; इसी से मनको विभु मानना भी युक्ति से बाहर है ६३ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में मन की परीक्षा (एकज्ञानकी सिद्धि) का ३९ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ६४ ॥

अब प्रसंग संगति से शरीर में जीवात्मा के अदृष्टों से उत्पन्न होने की सिद्धि के प्रकरण का अथवा एकशरीर में वर्त्तमान मन का सब आत्माओं से संबंध (संयोग) होने पर भी अपने अपने आत्मा का ही ज्ञान (प्रत्यक्ष) सिद्ध करने के अर्थ ज्ञान में अदृष्ट से उत्पन्न होने की सिद्धि के प्रकरण का आरंभ करते हैं; यहां शरीर जीवात्मा में समवेत (समवाय संबंध से वर्त्तमान) अदृष्ट (प्रारब्ध पाप) से जन्य है, अथवा नहीं; इस संशय के होने पर निषेध (शरीरअदृष्टसे जन्य नहीं है) तीन प्रकार से किया गया है, यथा (१) अदृष्ट नामी पदार्थ ही जगत में नहीं है, (२) अदृष्ट शरीर का कारण ही नहीं है, (३) अदृष्ट का जीवात्मा से समवाय (संबंध) हीन ही है; इन तीनोंमें से पहिले पक्ष का खंडन इस में किया है, पूर्व (पहिले) जन्म के यज्ञ, दान, हिंसा आदि कर्मों के फल

(उपप, पाप) के अनुबंध (साहाय्य) से शरीर की उत्पत्ति होती है; इस कार्य (शरीर) से कारण (अदृष्ट) अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है ९४ ॥ ❊ ❊

भूतेभ्योमूर्त्युपादानवन्नदृष्टोपादानम् ९५ ॥

आशंका जैसे विना अदृष्ट की सहायता के भूतों (परमाणुओं) से मूर्ति (मृत्तिकादि) का उपादान (उत्पत्ति) होता है; इसीरीति अदृष्ट की अपेक्षा त्यागके केवल परमाणुओं से ही शरीर की उत्पत्ति होती है; ९५ ॥ ❊ ❊

नदृष्टसाध्यसमत्वात् ९६ ॥

उत्तर यह है, कि मृत्तिका का दृष्टांत साध्यसम (युक्ति से सिद्ध नहीं) है; इस लिये तुमारा कथन असंगत है; अर्थात् अदृष्टके साहाय्य से ही परमाणु मृत्तिका को भी उपजाते हैं; इस से तुमारा कथन अयुक्त है ९६ ॥ ❊

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ९७ ॥

और शरीर में मृत्तिका की समता नहीं आसकती, इसबात को दो सूत्रों से सिद्ध करते हैं; जिससे माता, पिताके अदृष्ट शरीर की उत्पत्ति में निमित्त कारण हैं; अर्थात् पुत्रका मुख देखने से जो सुख का अनुभव (प्रत्यक्ष) होता है; उस के कारण अदृष्ट (तपस्या अथवा देवता के आराधनसे उत्पन्न) ही पुत्र की उत्पत्ति में निमित्त कारण हैं; ९७ ॥ ❊

तथाहारस्य ९८ ॥

इसी रीति माता, पिता का आहार (शाकआदि का भोजन) भी अदृष्टों के साहाय्य से पुत्र की उत्पत्ति में वीर्य, रुधिर, आदि के उपजाने से निमित्त कारण है, अन्य आचार्य

ऐं कहते हैं, कि आहार पितामह आदि पितरों को श्राद्ध में पिंड देने से उत्पन्न हुए अदृष्ट ही पुत्र की उत्पत्ति में निमित्त कारण हैं; इन हेतुओं से सिद्ध हुआ, कि शरीर में मृत्तिका आदि का दृष्टांत देना सर्वथा अयुक्त है; ६८ ॥

अप्रत्युच्चारणवत् ६९ ॥

आहार में अदृष्ट की सहायता को व्यतिरेक मुख (अदृष्ट से विना आहार आदि को अर्थ बनादेने) से सिद्ध करते हैं; प्राप्ति (स्त्री, पुरुष का संयोग) होने पर भी जिस से गर्भ धारण का दृढ़ नियम नहीं देखने में आता; इस से अदृष्ट की सहायता अवश्य माननी योग्य है; अर्थात् अदृष्ट के होने पर एकवार संयोग होने से भी गर्भ की स्थिति होजाती है; और यदि अदृष्ट नाहो, तो बहुत वार संयोग होने से भी गर्भ की स्थिति नहीं होती; इस अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध हुआ, कि शरीर की उत्पत्ति में अदृष्ट अवश्य कारण है; ६९

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्
संयोगोत्पत्तिनिमित्तंकर्म ७०

इस पर यह आशंका है, कि अदृष्टों की अपेक्षा त्याग के अपने स्वभाव से ही कोई भूत (परमाणु) शरीर को उत्पन्न करते हैं; क्योंकि स्वभाव यदि नामानाजावे, तो आत्मा (विभु) का संयोग तो सब शरीरों (मूर्त्तों) से बना है; पुनः यह ही इस का शरीर है; और यह नहीं है, ऐसा अंतर नाहोवे अर्थात् आत्माका साधारण संयोग सब शरीरों से हो भी परंतु विशेष संयोग (अवच्छेदकतानामी) जिस शरीर से हो, वही उस का शरीर होता है; इसविशेष संयोग का

कौन कारण है, इसका उत्तर यह है, कि जैसे शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कारण अदृष्ट है; इसीतिं विशेषसंयोग(अवच्छेदकता) का निमित्तकारण भी अदृष्ट है; इस संयोग में अन्य संयोगों से विशेषता यह है; आत्मा का ज्ञान उत्पन्न करने की नियामक(नियमबांधने वाली) जाति(साधारण धर्म्म) ही विशेषता है; कोई कहते हैं, कि शरीर के अवयवों की रचना(आकृति) ही विशेषता है ७० ॥

एतेनानियमः प्रत्युक्तः ७१ ॥

इस पर सांख्य की यह आशंका(दूसरापक्ष) है; प्रकृति का यह स्वभाव है, कि सब कार्यों को उत्पन्न करना; इसीसे शरीर की उत्पत्ति भी सिद्ध होजावेगी, पुनः शरीर को अदृष्ट से उत्पन्न मानना अयुक्त है; किंतु बंधन के टूटने से जलजैसे नीचे की ओर वह चलता है; इसीतिं अन्यशरीर की उत्पत्ति में पहिले बंधक(पहिलेशरीर) का नाश अदृष्टों के अधीन है; उत्तर यह है; इस(अदृष्ट को कारणमानने) से अनियम(अवस्था का नाहोना) भी दूर होगया; अर्थात् कभी मनुष्य, कभी देवता, कभी पशु आदि होना; और कभी सारे अंग सुंदर होने, कभी काणे गंजे आदि हीन अंग होने, इन सब का नियम अदृष्ट मानने पर भी बंध सकता है; नहींतो अव्यवस्था होजावेगी; और भी है, कि अदृष्टों की अपेक्षात्यागके केवल प्रकृति से ही शरीर की उत्पत्ति मानो, तो सब शरीर एकसे(सदा सुखी दुःखी) ही हों; भिन्नभिन्न प्रकारके नाहों; कोई इस सूत्र को यूं लगाते हैं, उत्तरउत्तर अदृष्टों के कारण अनादि परंपरा से चले आते पूर्व पूर्व अदृष्ट कारण मानने से अदृष्टों में

भी अव्यवस्था का वारण होजावेगा ७१ ॥ ॐ

उपपन्नस्तद्वियोगःकर्मतोऽपपत्तेः ७२ ॥

शरीर के संबंध में जब अदृष्टकारण माने गये; तो भाव कार्य होने से कर्मो (अदृष्टों) का क्षय (नाश) सिद्ध होजावेगा; इस (अदृष्टोंके नाश) से शरीरका (शरीरसेप्राणोंका) वियोग भी सहज से सिद्ध होजावेगा; अर्थात् कारण (अदृष्ट) जबतक रहेगा; तबतक शरीर भी रहेगा, और अदृष्टके नाश से शरीर का नाश होजावेगा ७२ ॥ ॐ

तददृष्टकारितमिति चेत्
नात्मसंयोगःपर्यायेण ७३ ॥

कोई एक बौद्ध विशेष ऐसे कहते हैं, कि अदृष्ट मन और परमाणुओंका गुण है; इस से पार्थिव परमाणुओं के समूह अपने अदृष्टों के साहाय्य से शरीर को उत्पन्न करते हैं; और अपने अदृष्ट की सहायता से मन उस शरीर में प्रवेश करता है; वह अदृष्ट स्वभाव से ही पुरुष के सुखदुःखों को उत्पन्न करता है; इस का उत्तर यह है, कि आत्मा में अदृष्ट संबंध से विना ही आत्मा में सुखदुःख उपजाने के के अर्थ यदि परमाणु ही शरीर को उत्पन्न करें, तो नित्य परमाणु आत्मा के भोग से अनंतर भी उस आत्मा के भोग (सुखदुःख) उपजाने के अर्थ शरीर को उत्पन्न करें; और मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट आदि के देहों की प्राप्ति का भी कोई दृढ़ नियम ना होवे; ७३ ॥ ॐ ॐ

नकरणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ७४ ॥

यदि ऐसे कहें, कि एकवार शरीर को उत्पन्न करके सब काल

रूप परमाणु उस (मुक्त) आत्मा के शरीर को नहीं उत्पन्न करते; तो यह उत्तर है, एकवार शरीर उपजाने से विषयों का प्रत्यक्ष होजाने पर भी पुनः पुनः देह उत्पन्न होते हैं; और प्रकृति, पुरुष के भेद का प्रत्यक्ष करने से विना भी पुनः पुनः शरीर की उत्पत्ति होती है; इसलिये अपना कार्य (विवेक) उपजा के प्रकृति का निवृत्त होना सत्य है; और विषयों के प्रत्यक्ष से भूतों का निवृत्त होना सर्वथा असंगत है; ७४

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्चसंयोगानुच्छेदः ७५

मन का गुण भी अदृष्ट नहीं है, यदि अदृष्ट मन का गुण हो, तो शरीर की उत्पत्ति में हेतु, ज्ञान आदिका कारण संयोग (मनका) कभी नष्ट ना होवे; क्योंकि इस (संयोग) का कारण नित्य मन का अदृष्ट भी धारारूप से नित्य है, इस से संयोग की धारा भी नित्य होनी योग्य है; और अदृष्ट को अनित्य भी मानें, तो विरुद्ध अधिकरण (आत्मा) में होने वाले भोग से इसका नाश मानने पर सर्वव्यवस्था टूट जावेगी ७५ ॥

नित्यप्रसङ्गःअप्रायणानुपपत्तेः ७६ ॥

मनःसंयोग का नाश ना होने से क्या हानि है, यह दिखाते हैं; संयोग के नाश से विना मरण (प्राणवियोग) के ना होने से शरीर नित्य (नाशसेरहित) होजावे; ७६ ॥ *

प्रणप्रणामनानित्यत्वदेतत्स्यात् ७७ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि जैसे नित्य भी परमाणु का नीलरूप परमाणु के नाश से विना ही नष्ट होजाता है; इसी रीति अपने कारण संयोग के नाश से विना ही शरीर भी नष्ट होजाता है; अथवा उक्त नीलरूप की नांई नित्य भी पर-

माण का अदृष्ट नष्ट होजाता है; इस से मोक्ष के समय शरीर नहीं उत्पन्न होता; ७७ ॥ ❖ ❖ ❖

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ७८ ॥

सिद्धांत यह है, कि अकृत(प्रमाण से विरुद्ध) का अभ्यागम(स्वीकार) करने से नित्य कथन योग्य नहीं है; अर्थात् परमाणु के नील रूप को नित्य मानना भी किसी प्रमाण से नहीं सिद्ध होसकता; तो इस (नीलरूप) के दृष्टांत से अदृष्टों के नाश का स्वीकार भी असंगत है; और नित्य का अर्थ यदि अनादि करें, तो पुनः इन(नीलरूपादि) का नाश मानना, सर्वथा असंगत है; क्योंकि अनादि भावों का नाश कभी नहीं होता, किंतु जन्यभावों का ही नाश होता है; अथवा शरीर के संबंध में यदि नित्य अदृष्ट कारण मानेजावें, विनाकिये कर्मों के फलों की प्राप्ति से कौनसा किसका शरीर है; कौनसा नहीं है, यहव्यवस्था सर्वथा टूट जावेगी; ७८ ॥ ❖ ❖

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में शरीर को अदृष्ट जन्यसिद्धकरने का ४० वांप्रकरणसमाप्तहुआ ॥ ❖ ❖

इतितीसरेअध्याय का दूसरा आह्निकसमाप्तहुआ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में तीसराअध्यायसमाप्तहुआ ॥

४र्थ॰ अध्यायकीअवतरणिका ॥

कोटि सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान, कोटिकाम देव से
भी अधिकसुंदर जगत के आधार, सबकी कामना सिद्ध
करने वाले, योगीजनों के अंतःकरण में स्थित, किसी
श्यामवर्ण (कृष्णवर्ण) का हम आश्रय लेते हैं; ३तीसरे
अध्याय में कारण रूप आत्मा आदि छे प्रमेयों की परीक्षा
हो चुकी है; अब ४र्थ॰ अध्याय में अवसर और कार्यकार-
णभाव संगति से कार्य रूप प्रवृत्ति आदि छे प्रमेयों की
परीक्षा होगी; यद्यपि १म॰ आह्निक में ही इनछओं की परी
क्षा होगी; २य॰ आह्निक में तो तत्वज्ञान की परीक्षा होगी;
तोभी मोक्ष का कारण होने से और उपोद्घात संगति से तत्व
ज्ञान की परीक्षा भी मोक्ष की परीक्षा का ही एक अंग है;
इस से प्रवृत्ति आदि छे प्रमेयों की परीक्षा ही ४र्थ॰ अध्याय
का प्रयोजन है; उस में उक्त संगतियों से प्रवृत्ति आदि छे प्र-
मेयों की परीक्षा १म॰ आह्निक का प्रयोजन है; इसआह्निक
में १४ प्रकरण हैं; इन में से उक्त संगति से प्रवृत्ति और दो-
ष की परीक्षा का १म॰ प्रकरण है; इसपर आशंका करते
हैं, प्रवृत्ति और दोष इन दो प्रमेयों की दो परीक्षा होनी यो-
ग्य हैं; एककैसे कहते हो, उत्तर यह है, यथा, तथा इन दो
प्रमेयों के नियत संबंध से दोनों में एक प्रकार की संगतिदि-
खाने से एक ही प्रकरण कहा है ।

प्रवृत्ति की परीक्षा के अर्थ यह सूत्र कहा है,

प्रवृत्तिर्दोषाः ॥ १ ॥

इस सूत्र में कोई लोग तथा इतना अपनी ओर से लगाते

है; परंतु यह अयुक्त है, क्योंकि (अस्मिन्) इस सूत्रमेंही (यथा, तथा का) संबंध निहित होजाने से (अथ) सूत्र में भी यथा शब्द अवश्य देना पड़ेगा, इससे प्रकरण भी दो होजाने से बड़ा गौरव दोष आवेगा; इसलिये दूसरे सूत्र के तथा शब्द को साथ लेके दोनों का एकअर्थ करलेना; प्रवृत्ति का जैसेउक्त लक्षण ही सिद्धांत है; ऐसेदोषों का भी पूर्वोक्त ही सिद्धांत लक्षण जानना; ऐसे दोनों सूत्रोंका इकट्ठा अर्थकरना। अर्थात् प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः इस सूत्र में जो प्रवृत्ति का लक्षण कर आये हैं; वह ही सिद्धांत जानना, यह प्रवृत्ति दो प्रकार की है, कारणरूपा और कार्यरूपा परंतु ये दोनों ही समवाय संबंध से आत्मा में रहती हैं; इन दोनों में से पहिली यत्न (अभ्यास) नाम की प्रत्यय से सिद्ध जीव (जीवात्मा में रहनेवाली) अनित्य और कूट (ईश्वर में रहनेवाली) नित्य है; और दूसरी धर्म, अधर्म (पुण्य, पाप) नामकी चिरकाल के नष्ट हुए यज्ञ आदि उत्तम कर्म और हिंसा आदि मंद कर्मकाफल (सुखदुःख) उत्पन्न होना देख के आपाद मानी जाती है; और कर्मनाशा नदी के जल का स्पर्श होजाने से और प्रायश्चित आदि कर्मों से यह (धर्म अधर्म नामकी) कार्य रूपा प्रवृत्ति नष्ट भी होजाती है; १ ॥ ※

तथादोषाः २ ॥

क्रम से प्राप्त दोषोंकी परीक्षा करने के अर्थ यह सूत्र कहा है इसी रीति प्रवर्त्तनालक्षणादोषाः इस सूत्रमें जो दोषों का लक्षण कहा है; वह ही सिद्धांत जानना योग्य है २ ॥ इतिन्याय सूत्रवृत्तिमें प्रवृत्ति और दोषकी सामान्यपरीक्षा का ४ था भाग

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ३ ॥

अथ दोषकी विशेष परीक्षाकरने के अर्थ रागआदि दोषों के तीनसमूह दिखाने का प्रकरण चलाया है; आदि में यह सिद्धांत सूत्र कहा है, उनदोषों के तीन समूह(राशि) हैं; ना कि राग आदि एक एक ही दोष हैं, जिस से इन(राग आदि)के आवांतर भेद बहुत हैं, इस से भय शोक मोह आदि का इन्हीं में अंतर्भाव होनेसे कोई न्यूनताभी नहीं, और इच्छात्व, द्वेषत्व, मिथ्याज्ञानत्व धर्मों के भेद से अधिकता भी नहीं आती; रागआदि में इच्छात्व आदि धर्म अनुभव से ही प्रतीत होते हैं; इन में से राग के समूह में ये पदार्थ आते हैं; काम(संभोगकी इच्छा) स्त्री पुरुष के विलक्षण संयोग को संभोग कहते हैं; मत्सर(अपने प्रयोजन से विना ही पराये अर्थके विनाशकी इच्छा) जैसे राजा के झषील(मछली) से पानी नहीं पीना योग्य है; स्पृहा(धर्म से धनप्राप्ति की इच्छा) तृष्णा(यह मेरा पदार्थ नष्टनाहोवे ऐसी इच्छा) कार्पण्य(आदृआदि में योग्यव्ययसे भी धन रखने की इच्छा) भी तृष्णा के ही अंतरगत जानना; लोभ(पाप से धन प्राप्तिकी इच्छा) माया(अन्यपुरुषोंको छलने की इच्छा) दंभ(कपटसे धर्मात्मापनेके अपनीप्रसिद्धि की इच्छा) द्वेष के समूह में ये पदार्थ आते हैं; क्रोध(आंख लाल होजाने आदि का देह दोष), ईर्ष्या(साधारणवस्तुकीप्राप्ति से भी स्वामी पर क्रोध) असूया(पर-

येगुणोंसे क्रोध) द्वेह (मारनेके अर्थ क्रोध) अमर्ष (अप
राधीका कुछ नाकरसकनेपर क्रोध) अभिमान (शत्रुका
कुछ नाकरसकनेसे अपने शरीरपर क्रोध) । मोह के
समूह में ये पदार्थ आते हैं; विपर्यय (मिथ्याज्ञाननामी
अयथार्थनिश्चय) संशय (एक आश्रयमेंविरुद्धभाव और
अभावकाज्ञान) इसीकोविचिकित्साभीकहते हैं; तर्क
(आप्तके भ्रमसेवाक्यकाभ्रम) मान (अपने में नहरने-
वालेगुणोंके भ्रमसे अपने आपआपको बड़ेमानना) भे-
द हूसरेगुणीकोनिर्गुणजाननाभीमान अभाव (क
रनेकेयोग्यपदार्थमें करनेकीनायोग्यता काज्ञान) भय
(दुःखके हेतु की प्राप्ति पर उसे त्यागनसकनेकाज्ञान)
और शोक (इष्टकावियोगहोने व उस कीनाप्राप्तिहोने-
काज्ञान) ३ ॥ ❊ ❊ ❊

नैकप्रत्यनीकभावात् ४ ॥

इस पर आशंका करतेहैं, कि दोषों (रागआदि) केती
न भेद मानने योग्य नहीं हैं; जिस से ये (रागआदि) सब
दोष एक (तत्वज्ञान) के ही विरोधी हैं; अर्थात् एकतत्व-
ज्ञान से ही जब इन सब दोषोंका नाश होजाता है, तो
दोष नामी एक ही पदार्थ मानना योग्य है; तीन भेदमा
नने व्यर्थ हैं; ४ ॥ ❊ ❊ ❊

व्यभिचारादहेतुः ५ ॥

उत्तर यह है, एक पदार्थ के विरोध से वस्तुओं के भेदका
खंडन करना व्यभिचारी होने से असंगत है; जिस से रू-
पआदि गुण एक पदार्थ (अग्निके संयोग) से ही विरोध

रखते हैं; अर्थात् केवल अग्नि के संयोग से रूप आदि गुण नष्ट भी होते हैं; पुनः भिन्न हैं, एक नहीं हैं, इसीरीति एकतत्वज्ञान से दोषों का नाश भी हो, पुनः राग आदि तीन दोष ही हैं; एक मानने से सर्वथा असंगत हैं; २

तेषांमोहःपापीयानमूढस्येतरोत्पत्तेः ६ ॥

और इनतीनों का एक (तत्वज्ञान) से साक्षात् नाश भी नहीं होता; किंतु तत्वज्ञान से केवल मोह (अज्ञान) का नाश होता है; मोह के नाश से राग, द्वेष का नाश होता है; इसआशय से यह सूत्र कहा है, इन (रागद्वेषमोहों) में से मोह पापीयान् (प्रबलशत्रु) है; जिस से मोह होना होनेपर रागद्वेष भी नहीं होते, इसपर व्याकरण की यह आशंका है; कि बहुत में से एक को अधिकता जनाने के अर्थ इष्ठन् अथवा तमप् प्रत्यय के विधान से बहुत में राग द्वेष, मोह, तीन (बहुत) दोषों में से मोह की मुख्यता जनाने के अर्थ पापिष्ठ अथवा पापतम विशेषण देना योग्य है; पुनः पापीयान् कैसे कहा है, इस का उत्तर यह है, कि दो पदार्थों में से एककी उत्कृष्टता जनाने के अर्थ जब ईयसुन् प्रत्यय का विधान कियाहै, इस से रागमोह में से अथवा द्वेषमोह में से मोह प्रबलशत्रु है, ऐसा अर्थ करके पापीयान् कहा है; पुनः आशंका है, तत्वज्ञानी की भी राग से हित में प्रवृत्ति और द्वेष से अहित में निवृत्ति देखने में आती है; इस से व्यभिचार दोष आता है, उत्तर यह है, कार्यरूप (धर्म अधर्म) प्रवृत्ति के कारण राग द्वेष ही दोष कहाते हैं इसी से कहा है, कि ज्ञानी पुरु

ष पदार्थों में प्रपञ्च हुआ भी मुक्त होजाता है ६ ॥

प्राक्तर्हि निमित्तनैमित्तिकभावा
दर्थान्तरभावोदोषेभ्यः ७ ॥

इस पर आक्षेप करते हैं, कि दोषों का निमित्त(कारण) जब मोह है, तोदोषों से भिन्न अवश्य होना योग्य है; क्यों कि अभेद में कार्यकारणभाव कभी नहीं होता; दोषेभ्यः यह बहुवचनतो आदांतरभेदों के अभिप्राय से दिया है; इस सूत्र के आदि में प्राक्तर्हि इतनाभाष्य का पाठ-जानना; ७ ॥ ❖ ❖ ❖

नदोषलक्षणावबोधान्मोहस्य ८ ॥

उत्तर यह है, कि दोषों का लक्षण आजाने से मोह में दोषत्व का निषेध(खंडन) नहीं योग्य है; इच्छात्व आदि धर्मों से भेदकीसिद्धि होने पर एक दोष(मोह) अन्यदोषों(रागद्वेष)का कारणमानने से कोई न्यूनता नहीं है; क्योंकि पार्थिव दंड चक्रआदि पार्थिव(घट) के कारण होते ही हैं अर्थात् व्यक्ति के अभेद से कार्य कारणभाव का खंडन होता है; दोषत्व पृथिवीत्व आदि धर्मों के अभेद से कार्यकारण भाव का निषेध नहीं होता ८॥

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च
त्यजातीयानामप्रतिषेधः ९ ॥

वादी के मतका अप्रयोजक(अपनीसिद्धिकरने में असमर्थ) बना के, अब वादी के कहे पर अभिचार दोष देते हैं; एक जाति वाले इच्छा आदिगुणोंका परस्पर कार्यकारण-भावमानने से राग, द्वेष आदी दोषों के कारण मोह में दोष

त्व का निषेध करना सर्वथा असंगत है; अर्थात् पार्थिव कपालों से पार्थिव घट उत्पन्न होता है, कपाल के रूपगुण से घट का रूपगुण उत्पन्न होता है; इत्यादि उदाहरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि सजातीयों से ही सजातीय उत्पन्न होते हैं; कभी विजातीयों से विजातीय नहीं उत्पन्न होसकते; इस से राग, द्वेष दोषों के कारण मोह को कार्य्य (रागद्वेष) के सजातीय (दोष) ही मानना योग्य है; विजातीय (दोषों से भिन्न) मानना सर्वथा असंगत है ९॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में दोषों की परीक्षा और तीन राशि सिद्ध कराने का ४२ वां प्रकरण समाप्त हुआ॥

क्रम से प्राप्त प्रेत्यभाव की परीक्षा करने के समय यह संशय हुआ; कि प्रेत्यभाव शरीर का अथवा बुद्धि का अथवा आत्मा का होता है; परंतु पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः इस लक्षण सूत्र से नष्ट हुए पदार्थ की उत्पत्ति का नाम प्रेत्यभाव प्रतीत होता है; इस से उत्पत्ति और विनाश से रहित आत्मा का यह प्रेत्यभाव नहीं होसकता; किंतु शरीर का अथवा बुद्धि का प्रेत्यभाव मानना उचित है; परंतु विनष्ट हुए शरीर आदि की उत्पत्ति न होसकने से इन (शरीर आदि) का भी प्रेत्यभाव मानना असंगत प्रतीत होता है;

आत्मनित्यत्वेप्रेत्यभावसिद्धिः १०

जो भी मुख दुःख के हेतु के होता है, इस की नई अन्य शरीर को ग्रहण करके प्राप्त होना ही प्रेत्यभाव का कार्य्य मानने से नित्य आत्मा का प्रेत्यभाव सिद्ध होसकता है; इस

अभिप्राय से यह (१०वां) सिद्धांत सूत्र कहा है; पूर्वोक्त युक्तियों से आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि होने पर आत्मा का ही प्रेत्यभाव (अंतिम संबंध के नाश से एकजाति के शरीर का त्याग के नया पहिला संबंध होने से अन्यजाति के शरीर का ग्रहण) सिद्ध होसकता है; परंतु शरीर के साथ आत्मा का यह अवच्छेदकता संबंध स्वरूप संबंध ही है, अथवा अन्य है; यह विचार ग्रंथबढ़जाने के भय से वृत्ति में नहीं किया; प्रेत्यभाव के लक्षण सूत्र में पुनः पद देने का यह तात्पर्य है, कि यह मरने जमने का प्रवाह अनादि चला आता है; इस का ज्ञान वैराग्य में बहुत उपयोगी है ९० ॥ ❖ ❖ ❖

अप्राप्तिप्राप्तिसंप्रयुक्तप्रामाण्यात् ९१ ॥

इस पर यह आशंका है, कि उत्पत्ति पदार्थ जानने से प्रेत्यभाव पदार्थ का ज्ञान होसकता है; परंतु उत्पत्ति सजातीयों से सजातीयों की अथवा विजातीयों से विजातीयों की भी नहीं कहसकते; क्योंकि पहिली पृथिवी (परमाणु) की उत्पत्ति किस से मानोगे, सजातीय (पार्थिव) तो उस (परमाणु) से पहिले है ही नहीं, और विजातीय से उत्पत्ति सर्वथा अनुभव में नहीं आती; परमाणुओं को नित्यमानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है; इस संगति (उपोद्घात का अवसर) से उत्पत्ति का क्रम दिखाते हैं; प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है, अपने सजातीय सूक्ष्म पदार्थों से सजातीय स्थूलों की उत्पत्ति होती है; जैसे सूक्ष्म पार्थिवों (कणों) से स्थूलपार्थिवों (घटों) की उत्पत्ति होती है; इसी से यह

त् द्व्यणुक के अवयव(द्व्यणुक)के अवयव(परमाणु) की कल्पना करके लाघव से उस(परमाणु) को नित्य मानते हैं ११ ॥ ❖ ❖ ❖

नच्चराद्घटनिष्पत्तेः १२ ॥

सिद्धांत के जानने से विना ही कोई आशंका करता है; घट से कभी घट नहीं उत्पन्न होता, पट से कभी पट नहीं उत्पन्न होता; जबयह विशेष कार्य कारणभाव(सजातीयों से सजातीयों की उत्पत्ति) कभी नहीं बनता;तो यह सामान्य रूप से सजातीयों से सजातीयों की उत्पत्ति माननी सर्वथा असंगत है; १२ ॥ ❖

व्यक्ताद्घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः १३ ॥

विशेष व्यभिचार तो विषय के भेदसे विरोधी ही नहीं है; और सामान्यव्यभिचार कोई आता नहीं है, इस अभिप्राय को लेकर उक्त आशंका का उत्तर करते हैं; सजातीय पार्थिव कपालों से सजातीय पार्थिव घट की उत्पत्ति प्रत्यक्ष ही देखने में आने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि सजातीय से सजातीय की उत्पत्ति का निषेध करना सर्वथा असंगत है; अर्थात् सजातीयों से सजातीयों की उत्पत्तिमानने का यह तात्पर्य नहीं है, कि सब सजातीयों से सब सजातीय उत्पन्न होते हैं; किंतु यह अभिप्राय है, कोई द्रव्य कार्य उत्पन्न हो, तो वह अपने सजातीय से ही उत्पन्न होगा; विजातीय से कभी विजातीय कार्य उत्पन्न नहीं होगा; घट से घट ना उत्पन्न हो, परंतु अपने सजातीय पार्थिव कपालों से सजातीय पार्थिव घट की

उत्पत्ति सिद्ध होजानेसे सजातीय से सजातीय की उत्पत्ति का निषेध करना सर्वथा असंगत है ९३ ॥ ❖

इतिन्याय सत्रहनि में प्रेत्यभाव की परीक्षा का ४३ वांप्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖ ❖

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नोपमृद्यप्रादुर्भावात् ९४

अब प्रसंग अथवा उपोद्घात संगति से अक्ष(स्थूल) पदार्थों की सिद्धि के अर्थ आठ प्रकरण कहे हैं; उन में से आदि में बौद्धों का मत खंडनकरने के अर्थ शून्यता(अभाव) से जगत् की उत्पत्ति के निषेध का प्रकरण है; इस में बौद्धों का यह पूर्व पक्ष है; बीज आदि के उपमर्द्दन(टूटकेनाश) से विना कार्य(अंकुरआदि) का प्रादुर्भाव(उत्पत्ति) नहीं देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि बीज आदिके अभाव(नाश) सेही अंकुर आदि कार्य उत्पन्न होते हैं; अर्थात् अभावही सारे जगत् का उपादान(समवायि) कारण है; ९४ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

व्याघातादप्रयोगः ९५ ॥

इस का उत्तर यह है, कि व्याघात(व्याकरण के विरोध) से उपमर्द(नाश)करके प्रगट होना यह कथन असंगत है; अर्थात् उपमर्द(नाश) का कारण यदि पहिले ही वर्तमान है, तो पहिले ही प्रगट हुआ; पुनः नाश करके पीछे से प्रगट होता है, यह कथन सर्वथा असंगत हुआ; यदि पहिले नहीं विद्यमान है, तो सर्वदाल में रहने से विना नाश का कारण मानना भी सर्वथा असंगत है; ९५ ॥

नातीतानागतयोःकारकशब्दप्रयोगात् १६

पूर्वपक्षी (बौद्ध) पुनः दोष देता है, प्रयोग असंगत (व्याकरणसेविरुद्ध) नहीं है; जिससे अतीत (पीछेहोचुके) अनागत (आगेहोनेयोग्य) पदार्थों में भी कर्त्ता, कर्म वाचक शब्दों का प्रयोग देखने में आता है; यथा आगे जो पुत्र उत्पन्न होगा, उस पुत्र को स्मरण करता है; जो नष्ट चैत्र के पास था, टूटे हुए उस घट का शोक करता है; इन उदाहरणों में भविष्यपुत्र का स्मरण और भूत घट का शोक कहने से प्रतीत होता है, कि भूतभविष्य पदार्थों में भी औपचारिक (कल्पित) प्रयोग होने में कोई विवाद नहीं है १६ ॥

नविनष्टेभ्योऽनिष्पन्नेः १७ ॥

हम स्वीकार करते हैं, कि कल्पित प्रयोग हो. परंतु नष्ट हुए बीज को उपादान कारण मानते हो; अथवा बीज के नाश को उपादानकारण कहते हो, वा बीज के नाश को निमित्तकारणमानते हो; पहिले पक्ष का यह उत्तर है, कि कार्य के अव्यवहितपूर्वक्षण में कारण के न रहने से नष्ट हुए बीज आदि अंकुरआदिकार्यों के कारण कभी नहीं होसकते; और उपादानकारणता का नियामक द्रव्यत्व धर्म ही जब ध्वंस में नहीं रहता, तो बीज आदि के नाश (ध्वंस) को अंकुर आदि कार्यों का उपादानकारण मानना भी सर्वथा असंगत है; इस दूसरे पक्ष का खंडन करने के समय भाव में क्त प्रत्यय आके विनष्ट पदसिद्ध हुआ जानना १७ ॥

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः १८ ॥

तीसरे पक्ष का उत्तर यह है, कि अभाव में कारणता को

सामान्य निषेध हम भी नहीं करते, किंतु उपादानकारणता का निषेध करते हैं; क्योंकि सिद्धांत में भी प्रतिबंधकों के संसर्गाभाव (प्रागभाव, ध्वंस, अत्यंताभाव) कार्य मात्र के कारण माने हैं; प्रकृत में बीज के नाश होने पर अंकुर उत्पन्न होता है; इसतुमारे माने अनुभव से ही सिद्ध होता है, कि प्रतिबंधक (बीज) का अभाव (नाश) कार्य (अंकुर) का निमित्तकारण है; बीज के नाश से पीछे जलसिंचने पर बीज और मृत्तिका के अवयव (खंड) मिलकर अंकुरको उत्पन्न करते हैं; अर्थात् बीजके अवयव ही अंकुर के उपादान कारण हैं, अभाव को ही कारणमानो, तो पीसके फेंके बीजों से भी अंकुर उत्पन्न होजावे ॥ १८ ॥ ❖ ❖ ❖

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में अभाव में उपादान कारणता के निषेधका ४४ वां प्रकरणसमाप्तहुआ ॥ ❖

ईश्वरःकारणंपुरुषकर्माफल्यदर्शनात् १९ ॥

इस प्रकरण में अन्य शास्त्रों के मत दिखाये हैं; कि घट पट आदि अनेक परिणामों (कार्यों) को उत्पन्न करके भी जैसे मृत्तिका अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं त्यागती, किंतु सब कार्यों में व्यापक होके बनी ही रहती है; इसी रीति परब्रह्म नाम, रूप, प्रपंच के भेद से अपने परिणाम (कार्य) सारे जगत् को उत्पन्न करके भी अपने यथार्थ स्वरूपको नहीं त्यागता; किंतु व्यापक होके सब कार्यों में बना ही रहता है इसको परिणामवा-

द कहते हैं । और जल आदि भिन्नभिन्न स्वच्छ पदार्थों में प्रतिबिंब (छाया) पड़ने से मुख की नाईं सनातन, अनिर्वचनीय यथार्थरूपसेजानने के अयोग्य) अविद्या (अज्ञान) में प्रतिबिंब (छाया) पड़ने से परब्रह्म ही अनंत रूपों का जगतदेव के प्रतीत होता है; इस को विवर्त्त वाद कहते हैं । सत्र की उत्थानका यह है, कि जीवात्मा के कर्म (व्यापार) से ही सब कार्य सिद्ध होजावेंगे; पुनः ईश्वर की का अपेक्षा है; इस पर कहा है, पुरुष (जीवात्मा) के कर्म (व्यापार) को बहुत स्थानों में निष्फल देखने से अवश्य कोई सहायक (ईश्वर) मानना पड़ता है; तो सिद्ध हुआ, उस सहायक (ईश्वर) की इच्छा सेही सब कार्य उत्पन्न होजावेंगे, पुनः जीवों के व्यापार को कारणता माननीव्यर्थ है; सिद्धांत यह है, कि इस प्रकरण से ईश्वर में कार्यमात्रकी कारणता सिद्ध की है; समवायिकारणता सिद्ध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है ॥ १९ ॥

नपुरुषकर्म्माभावेफलानिष्पत्तेः २० ॥

उत्तर यह है, केवल ईश्वरको ही कारण कहें, तो उसकी इच्छा और इच्छाकी विषयताको भी कारण मानना पड़ेगा, नहीं तो दोनों न कारण होजावेंगे; और केवल ईश्वरनामी नित्यकारण से सबकार्य सदैवएकसेही उत्पन्न होते रहें; विचित्र नाहोवें, इससे जीवात्माओंके व्यापार भी अवश्य सहायक मानने पड़ेंगे. और असमवायिकारणके नाहोनेसे ईश्वर उपादान नहीं होसकता; निमित्तकारणता मानतेही हैं; २० ॥

तत्कारित्वादहेतुः २१ ॥

इस पर शंका करते हैं, कि जीवात्माका व्यापार भी जब

अवश्य कारण हुआ; तो कार्य की उत्पत्ति में व्यभिचार (कहीं होना कहीं नाहोना) कभी ना होवे; उत्तर यह है, कि फल का नाउत्पन्नहोना जीवात्मा के अदृष्ट का अभाव होने से होता है; कार्य की उत्पत्ति में जीवात्मा का व्यापार प्रधान कारण नहीं है; किंतु प्रधानकारण अदृष्ट और अदृष्ट का सहायक व्यापारहै; वह ईश्वर ही कौन है, इस का उत्तर वा स्थापन जीने किया है; कि नित्यज्ञान, नित्यइच्छा, नित्यप्रयत्न इन विशेषगुणों से और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग नामी सामान्यगुणों से युक्त, जीवात्माओं से भिन्न, आत्मा (सबको उपासनाकरने के योग्य) जगत् की उत्पत्ति, पालन, संहार का कर्त्ता, वेदों के द्वारा हित और अहित उपदेश करने वाला जगत का पिता ईश्वर है; अन्यआचार्य इ-श्व (१९-२०-२१) तीनों सूत्रों को ईश्वर के वर्णन पर घूल गाते हैं; कुम्हार से जन्य घट आदि कार्यों की नांई सब कार्य कर्त्ता से जन्य होते हैं; इस अनुमान से सिद्ध होता है, कि इच्छा, प्रेरक, सृष्टि के आदि में द्वयणक इत्यादि सब कार्यों का कर्त्ता परमाणु से आकाशतक सब पदार्थों को विना आपासके प्रत्यक्ष से देखता ईश्वर ही है; निष्फल कर्मों में प्रवृत्त अस्म-द् जीवात्मा परमाणु आदिके प्रत्यक्ष से विना कभी कार्य मात्र का कारण नहीं होसकता; इसपर आशंका यह है, जीव की प्रवृत्ति से विना फल (कार्य) की सिद्धि कभी ना होने से प्रवृत्ति होता है; कि अदृष्ट (प्रारब्ध) के द्वारा जीवात्मा की कार्यमात्र का कारण है; उत्तर यह है, कि प्रारब्ध भी, चेतन ईश्वर के साहाय्य से फल देता है; स्वतंत्र अचेतन (कर्म) फल नहीं

करसकता, और प्रत्यक्ष के नहोनेसे जीवात्माकर्मों के फल देनेमें सामर्थ्यहीनहीं रखता; २१ ॥ ❖ ❖

इतिन्यायसूत्रवृत्तिमें ईश्वरकीकारणताका ४५ वांप्रकरण समाप्तहुआ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

अनिमित्तभावोत्पत्तिःकाण्टतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् २२ ॥

जो लोग विना कारण के अकस्मात (स्वभावसे) ही सारे जगत की उत्पत्ति मानते हैं; उन के मत में ना परमाणु उपादान (समवायी) कारण हैं, ना ईश्वर ही निमित्त कारण है; इससे स्वभाव वादीके मतका खंडन करने के अर्थ इस प्रकरण का प्रारंभ किया है; आदि में स्वभाववादी की यह आशंका है, कि घट पट आदि भावों (कार्यों) की उत्पत्ति विना ही निमित्त (कारण) के होती है; जैसे विना ही कारण के कांटे में तीक्ष्णता की उत्पत्ति होती है; अथवा मोर पंखी के शरीर में चित्र, वक्र तीक्ष्ण कांटे आदि भाव कार्य विनाही कारण के उत्पन्न होते देख के अनुमान किया जाता है; कि इन (चित्रांग, तीक्ष्णकांटे आदि) की नांई घट पट आदि सब भाव कार्य विनाही कारण के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं; उनः परमाणुओं को उपादानकारण मानना और ईश्वर को निमित्त कारण मानना सर्वथा असंगत है २२ ॥ ❖

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः २३ ॥

कोई एकदेशी इससे स्वभाववादी का खंडन करता है, कि अनिमित्ततः इस हेतु पंचमी से ही विदित होताहै, स्वभाववादीने कार्यों की उत्पत्ति में अनिमित्त (निमित्तके अभा-

व) को कारण माना है; तो निमित्तों के अभाव को कारण मान के पुनः कैसे कहा कि विनादी कारण के कार्य उत्पन्न होते हैं; अर्थात् कारण मान के कारण का निषेध करने से स्वभाववादी प्रतिज्ञाविरोध नामी निग्रहस्थान में आगया है; तो सिद्धांतका खंडन कहां से करसकेगा; २३ ॥

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तर भावादप्रतिषेधः २४ ॥

स्वभाववादी के और एकदेशी के मतों का खंडन करता है, अनिमित्त (निमित्ताभाव और निमित्त के) अर्थान्तरभाव (भेद) से एकदेशी का कथन योग्य नहीं है; अर्थात् अनिमित्त (निमित्ताभाव) को निमित्त नहीं कह सकते, और निमित्त को निमित्ताभाव नहीं कह सकते; और शरीर की स्वभाव से उत्पत्ति का खंडन करने से सब कार्यों की स्वभाव से उत्पत्ति का खंडन होगया है; इस से यहां स्वभाववादी का खंडन नहीं किया; नवीनलोग इन (२३-२४) दो सूत्रों को यूं लगाते हैं, कि अनिमित्तत्व (निमित्ताभाव) की अनुमिति के साधक हेतु (भावत्वआदि) के स्वीकार से अनुमिति होता है; कारण अवश्य मानने योग्य हैं, यदि उक्त हेतु (भावत्वआदि) न मानेजावें, तो प्रमाण के बढ़ाने से अनिमित्तत्व (निमित्ताभाव) की सिद्धि करनीभी अतिकठिन होजावेगी; और अदृष्ट विशेष की सहायतासे परमाणु ही जब कांटे को तौला करते हैं, तो बिना कारण के कांटे की तौलना का मानना, और उसको दृष्ट

न देके कार्यों को स्वभाव से उत्पन्न मानना सर्वथा असंगत है; स्वभाववादी के मतपर और दोष देते हैं, कि इस कार्य का यह कारण है, यह वहीं कारण है, इस प्रसिद्ध अनुभव से निमित्त और अनिमित्त का भेद जब सिद्ध होगया, तो निमित्त का खंडन करना सर्वथा असंगत है; नहीं उक्तलक्षणसिद्ध प्रतीति नहीं उत्पन्न होगी २५ ॥ ❖ इतिन्यायसूत्रवृत्ति में स्वभाववादीके खंडन का ४६ वां प्रकरणसमाप्त हुआ ॥ ❖ ❖ ❖ ❖

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् २५ ॥

सब पदार्थों में अनित्यत्व का स्वीकार करने से आत्मा आदि को नित्य मानना असंगत है, इस से सब पदार्थों में अनित्यत्व के खंडन का प्रकरण चलाया है; आदि में सब प्रमेय अनित्य हैं, वा नहीं (नित्य हैं) इस संदेह से पूर्वपक्षी ने यह आशंका की है; जो २ प्रमेय हैं, वे सब घटादि की नाईं उत्पन्न होते हैं; और जिन की उत्पत्ति होती है, उनका विनाश अवश्य होता है; इस से सिद्ध हुआ, कि घट, पट, आकाश आदि सब प्रमेय (पदार्थ) जिससे उत्पन्न और नष्ट भी होते हैं, इस हेतु सब पदार्थ अनित्य हैं; सर्वथा उत्पन्न विनाश होने ही सब घट आदि पदार्थ जगत में प्रतीत होते हैं इन से नीचे (उत्पत्तिविनाशसे रहित) पदार्थों के मानने में कोई प्रमाण नहीं; किंतु सब पदार्थ अनित्य ही हैं, कोई इस सूत्र को यूं लगाते हैं, कि सब पदार्थ अनित्य हैं (कभी वर्तमान होते हैं कभी

नहीं वर्त्तमान होते) जिस से उत्पन्न भी होते हैं; और नष्ट भी होते हैं, २५ ॥ ❊ ❊ ❊

नानित्यतानित्यत्वात् २६ ॥

इस आशंका पर सिद्धांती (गौतम) दोष देते हैं, जो २ पदार्थ उत्पन्न होते हैं, नियम से उन सब का नाश मानना अयोग्य है; क्योंकि उत्पन्न होके भी ध्वंस का नाशना होने से व्यभिचार दोष आता है; अर्थात् ध्वंस में उत्पत्ति-रूप (उत्पन्न होना) हेतु तो रह गया, परंतु विनाश के ना होने से विनाशित्व (साध्य) नहीं रहा, तो व्यभिचार दोष से दुष्ट यह (अनित्यवादी का) हेतु सब पदार्थों में अनित्यता की सिद्धि करने में सर्वथा असमर्थ है २६ ॥ ❊

तदनित्यत्वमग्रेर्दाह्यविनाश्यत्वविनाशवत् २७ ॥

पुनः पूर्वपक्षी का आक्षेप है, कि जैसे दाह्य काष्ठ आदि का नाश करके अग्नि आप नष्ट हो जाता है; परंतु नष्ट हुए काष्ठ आदि की पुनः उत्पत्ति नहीं होती; इसीरीति घट आदि पदार्थों के नाश से अवंतर नाश (ध्वंस) का भी नाश होजाता है; परंतु उस (ध्वंसका नाश होजाने) से घट आदि की पुनः उत्पत्ति नहीं होती; ध्वंस का ध्वंस भी प्रतियोगी (घटादि) के ध्वंस का ही स्वरूप है; और ध्वंस प्रागभाव से भूत्य देश में प्रतियोगी अवश्य रहता है; इस नियम के मानने में कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है; इस से घट आदि का पुनः उत्पन्न होना असंभव के समान है २७ ॥

नित्यस्याप्रत्याख्यानंयथो
पलब्धिव्यवस्थानात् २८ ॥

नित्य पदार्थों का प्रत्याख्यान (खंडन) करना योग्यनहीं है; लाघव के साहाय्य से अनुभव ही सब पदार्थों केनित्य और अनित्य होने की अवस्था (नियम) बांधता है; अर्थात् आकाश आदि नित्य पदार्थों को अनित्य मानने से उन (आकाशआदि) की उत्पत्ति विनाश उन के अवयवों की उत्पत्ति विनाश आदि विरुद्ध कल्पनाओं से बड़ा गौरव दोष आवेगा; इस से नित्यमानने में ही लाघव भी है, और दोष कोई नहीं आता २८ ॥ ❊ ❊

इतिन्याय सूत्रवृत्ति में सब पदार्थों की अनित्यता के खं उन का ४७ वां प्रकरण समाप्तहुआ ॥ ❊

सर्वनित्यंपञ्चभूतनित्यत्वात् २९ ॥

सांख्यकार जब संपूर्ण पदार्थों को नित्यमानते हैं, तो उन के मत से प्रेत्यभाव (विनष्टपदार्थकाउत्पन्नहोना) कभी नहीं सिद्ध होसकता; इस से सांख्यमत (सबपदार्थनित्यहैं) का खंडन करने के अर्थ यह प्रकरण चला है; आदि में सांख्य की आशंका इस सूत्र में दिखाई है, जो २ प्रमेय अर्थवाभाव (पदार्थ) पृथिवी आदि पांचभूतों के परमाणु हैं, वे सब नित्य हैं, इसीरीति सबपदार्थ जिससे प्रमेय हैं, इसी से नित्य हैं; २९ ॥ ❊

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ३० ॥

उत्तर यह है, कि घट आदि पदार्थों की उत्पत्ति के कारण (कपालआदि) और विनाश के कारण (मुद्गरघातआ

दि) प्रत्यक्ष ही देखने में आते हैं; इस से उन के कार्य (घट आदि की उत्पत्ति और विनाश) भी अवश्य मानने योग्य हैं जब उत्पत्ति और विनाश भी मानलिये, पुनः इन्हें (कार्यों को) नित्य मानना सर्वथा असंगत है; किंतु घट आदि सब अनित्य हैं ३० ॥

तल्लक्षणावरोधात्प्रतिषेधः ३१ ॥

सांख्यकार पुनः आशंका करते हैं, तुम (नैयायिक) भी जिन्हें नित्य मानते हो, उन परमाणुओं के लक्षण (वर्णकयर्म) भूतत्व, पृथिवीत्व आदि जब घट आदि पदार्थों में रहजाते हैं; तो उन्हें (घट आदिकार्यों को) परमाणु आदिकी नाईं नित्य मानना ही योग्य है, अनित्य मानना सर्वथा असंगत है; और इन (घट आदि) की उत्पत्ति और विनाश तो भ्रम से ही प्रतीत होते हैं ३१ ॥

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ३२ ॥

सांख्य के मत पर सिद्धांती दूषण देता है, कि अनित्यत्व का निषेध करना योग्य नहीं है; जिस से उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति प्रमाणके द्वारा सिद्ध है; और प्रमाणसे सिद्ध पदार्थ का विना किसी दृढ़ प्रमाण के खंडन करना सर्वथा असंगत है; नहीं तो सब जनों में प्रसिद्ध ये यथार्थ प्रतीतियां न होवें, कि अभी घट उत्पन्न नहीं हुआ, किंतु घट उत्पन्न होगा; अभी कपाल अथवा मृत्तिका वर्त्तमान है; इसीरीति उत्पत्ति से अनंतर होता है, कि अब घट वर्त्तमान है, और नाश से पीछे होनेलगता है, कि घट था अब नहीं है; इस पर सांख्यकार यदि कहें, कि घा-

विर्भाव (प्रगट होना) और तिरोभाव (लुक जाना) से ही उक्त प्रतीतियों का निर्वाह करलेंगे; तो उत्तर यह है, कि आविर्भाव नित्य है, अथवा अनित्य नित्यमानें तो उक्त प्रतीतियों के विरोध लगे ही रहेंगे; यदि अनित्य मानें तो सब पदार्थों को नित्य मानना असंगत है; क्योंकि यह (आविर्भाव) ही नहीं नित्य हुआ ३२ ॥ ❖

नाऽवस्थानुपपत्तेः ३३ ॥

उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति जो भ्रम से कही है; उस का उत्तर करते हैं, सब (पंडितों से मूर्खोंतक) लोग जिस प्रतीति को भ्रम (यथार्थ) मानते हैं; उस में भी जब भ्रमत्व का संदेह होने लगा, तो तो यथार्थ और अयथार्थ का व्यवहार (अवस्था) ही जगत से उठ जावेगा; ३३ ॥ इतिन्याय सूत्र वृत्ति में सब पदार्थों में नित्यता के खंडन का ४८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖

सर्वैक्यभावलक्षणाऽयुक्तात् ३४ ॥

अब प्रसंगसंगति से सब पदार्थों को एक (समूहरूप) मानने का मत खंडन करने के अर्थ आदि में पूर्वपक्ष (आशंका) है; कि सेना, वन आदि जो२ वाच्य (पदार्थ) हैं, वे सब मनुष्यों के अथवा वृक्षों के समूह ही हैं, इसीरीति घट पट आदि सब जगत के पदार्थ समूह रूप ही मानने योग्य हैं; अतीन्द्रिय (जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता) आकाश आदि के मानने में कोई प्रमाण नहीं है; हाथ, पांव आदि अंगों के समूह (शरीर) से भिन्न कोई आत्मा

भी नहीं है; और आश्रय(द्रव्य) से भिन्न कोई गुण और कर्म भी नहीं हैं, सामान्य(जाति) भी आश्रय(व्यक्ति)का ही स्वरूप है; विशेष और समवाय नामी पदार्थों के मानने में कोई प्रमाण ही नहीं है; अभाव तो कोई वस्तु ही नहीं है; अथवा घट आदि सब पदार्थ अपने आप से भी पृथक्(भिन्न) हैं, जिस से भावों(घटआदि) के भिन्न भिन्न लक्षण(कारण) गंध,रस आदि और कपाल, परमाणु आदि का स्वरूप ही घट है; ३४ ॥ ❖

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ३५ ॥

उत्तर यह है, कि अनेक लक्षणों(कारणों) गंध रस आदि और परमाणु आदि अवयवों से प्रत्यक्ष आदिप्रमाण के विषय एक घट कार्य की ज्ञान आदि अनेक इंद्रियों के द्वारा ग्रहण करने के योग्य गंधरस आदि पदार्थों से अभिन्न मानने में और अपने कारण अवयवों के साथ कार्य घट का अभेद मानने में कोई दृढ़ प्रमाण ना मिलने से समूहवादी का मत सर्वथा असंगत प्रतीत होता है; ३५ ॥ ❖ ❖ ❖

लक्षणावस्थानादेवाप्रतिषेधः ३६ ॥

सिद्धांत की साधक और युक्तियां दिखाते हैं, लक्षणों(कारणों) की अवस्था(नियम)से ही समूह से भिन्न अवयवी(कार्य)का प्रतिषेध(खंडन)करना योग्य नहीं है; अर्थात कपाल में घट है, इस प्रतीति से(कपाल में समवाय संबंध से वर्त्तमान द्रव्य को घट कहते हैं) यह घट का लक्षण सिद्ध होता है; परंतु समूह रूप

मानें, तो यह उक्त प्रतीति समवाय संबंध से कभी ना-
होवे; जिस से समूह के पदार्थ परस्पर संयोग संबंध से
ही रहते हैं; अथवा घट आदि के लक्षण (समूह) का च-
क्षु और त्वचा से प्रत्यक्ष होता है; यदि अवयवों (परमा
णुओं) का समूह ही घट होवे, तो परमाणु का कभी प्र
त्यक्ष नहीं होता; इससे घट आदि पदार्थों का भी प्रत्यक्ष
ना होवे; इसी रीति लक्षण (समूह) की व्यवस्था से ही प्र
तीत होता है; कि सब पदार्थों को समूह रूप मानना, स
र्वथा असंगत है, क्योंकि बहुत पदार्थों को इकट्ठे करने
से समूह कहाता है; परंतु उन में से प्रत्येक पदार्थ को
भी समूह रूप मानें, तो अनवस्थादोष लगेगा; यदि
उन प्रत्येक को समूह रूप ना माना, तो सब पदार्थों को
समूह रूप मानने का अपने मुख से ही खंडन होगा;
इस से सिद्ध हुआ, कि समूहवादी का मत सर्वथा अ-
संगत है; ३६ ॥ ❖ ❖ ❖

इतिन्याय सूत्रवृत्तिमें समूहवाद के खंडन का ४५ वां
प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖ ❖

सर्वमभावोभावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ३७ ॥
सब पदार्थ शून्य (अभाव) रूप मानें जावें, तो कार्य
कारणभाव का होना ही असंगत है; इसलिये शून्य
ता (अभाव) वादी के मत का खंडन करने के अर्थ य
ह प्रकरण चला है; आदि में ज्ञान के विषय (सब प
दार्थ) अभावरूप हैं, अथवा नहीं, इस संदेह के होने

पर अभाववादी ने पूर्वपक्ष किया है; कि सब पदार्थ (जिन्हें तुम भाव मानते हो) अभाव (तुच्छ) हैं; यह बात प्रत्यक्ष ही देखने में आती है, तुमारे माने घट पट आदि भावों में जो प्रतीतियां होती हैं; कि घट से पट भिन्न है (घट के भेद का आश्रय पट है) परंतु आश्रय से पृथक् कोई अभाव नहीं होता; इस से सिद्ध हुआ, कि घट का भेद ही पट है; इसी रीति सब पदार्थ अभाव ही सिद्ध होते हैं; तो इन अभावों (तुच्छों) का कार्यकारणभाव मानना सर्वथा असंगत है; ३७ ॥ ❖

नस्वभावसिद्धिर्भावानाम् ३८ ॥

सिद्धांती का उत्तर यह है, पृथिवी आदि भावों के स्वभावों (गंधत्वादिगुणों और पृथिवीत्व सत्ता आदि जातियों) की सिद्धि (साक्षात्प्रतीति) होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि भावों का खंडन करना सर्वथा असंगत है; क्योंकि अभावों में गंध आदि गुणों और सत्ता आदि जातियों का होना ही असंभव के समान है; अर्थात् अभावों में गुणों और जातियों के मानने से यह व्यवस्था (नियम) कोई न होवे, कि द्रव्यों में ही गुण रहें, वा द्रव्य आदि तीनों में ही सत्ता रहे; किंतु सब अभाव एक से हैं, इस से सब में सब रहें; ३८ ॥ ❖ ❖ ❖

नस्वभावसिद्धिरायेतिकत्वात् ३९ ॥

अभाववादी पुनः आशंका करता है, कि सब भावों का एक स्वभाव (गुण द्रव्य वा जाति) तो नहीं सिद्ध हो सकता; जिस से भावों के स्वभाव (गुण और जातियां)

भिन्न भिन्न हैं; यदि ये भिन्न भिन्न स्वभाव मानें जावें, तो इन स्वभावों के भेद से पदार्थ (घटआदि) अपने आप से भी भिन्न होजावें; अर्थात् पदार्थ सब पुनः अभाव स्वरूप ही रहे; अथवा इसकी अपेक्षा यह अधिक नील है, इसकी अपेक्षा यह अल्परक्त है, इत्यादि प्रतीतियों से इतरों (अपने से भिन्नपदार्थों) की अपेक्षा के द्वारा ही स्वभावों (गुणों और जातियों) की सिद्धि होने से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि स्वभाव (गुण और जातियां) भी अभाव (तुच्छ) ही हैं, क्योंकि इसरे की अपेक्षा से जो पदार्थ सिद्ध हो, वह तुच्छ ही (अभाव) ही होता है; जैसे जवापुष्प की अपेक्षा से सिद्ध स्फटिक का रक्तवर्ण तुच्छ ही होता है; ३९ ॥ ❊

आर्हतमतोद्धारयुक्तम् ४० ॥

उत्तर यह है, कि अन्यकी अपेक्षा से सिद्ध पदार्थ तुच्छ होता है; यह बात किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती; कोभी शठको पट आदिकी अपेक्षामाननेमें कोई प्रमाण नहीं है; और अपेक्षा को किसी की अपेक्षा है, अथवा नहीं; यदि है, तो यह तुच्छ अपेक्षा अन्यपदार्थकीसिद्धिका करेगी; यदि नहीं है, तो यह अपेक्षा ही सत् (भाव) पदार्थ सिद्ध होगा; पुनः सबपदार्थों को अभावमाननासर्वथा असंगत है ४० ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में अभाववादीकेमतकाखंडन ५०वांप्रकरणसमाप्तहुआ ॥ ❊ ❊

सर्वैकात्मासिद्धिः कारणोपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ४२ ॥

सारे जगत में एक ही पदार्थ मानने के मत का खंडन इस प्रकरण में किया है; आदि में वात्स्यायन जीने भिन्न भिन्न संख्याओं के मत दिखाए हैं; सत (अस्ति) यह प्रतीति सब पदार्थों में एकसी होने से सिद्ध होता है; कि सारे जगत के पदार्थ सत्वधर्म से एकेही हैं; सारे जगत में दो (नित्य और अनित्य) ही पदार्थ हैं; सारे जगत में तीन (ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय) ही पदार्थ हैं, सारे जगत में चार (प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमा) ही पदार्थ हैं; इत्यादि और भी कई मत-भेद हैं, इन में से नित्यत्व और अनित्यत्व नामी विलक्षण धर्मों से सब पदार्थों के दो भेद जैसे किये हैं; इसी रीति सत्वधर्म से सब पदार्थ एक भी स्पष्ट रूप से सिद्ध होसकते हैं; कोई आचार्य यूं कहते हैं, कि सब पदार्थों को एकमानना, यह अद्वैतवाद (वेदांतका सिद्धांत) है; कि एक, नित्य, सब स्थान में वर्तमान ब्रह्म ही सत्य है, अन्यसब पदार्थ मिथ्या (अनित्य) हैं; अथवा जगत में प्रतीत होने सबपदार्थ सत होने से एक ही हैं; इस में श्रुतिभी प्रमाण है, इस जगत में नानापदार्थ कोई नहीं किंतु एक ही अद्वितीय (दूसरेसेविना) ब्रह्म है; आदि पद से सारे जगत में पांच (रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना, अनुभव) ही पदार्थ हैं, यह बौद्धों का मत भी जानेना; इन सब मत-भेदों पर सिद्धांती ने कहा है,

एक ही संख्या निश्चित नहीं हो सकती; किसी अभिमत संख्या से रथवत् कारण (प्रमाण) मानें, तो संख्या टूट गई, न मानें तो प्रमाण से विना संख्या सिद्ध ही नहीं हो सकती; ४१ ॥

नकारणावयवभावात् ४२ ॥

इस पर आशंका है, कि अभिमत पदार्थ का अवयव (एकदेश) ही प्रमाण है; और अवयवों का अवयवी के साथ अभेद (एक) है; पुनः संख्या का निषेध कैसे करते हो, ४२ ॥

निरवयवत्वादहेतुः ४३ ॥

उत्तर यह है, वेदांत के मत में निरव (अवयवशून्य) ब्रह्म का अवयव कहना ही असंगत है; सब मतों में अभिमत सब पदार्थ जब संख्या नामी साध्य के पक्ष हैं, तो पक्ष के एक देश (अवयव) को प्रमाण (हेतु) मानना, सर्वथा असंगत है; अति प्रमाण से ब्रह्म में ऐक्य सिद्ध कर के जगत को एक मानना भी हमें अच्छा नहीं प्रतीत होता; जिस से सत धर्म से एकत्व की नाईं नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म से द्वित्व भी युक्ति (प्रमाण) से सिद्ध हो सकता है; अनित्य अनुमान से नित्यों और अनित्यों पदार्थों की सिद्धि मानने में कोई विरोध नहीं है; नहीं तो छे पदार्थों का और सात पदार्थों का मत कैसे सिद्ध होगा; इस से अद्वैतवाद (वेदांतमत) का खंडन करना ही इस प्रकरण का प्रयोजन सिद्ध होता है; किंतु युक्ति से सिद्ध सभी संख्या अपने अपने मत में प्रमाण मान-

नी योग्य हैं, ५१ ॥ ❖ ❖ ❖
इतिन्यायसूत्रवृत्ति में एक ही संख्या के निषेध का ५१
वां ६ करण समाप्त हुआ ॥ ❖ ❖

सद्यःकालान्तरेचफलनिष्पत्तेःसंशयः ५२
अब आगेसंगति से फल की परीक्षा करने के सम
संशय कहा है, पाक आदि क्रिया का प्रतीतीत्रु
फल देखने से और कृषि (खेती) आदिका कालांतर
में फल देखने से संदेह होता है; कि यज्ञ आदिका श
वा हिंसा आदि का फल शीघ्र होता है, अथवा का-
लांतर से होता है; ५२ ॥ ❖ ❖

नसद्यःकालान्तरेप्यभोगप्रसङ्गात् ५२ ॥
इस पर यही कहा और अपयश सब कर्मों का फल
मानने से अदृष्ट (पुण्य, पाप) मानना ही नहीं, कि
फल में कालांतर का संदेह पड़े, इस आशंका का उत्तर
सिद्धांती ने किया है, कि सद्यः (शीघ्र) फल नहीं हो
सकता, जिस से यज्ञ आदि कर्मों का फल कालांतर में
भोगने के योग्य ही कहा है, क्योंकि यज्ञादि का जो स्व
र्ग फल कहा है, इस जगत में उस स्वर्ग (सुख केले-
शमात्र से भी हीन सुख) का होना, सर्वथा असंभव के
समान है, इसीरीति हिंसादि के फल नरक (दुःख-
के लेशमात्र से भी हीन और दुःख) का होना भी इसलो
क में असंभव है, किंतु अन्य लोक में ही येह सुखदुः
ख हो सकते हैं, इस से सिद्ध हुआ, कि कालांतर में

ही फल देते हैं; यज्ञआदि के फल शीघ्र नहीं देते ४५ ॥

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ४६ ॥

इस पर आक्षेप करते हैं, कि यज्ञ आदि कर्मों का फल कालांतर (चिरकाल) में मानना सर्वथा असंगत प्रतीत होता है; जिससे फल के कारण यज्ञआदि यहीं नष्ट होजावेंगे, पुनः किस कारण से फल की उत्पत्ति मानेंगे; कारण से विना कार्य की उत्पत्ति होही नहीं सकती; ४६ ॥ ❖ ❖ ❖

भाक्तनिष्पन्नेर्हेतफलवन्नत्वात् ४७ ॥

उत्तर यह है, कि यज्ञ आदि यद्यपि नष्ट होते हैं; तौभी यज्ञ आदि से उत्पन्न सुख दुःख आदि फलों का कारण व्यापार (अदृष्ट) फल की उत्पत्ति तक बना ही रहता है; जिस (व्यापार) के संबंध से नष्टरूप यज्ञ आदि भी फल की उत्पत्ति तक विद्यमान के तुल्य ही कहे जाते हैं; इस बात को दृढ़ करने के अर्थ दृष्टांत दिखाते हैं; वृक्ष के फलों की उत्पत्ति का कारण जड़ों में जल देना आदि नष्ट भी होजावे, तौभी उस (जल देने) से उत्पन्न शाखा आदि अवयवों की दृढ़ बनी रहने से फल की उत्पत्ति का कारण जड़ों से जलसंयोग मानने में कोई न्यूनता नहीं आती; इसरीति प्रकृत में यज्ञआदि का नाश होजाने पर भी यज्ञ आदि के कार्य अदृष्टों से स्वर्ग आदि फलों की उत्पत्ति मान के स्वर्ग आदि फलों के कारण यज्ञआदि कर्म मानने में कोई दोष नहीं है ४७ ॥ ❖ ❖ ❖

नासन्न सन्न सदसत्तदसतो वैधर्म्यात् ४८

इस पर आशंका यह है, कि कार्यकारणभाव ही कि सी रीति नहीं बन सकता; क्योंकि उत्पत्ति से पहिले कार्य को सत् (वर्तमान) मानोगे, अथवा असत् (नहीं वर्तमान) मानोगे; यदि उत्पत्ति से पहिले ही कार्य सत् (वर्तमान) हो तो कारणों के व्यापार व्यर्थ हो जावें और पहिले ही जब वर्तमान हैं, तो उत्पत्ति का कहना सर्वथा असंगत है; और यदि उत्पत्ति से पहिले कार्य को असत् (नहीं वर्तमान) मानें, तो कच्छू के सींग से रेह के सींग इत्यादि असत्पदार्थों की नाईं असत् कार्यों की उत्पत्ति होनी असंभव के तुल्य है; और रेत से भी तेल निकलने लगे; इसी से कार्य सत्- असत् भी नहीं होसकते जिस से सत् कभी असत् नहीं और असत् कभी सत् नहीं होसकता; ४८ ॥ ❖ ❖

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्य
ङ्गोत्पादव्ययदर्शनात् ४९ ॥

उत्तर यह है, कि जोजो पदार्थ जगत् में उत्पन्न होते प्रत्यक्ष दीखपड़ते हैं; वे घट पट आदि सब पदार्थ अपनी अपनी उत्पत्ति से पहिले असत् (नहीं वर्तमान)- होते हैं; अब घट उत्पन्न हुआ, अब घट नष्ट होगया इत्यादि अनुभवों से यह दृढ़ सिद्धांत जाना गया है; यदि दृढ से कोई वर्तमान पदार्थ की ही उत्पत्ति मानें, तो एकबेर उत्पन्न हुआ घट दूसरी तीसरी बेर पुनः उत्पन्न होवे; यद्यपि नाश कारण है, उत्पत्ति का तोभी उत्पन्न

हुए पदार्थ का ही नाश होसकता है सिद्ध यह हुआ, कि नाश से प्रतीत हुआ, कि वस्तु की उत्पत्ति अवश्य होती है, और उत्पत्ति से प्रतीत हुआ, कि वस्तु पहिले असत् (नहीं विद्यमान) थी ४९ ॥ ❊

बुद्धिसिद्धमसत् ५० ॥

असत् की उत्पत्ति मानें, तो यह नियम न रहे, कि इस कारण से कौनसा कार्य उत्पन्न हो; इस का उत्तर करते हैं, कि अनुभव करने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कार्य असत् (प्रागभाव का प्रतियोगी) है; जैसे इन तंतुओं से पट उत्पन्न होगा, यह ज्ञान के कुविंद (जुलाहा) कपड़ा बिनने में प्रवृत्त होता है; जे कभी वह (कुविंद) जाने कि इन तंतुओं में पट वर्तमान है, तो उसे चिकीर्षा (पट उत्पन्न करने की इच्छा) कभी ना होगी; और बिना इस इच्छा के वह (जुलाहा) पट के उपजाने में प्रवृत्त कभी ना होवे; और रेत में यह ज्ञान किसी को नहीं होता, कि इससे तेल उत्पन्न होगा, किंतु सब को यह ही ज्ञान होता है, कि रेत से तेल कभी नहीं उत्पन्न होगा; और तुम यदि तेल का आश्रय तिलों को ही मानो और रेत को ना मानो, तो तेल के समवायि कारण तिल हैं, रेत नहीं है; इस कार्यकारणभाव के मानने में क्या दोष है ५० ॥ ❊ ❊

आश्रयव्यतिरेकाद्दृष्टफलोत्पत्तिवदिष्ट हेतुः ५१ ॥

इस पर आशंका करते हैं, कि कार्यकारणभाव भी

हो, तो वृक्षके फलका दृष्टांत दो नहीं बनसकता पुनः अदृष्टकीसिद्धिकैसे करते हो; वृक्षकेफलका दृष्टांत देनासर्वथाविरुद्ध है; जिस से वृक्षवहीवनारहताहै, तौउसमेंजलदेना आदिफलोंकीकारणसामग्रीभी बनसकतीहै; औरकर्मजिसशरीरसेकिया था वह (देह) यहांहीनष्टहोगया, तौअन्यशरीरमें उस (कर्म) काफलमाननासर्वथाअसंगत है ५१ ॥ ❖

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ५२ ॥

उत्तर यह है, किप्रीति (अपनेशरीरमेंउत्पन्नसुख) साक्षात् संबंध (समवाय) से आत्मा मेंही रहता है; जोआत्मा उत्पत्ति औरविनाश से रहितहै; उसी में यज्ञ आदि से उत्पन्न अदृष्ट भी रहजाने से कार्यकारणभाव उनमें बनजाता है; पुनः आश्रय का अतिरेक (आत्मा) हेतु बनाके उक्तकार्यकारणभाव का खंडन करना सर्वथा असंगत है; ५२ ॥ ❖ ❖ ❖

नपुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदस्वर्गान्नादिफलनिर्देशात् ५३

किसी स्थान में कार्यकारण एक आश्रय में रहें भी परंतु सब स्थान में ऐसा नहीं होसकता; इस अभिप्राय से आशंका करते हैं, कि पुत्र, पशु, स्त्री, वस्त्र, स्वर्ग, औरअन्न आदि भी फल मानेगये हैं; जो आत्मा में नहीं रहते, औ- (अदृष्ट) आत्मा में ही रहता है; इस से भिन्न अधिकरणों में वर्त्तमान इन पदार्थों का कार्यकारण भाव मानना सर्वथा असंगत है; ५३ ॥ ❖

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेरेषु
फलवदुपचारः ५४ ॥

यद्यपि इस जन्म में किये यज्ञ आदि के यहां ही पुत्र पशु आदि फल मानने में आश्रय (शरीर) का भेद नाहोने से कोई दोष नहीं आता; तौभी जन्मान्तर (अन्यजन्म) के पुत्र आदि की कामना से किये यज्ञआदि में कोई विरोध देते हैं; उस का भी कारण यह है, कि पुत्र आदि के संबंध से सुख आदि फलों की उत्पत्ति होने से पुत्र आदि को भी उपचार (परंपरा) से फलमाना है; जैसे वेद में भी प्राणों के साधन अन्न को भी परंपरा से प्राण कहते हैं; "अन्नंवै प्राणिनः प्राणाः" ५४ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्तिमें फलकीपरीक्षाका ५२वांअध्याय समाप्तहुआ ॥

विविधबाधनायोगादुःख
मेवजन्मोत्पत्तिः ५५ ॥

क्रम से प्राप्त दुःख की परीक्षा करते हैं, उस में पिछले (बाधनालक्षणदुःख) सूत्र से दुःखत्व जाति ही दुःखका लक्षण प्रतीत होता है; परंतु शरीर आदि दुःखों में दुःखत्वजाति के ना रहने से इस लक्षण की अव्याप्ति प्रतीत होती है; वस्तुतः प्रकार के दुःखों का योग (संबंध) देखने से शरीर को भी दुःख कह देते हैं; यथार्थ विचार के देखें, तो शरीर दुःखों का [illegible]

दुःख नहीं है, अर्थात् प्राणों के साधन अन्न जैसे गौणा रूप से प्राण ही कहे जाते हैं; इसी रीति बहुत दुःखों के साधन शरीर को भी गौणा रूप से दुःख कहते हैं, ५५ ॥ ❊ ❊ ❊

नरसवस्यान्तरालनिष्पत्तेः ५६

इस पर वादी की यह आशंका है, कि शरीर को बहुत दुःखों का साधन मानने से क्या सुख का सामान्य निषेध करते हो, कि शरीर में कभी सुख होता ही नहीं है; परंतु यह कथन सर्वथा असंगत प्रतीत होता है, जिस से अंतराल (बीचबीच) में सुख की भी निष्पत्ति (सिद्धि) देखते हैं; तो प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध सुख का सर्वथा निषेध कर के केवल दुःख का ही मानना सर्वथा असंगत है; पुनः शरीर आदि को दुःख मान के दुःखत्व जाति जिस में रहे, उसे दुःख कहते हैं, यह दुःख का लक्षण कैसे किया है ५६ ॥ ❊

बाधनालक्षणेर्वेदयतःपर्य्यनुयोगादप्रतिषेधः ५७ ॥

और सुख, दुःख दोनों का संबंध जब तुल्य है, तो यह नियम कैसे हो, कि संसार को दुःख रूप ही जाने और सुख रूप न जानें; इस पर कहा है, कि सुख का साधन जान के अनुष्ठा जिस कार्य के करने में प्रवृत्त होता है, वहां रुकावट ना, पालन करना आदि बहुत दोष हैं, जिन से अनेक पीड़ा प्राप्त होती हैं, बाधना (पीड़ा) की निवृत्ति नहीं होती, इस से वैराग्य की प्राप्ति के अर्थ

सारे संसार में दुःख की भावना करनेका उपदेश किया है; अर्थात् मध्य मध्य में कहीं सुख का भी अंश प्राप्त होता है परंतु उस (सुखके अंश) की प्राप्ति के अर्थ बहुत कष्ट उठाने पड़ते हैं, और वह (सुखका अंश) नाश से पीछे मरण होने पर बहुत ही दुःख देता है; तो सिद्ध हुआ, कि वह सुख भी दुःख ही है, इस से सारा संसार दुःख है; ५७ ॥ ❖ ❖ ❖

दुःखविकल्पसुखाभिमानाच्च ५८

इस पर यदि कोई आशंका करे, कि दुःख (पीड़ा) का प्रत्यक्ष होने से मनुष्य आपही निवृत्त होजावेंगे उनः दुःख की भावना का उपदेश व्यर्थ है; उत्तर यह है, कि दुःखों के साधन हिंसामैथुन आदि निषिद्ध कर्मों में सुख के अभिमान (भ्रम) से मनुष्यों की प्रवृत्ति नहोवे, इस से सारे जगत में दुःखभावना का उपदेश किया है, जिससे वैराग्यकी प्राप्ति सहज में होजावे ५८ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में दुःख की परीक्षा का ५ वां प्रकरण समाप्त हुआ. ॥ ❖ ❖ ❖

मरणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ५९

क्रम से प्राप्त अपवर्ग (मुक्ति) की परीक्षा करने के अर्थ आदि में यह आशंका की है; कि मुक्ति के अर्थ योगाभ्यास आदि में प्रवृत्त होने का समय जन्म से मरणपर्यन्त सारे जन्म में कभी नहीं मिलता, इस से मोक्षका होना नहीं सर्वथा असंगत है; मरण, क्लेश, और प्रवृत्ति, के

प्रतिबंध (रोकने) से मोक्ष के अर्थ तत्वविचार आदि में प्रवृत्त होने का समय न मिलने से मोक्ष नहीं होसकता, यही बात स्पष्ट करके वेद में भी लिखी है; जब कोई मनुष्य उत्पन्न होता है, तो ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण ये तीन ऋण भी साथ ही उत्पन्न होते हैं; और ब्रह्मचर्य (गुरुओं की सेवा, विद्याका अभ्यास) से ऋषियों का ऋण, यज्ञ करने से देवताओं का ऋण, प्रजा (संतति उपजाने) से पितरों का ऋण उतर जाता है; तो सिद्ध हुआ, कि इन तीन ऋणों के उतारने में ही मनुष्यों का सब आयु व्यतीत होता है; क्यों कि यह भी स्पष्ट रूप से वेद में लिखा है; कि अति वृद्ध होजाने से अथवा मरजाने से बिना मनुष्य को अग्निहोत्र, और दर्श (अमावास्या) का श्राद्ध, पूर्णमासी का श्राद्ध कभी त्यागना योग्य नहीं है, स्मृति में भी लिखा है, तीन ऋणों को उतार के पुरुष मन को मोक्ष में लगावे, यदि ऋण न उतारे और मोक्ष की ओर ही प्रवृत्त होजावे; तो नरक (नीचयोनि) की प्राप्ति होती है; इस स्मृति से भी यह ही सिद्ध हुआ, कि ऊपर के तीन ऋण मनुष्य (द्विज) को अवश्य उतारने योग्य हैं; जो जन्म भर में भी उतारने कठिन हैं; इसीलिये रागद्वेष आदि दोषों से संभोग युद्ध, व्यापार, आदि सांसारिक कार्यों में अनेक दुःखों के ही अनुभवों में सुखकी भ्रांति से जन्मबीतता है; मोक्ष का कहां अवसर है; और कायिक, वाचनिक, मानसिक कर्मों में ही प्रवृत्त होके आयु बीत

जाता है; जिन कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट (धर्माधर्म) उस को अन्य शरीर में जा बोधते हैं; मोक्ष कहां से होगा ॥

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादोनिन्दाप्रशंसोपपत्तेः ६० ॥

उत्तर यह है, कि उक्त श्रुति में जायमान शब्द मुख्य नहीं, किंतु गौण है; इसी से अपने मुख्य अर्थ (उत्पन्न होनाही) को न लेता अर्थ (यज्ञोपवीतधारण करनेही) इस अर्थ का बोध कराता है; क्योंकि कर्म करने की सामर्थ्य और वृत आदि सामग्री जिस के पास हो, उसी मनुष्यका कर्मों में अधिकार होता है; इस से अबोधबालक में सामर्थ्य ही नहीं कि वह अधिकारी हो और मुख्य अर्थलेने से बड़ा दोष आता है कि जो अभी उत्पन्न नहीं हुए, उन की जो प्राप्तिही नहीं है; जो उत्पन्न होचुके हैं, उन में कर्म का करना इष्टही है; जो उत्पन्न होते ही इस अर्थ से जायमान विशेषण ने किसी से भी आवृत्ति (दूसरा) नहीं की, इस से यह विशेषण व्यर्थ होजाता है; किंतु गौण अर्थ (यज्ञोपवीत का समय) ही लेना; यही बात वात्सायन जीने भी अपने भाष्य में स्पष्ट करके लिखी है; कि जायमानः यह शब्द गौण है क्योंकि मुख्य अर्थलेने से उत्पन्न हुए अतिबालक का अग्निहोत्र आदि यज्ञ के कर्मों में अधिकार ही नहीं होसकता; किंतु गौण अर्थ यज्ञोपवीत के समय से ही यज्ञ आदि में अधिकार जानना; यज्ञोपवीत धारण करने से ब्रह्मचर्य में

अधिकार होता है; गृहस्थ धारण (विवाहकर्म) से अग्निहोत्र आदि यज्ञों में अधिकार होता है; वेद में भी कहा है, दीक्षा (विवाहके यज्ञवस्त्र) धारण करके यज्ञ कर्म को करे; इसी रीति ऋण शब्द भी यहां गौण ही है, क्यों कि यहां किसीका देना नहीं उतारना है; कि ऋण शब्द का मुख्य अर्थ लियाजावे, किंतु ऋण जैसे सिर से अवश्य उतारना योग्य है; इसीरीति विद्याभ्यास (ब्रह्मचर्य) अग्निहोत्र आदि यज्ञ और पुत्र आदि संतति का उपजाना भी मनुष्य को अवश्य करना योग्य है; इन कर्मों के न करने से ऋण लेकर ना देने के समान अपयश, पाप होता है; इसअर्थ के जनानेवास्ते गौण ऋण शब्द यहां कहा है; और मोक्ष के अर्थ तत्वविचारआदिमें प्रवृत्त होने का समय भी बहुत मिलता है; ब्रह्मचर्य में पूर्ण विद्याभ्यास करके गृहस्थ में अग्निहोत्रआदि यज्ञ आदि करतेकरते संतति उपजाके आयुके चतुर्थ भागमें वेदवाक्यों सेही सिद्ध होता है, कि जरा (बुढ़ापे) से अग्निहोत्रआदि कर्मों के नकरनेका पाप नहीं होता; तो उस समय तत्वविचार, योगाभ्यास आदिकरनेका अच्छा समय मिलता है; और जरा शब्द से यहां अशक्ति (सामर्थ्यका नाहोना) नहीं लेना, जिस से श्रुति में कहा है, कि रोग आदि से शरीर में सामर्थ्य न रहे, तो समीप में स्थित होके शिष्य हवनकरे; इत्यादि वाक्यों से सामर्थ्य हीन पुरुषको भीजिस किसी उपाय से कर्मकरनी आवश्यक है, किंतु आयु के चौथे भाग में स्वतः ही सब कर्मों का अधि

कारनिवृत्त होजाता है; भाष्य में कहा है, कि कामना मन की जब तक निवृत्त नहीं होती तभीतक अधिकार है, कामनानिवृत्त होजावे तो कभी कोई अधिकार नहीं है; अर्थात् मोक्ष का ही वर्त्तमान है ९० ॥

अधिकारश्च विधानविद्यान्तरवत् ९१ ॥

व्याकरण आदि अन्य विद्याओं की नांई ब्रह्मचर्य आदि का भी अधिकार (यज्ञोपवीतधारणकरने) से ही विधान किया है; इस से बालक की प्राप्ति ही नहीं है, ९१ ॥

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ९२ ॥

यदिकोई यह आशंका करे, कि कामनाओं की निवृत्ति से काम्य (कामना के साधक) अश्वमेध आदि कर्मों की निवृत्ति होभी जावे, परंतु अग्निहोत्र आदि नित्य कर्मों की निवृत्ति कैसे होगी, क्योंकि वेद में कहा है, जबतक जीवे तबतक अग्निहोत्र कर्म अवश्य करे; उत्तर यह है, अपने शरीर में अग्नियों के समारोपण (स्थापन) से अपवर्ग (मोक्ष) का निषेध करना योग्य नहीं है; जैसा वेद में कहा है, कि प्राजापत्य नामी यज्ञ करके उस में अपने संपूर्ण वेद के स्वत (अधिकार) का दान करके अपने शरीर में अग्नि स्थापन करके ब्राह्मण संन्यास आश्रम को ग्रहण करे; इसी से वेद में कहा है, कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चार देव मार्ग हैं, ९२ ॥

यावच्च यावज्जीवोपपत्तेश्च फलाभावः क-

जो कोई यह आशंका करे, कि उक्त रीति से अग्नि-

होत्र आदि कर्म मोक्ष को न रोकें, तोभी इन (यज्ञआदि) कर्मों के फल (स्वर्गआदि) मोक्ष तक नहीं जाने देवें; इस का उत्तर यह है, कि ज्ञानी (संन्यासी) को स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति नहीं होती, जिस से संन्यासी के मरने पर पात्रचय कर्म नहीं होता; और जिन के मरने पर पात्रचय कर्म करते हैं, उन्हीं को अग्निहोत्र आदिकर्मों का फल (स्वर्गआदि) मिलता है। पात्रचय कर्म यह है, आग में हवन करने के पात्रों (बर्तनों) को मरे हुए अग्निहोत्री यजमान के अंगों में चय (स्थापन) करना; जैसा वेद में लिखा है, कि स्त्रुचा मुख में स्रुवादि क्रम से सब पात्र उस (यजमान) के अंगों में चिन दिये जाते हैं; भिक्षु (संन्यासी) तो प्रथम ही प्राजापत्ययज्ञ में सब कर्मों को त्याग देता है, इस से उस का पात्रचय नहीं होना; इसी पात्रचय के ना होने से भिक्षु को यज्ञ आदि का फलभी नहीं मिलता; इस पर यह आशंका है, कि उक्त हेतु से अग्निहोत्रआदि नित्य कर्मों का फल चाहे हो, परंतु अग्निष्टोम, गंगास्नान, हिंसा आदि कर्मों के स्वर्ग नरक आदि फल ही मोक्ष के प्रतिबंधक होजावें, इस का उत्तर करने के अर्थ ही सूत्र में चकार पढ़ा है; इस से सिद्ध हुआ, कि तत्त्वज्ञान प्रारब्ध से इतर कर्मों का नाश करता है; प्रारब्ध कर्मों का तो भोग से ही नाश होता है; श्रुति में भी कहा है, कि ज्ञानवान् मनुष्य पाप पुण्य को त्याग के शुद्ध होकर ईश्वर की तुल्यता

को प्राप्त होता है; और तत्वज्ञान (ईश्वरकाप्रत्यक्ष) होने से सब कर्म क्षीण होजाते हैं; स्मृति में भी कहा है, कि ज्ञान अग्नि से सबकर्म भस्म होजाते हैं; इन प्रमाणों से सिद्ध हुआ, कि कामना यदि ना हो, तो ज्ञानी पुरुष से नवीन उपजाने से विनाभी मुक्त होजाता है; वेद में कहा है, कि अंगोंके सहित वेदपढ़े विद्वान प्राचीन ब्राह्मण प्रजा (संतति) की इच्छा ही नहीं करते, कहते हैं, कि प्रजा को हमका करेंगे; किंतुज्ञानी लोग पुत्र, धन, स्वर्गआदि लोककी सबकामनात्यागके भिक्षा-री (संन्यासी) होकर तत्वविचार में अपनी आयुबिताते हैं; कोईयहआर्षसूत्र का करते हैं, मुमुक्षु को जब कोई कामनाही नहीं है; तो वहकर्मों में प्रवृत्तभी हो-तो, तोफलकहां से होता था क ॥

सुप्तस्यवप्रादर्शनेक्लेशाभावादपवर्गः ६२

क्लेश (दुःख) भी नहीं मोक्ष के प्रतिबंधक हो सकते, इसबात को सिद्ध करते हैं; सुषुप्ति (गाढ़निद्रा) के समय जब स्वप्न भी कोई नहीं आता, तो जैसे कारण (विषयों के साथ इंद्रियों का संबंध) नाहोने से दुःख कोई नहीं होता; इसीरीति अपवर्ग (मोक्ष) के समय राग (कामना) आदिकारणों के ना होने से दुःख कोई नहीं होता; ६३ ॥ ❖ ❖ ❖

नप्रवृत्तिःप्रतिसन्धानायहीनक्लेशस्य ६४ ॥

और प्रवृत्ति (यत्न) भी मोक्ष की प्रतिबंधक नहीं होसक्ती, क्योंकि क्लेशों (रागआदि) के नाश होने पश्चिमा

कृत्रा पत्न मोक्ष का प्रतिबंधक नहीं होता; अर्थात् मोक्ष के प्रतिबंधक धर्म और अधर्म को उत्पन्न नहीं करता;

नैकांशमनुभवतेः स्वाभाविकत्वात् ९५ ॥

इस पर आशंका यह है, कि मोक्ष के समय कोई दुःख नहीं होता, यह कथन सर्वथा असंगत है; क्योंकि सुख, दुःख तो अपने स्वभाव से ही होते रहते हैं, किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखते; कि जिस (कारण) के ना होने से मुक्ति के समय दुःख उत्पन्न होने की न्यूनता होवे; इस से सिद्ध हुआ, कि सदा ही सुख अथवा दुःख स्वभाव से (विना किसी कारण के) ही प्रगट होते रहते हैं; पुनः जिस समय कोई दुःख ना उत्पन्न हो, ऐसे मोक्ष का मानना ही असंगत प्रतीत होता है ९५

प्रागुत्पत्तेरभावो नित्यत्ववत्स्वाभाविकेण निमित्तेन ९६ अणुरूपादयोऽनित्यत्ववद्वा ९७

कोई एकदेशी दो सूत्रों से उत्तर करता है, कि पदार्थ की उत्पत्ति से प्रथम जैसे प्रागभाव स्वाभाविक (किसी कारण से विना ही) होता है; पुनः अनित्य (पदार्थ के उत्पन्न होने पश्चात् नष्ट हो जाता) है; अथवा परमाणु का नीलरूप जैसे स्वाभाविक (अनादि) भी पाक आदि से नष्ट हो जाता है, इसी रीति स्वाभाविक (अनादि) भी दुःख अपवर्ग (मोक्ष) के समय जन्म आदि के नाश से नष्ट हो जाता है; ९६+९७ ॥

न सङ्कल्पनिमित्तत्वाच्चरागादीनाम् ९८ ॥

अब पूर्वपक्षी और एकदेशी के मत का खंडन करते

सिद्धांत दिखाते हैं; विनाशी(नष्ट होनेवाले) भाव को अनित्य कहें, तो प्रागभाव की प्राप्ति ही नहीं है; परमाणु का नीलरूप अनादि है, इसका खंडन वात्स्यायन भाष्य में लिखा है; कि हेतु(प्रमाण) के ना होने से परमाणु का नीलरूप नित्य(उत्पत्तिसेहीन) मानना सर्वथा असंगत है; सिद्धांत यह है, राग आदि दोष संकल्प(मिथ्याज्ञान)के कार्य हैं; तो तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होजाने पर रागआदि दोषों का नाश होना योग्य ही है; जिस(दोषोंके नाश) से मोक्ष सहज में ही हो जाता है ६८ ॥ ❖ ❖

इति न्यायसूत्रवृत्तिमें मोक्षकी परीक्षाका ५८ वांप्रक रणसमाप्तञ्च्या ॥ ❖ ❖ ❖

इति ४र्थ. अध्यायका १म. आह्निकसमाप्तञ्च्या. ॥

दोषनिमित्तानांतत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः १ ॥

शास्त्र का मुख्य प्रयोजन मोक्ष है, परंतु इस (मोक्ष) का निरूपण, लक्षण, परीक्षा आदिकिये हुए भी व्यर्थ हैं; क्योंकि मोक्ष का कारण तो कहा ही नहीं, यदि कहो कि दुःख जन्म इत्यादि (१म० अ० के २य०) सूत्र में कहा ही है, कारणों के नाश से क्रमपूर्वक जो दुःखों का नाश होता है, उसे मोक्ष कहते हैं; तो इस में भी मिथ्याज्ञान के नाश का कारण जो तत्वज्ञान कहा है; उस में यह स्पष्ट कर के नहीं कहा कि तत्व किसका जानना योग्य है; इस लिये तत्वज्ञान की परीक्षा करने के अर्थ यह आह्निक प्रारंभ हुआ है; इस आह्निक में छे प्रकरण हैं, आदि में तत्वज्ञान की उत्पत्ति का प्रकरण है; और जिसजिस क्रम से आवेंगे, वहां उन के नामलिखे जावेंगे; इस सूत्र में गौतमजीने अपना सिद्धांत कहा है, कि दोषों (रागआदि) के निमित्तकारणों (शरीरआदिकों) के तत्वज्ञान (शरीरआदिआत्मा से भिन्न हैं ऐसेयथार्थज्ञान) से अहंकार (मैंशरीर हूं ऐसेमिथ्याज्ञान) की निवृत्ति होती है; क्योंकिशरीर को आत्मा जानने से मनुष्य मोह (भ्रम) को प्राप्त होके किसी से प्रेम और किसी पर क्रोधकरता है; कोई लोग इस सूत्र का अर्थ यूं करते हैं, कि दोष नामी निमित्तों (रागआदिकोंको) यथार्थरूपसे (सबदुःखोंके कारणयेही हैं) जानकर अहंकार (सबकामनाओं) की निवृत्ति होजाती है; अर्थात आत्माआदिबारहप्रमेयों

का ही तत्वज्ञानने योग्य है १ ॥ ❊ ❊

दोषनिमित्तंरूपादयोविष
याः सङ्कल्पकृताः २ ॥

वे कौन से विषय हैं, कि जिन के साथ प्रेम करने से मनुष्य संसार में बंधजाता है; इस विवेक के अर्थ उन विषयों को दिखाते हैं; कि संकल्प (येवकृतउत्तम हैं ऐसेज्ञान) के विषय रूप आदि पदार्थ ही दोषों (रागआदि) के निमित्त (कारण) हैं; अर्थात् यह स्त्री वकृत सुंदर है, ऐसाजानने से जीव राग (प्रेम) में बंधजाता है; और यह मेरा शत्रु है, ऐसा जान के जीव द्वेष (क्रोध) में बंधजाता है; इसलिये पहिले रूपआदि विषयों को मन से त्यागनायोग्य है, पीछे से शरीर और आत्मा का विवेक (भेदप्रतीत) होता है २ ॥ ❊

तन्निमित्तत्ववयव्यभिमानः ३ ॥

यदि कोई कहे, कि सुंदर रूप आदि को देख के ब्रह्मा भी राग (प्रेम) से निवृत्त नहीं होसकता; जैसा गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्णजी से कहा है, हे महाराज इंद्रियों को मथनकर्ता, पक्का बलवान् यह मन अतिचंचल है; इसका रोकना अतिकठिन है, इस से रागआदि दोषोंकी निवृत्ति का उपाय दिखाते हैं; युवती आदि के शरीरों को सुंदरमानना ही सपरिष्कारबुद्धि रागआदिदोषोंकाकारण है; इसबुद्धिकेत्यागसेही रागआदिकी निवृत्ति होती है; वात्स्यायनभाष्यमेंभीलिखा है, इन शरीरों को सुंदर जानना परिष्कारबुद्धि सर्वथात्यागदेनी योग्य है; अ

शुभसंज्ञा (इनदेहोंको मलसेभरेदुष्टजानना) सर्वथात्याग करने के योग्य है; परिष्कारबुद्धि (अञ्जनसंज्ञा) का उदाहरण खेलने खंजन पक्षी के समान नेत्रों, पके बिंबफलके समान ओठों, स्थूलजंघाओं, कमलकी कलीके समानस्तनों, और पूर्णिमा के चंद्रमा से सुंदर मुख से शोभायमान यह स्त्री मुझे प्राप्त होकर कब आनंद देगी; अशुभसंज्ञा का उदाहरण यह है, कि यह स्त्री मांस, लोहू और पाक आदि से भरी चमड़े की बनी पात्री (वर्त्तन) है; इस (स्त्री) में जो जीव चित्तहानि को लगाता है, वह ही जगत में सब से अधिक पिशाच है; इसीरीति सब शरीरों में अशुभसंज्ञाबुद्धि ही करनी योग्य है, और शत्रुओं में भी त्यागदेने के योग्य शुभसंज्ञा बुद्धि यह है; कि यह दुष्टजीव मेरे सब अच्छे कामों में स्वतंत्र होके द्वेष (विरोध) करता है, मैं कुल्हाड़े से इस का गलाकाट के कब खाली होऊंगा; उन्हीं (शत्रुओं) में ग्रहण करने के योग्य अशुभसंज्ञाबुद्धि यह है; कि मांस और अस्थियों (हड्डियों) से बना हुआ इस (शत्रु) का शरीर मेरा क्या अपराध (बिगाड़) कर सकता है, और इस (शरीर) से अन्य कर्त्ता (जीवात्मा) को मैं किसीरीतिभीनहीं काट सकता; सिद्ध यह हुआ, कि जगत के सब पदार्थों में वैराग्य की कारण अशुभसंज्ञा बुद्धि ही करने योग्य है; और बंधन की कारण शुभसंज्ञा बुद्धि सर्वथा त्यागदेनेयोग्य है; ३ ॥ इतिन्यायसूत्रवृत्तिके चौथे अध्याय दूसरे आह्निक में तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति का ५५

वौप्रकरणहिंदी भाषा में समाप्त हुआ ॥ ❊

विद्याविद्याद्वैविध्यात्संशयः ४ ॥

प्रसंगसंगति से अवयवी की सिद्धि का प्रकरण चलाते हैं, वास्तव यह है, कि एक ही शरीर में अशुभ संज्ञा और शुभ संज्ञा बुद्धि होती हैं; पुनः उन में से एक (अशुभसंज्ञा) को ग्रहण करना, और दूसरी (शुभसंज्ञा) को त्यागदेना यह बात सर्वथा युक्ति से बाहर है; इस से प्रतीत होता है, कि एक अवयवी कोई नहीं है; किंतु परमाणुओं के पुंज (समूह) हैं, मोक्ष की इच्छा हो, तो मनुष्य को इन पुंजों की ही भावना करनी योग्य है; यह (पुंजोंकी) भावनाभी भ्रम से ही है, क्योंकि आगे चल के परमाणुओं का भी खंडन करदेना है; बौधों के इसमत (पुंजवाद) का खंडन करने के अर्थ यह प्रकरण चला है; यद्यपि दूसरेअध्याय में अवयवी की सिद्धि कर आये हैं, तोभी वैभाषिकनामी बौधों की अति दृढ़ युक्तिओं का खंडन इस प्रकरण में किया है; आदि में अवयवी के होने में यह संशय है, कि विद्या (यथार्थज्ञान) अविद्या (अयथार्थज्ञान) के द्वैविध्य (भेद) से ज्ञानत्व (साधारणधर्म) को लेकर अवयवी के ज्ञान में भ्रमत्व का संशय होने से अवयवी में संशय होता है; कि अवयवी है वानहीं ॥ ४ ॥ ❊ ❊ ❊

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ५ ॥

उत्तर यह है, कि दूसरे अध्याय में कही युक्तियों से भली भांति अवयवी की सिद्धि होने पर अवयवी में संदेह किसीरीति भी नहीं हो सकता ५ ॥

दृष्यनुपपत्तेरपिनहि नसंशयः ६

अवयवी के न मानने से संशय भी नहीं होसकता, इसबात को प्रगट करते हैं; कि दृष्टि (जगत में होने) की अनुपपत्ति (असिद्धि) से स्पष्ट प्रतीत होता है, अवयवी का संशय भी नहीं हो सकता; क्यों कि संशय में दोनों विरुद्ध कोटिओं का स्मरण कारण होता है, जो पदार्थ (अवयवी) जगत में है ही नहीं, उसका स्मरण होना और स्मरण से विना उसका संशय होना भी असंगत है; ६ ॥

❖ ❖ ❖

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ७

जगत में अवयवी नहीं हो सकता, इसबात को सिद्ध करते हैं; कि प्रत्येक अवयव में संपूर्ण अवयवी रहता है, अथवा अवयवी का कोई भाग रहता है; अधिक परिमाण के होने से संपूर्ण अवयवी का एक अवयव में रहना असंगत है; अवयवी का कोई भाग रहता है, इस पर भी विकल्प है; कि वह भाग उसी भाग में रहता है, अथवा एकभाग (अवयव) दूसरे भाग (अवयव) में रहता है; अभेद में समवाय के नहोने से अपने आप में रह ही नहीं सकता, अवयवों का परस्पर स-

समवाय न होने से एक अवयव दूसरे अवयव में भी नहीं रह सकता; ७ ॥

तेषु चाऽवृत्तेरवयव्यभावः ८ ॥

इस रीति अवयवों में संपूर्णरूप से और एकदेशसे भी न रह सकने से सिद्ध हुआ; कि अवयवी जगत में कोई नहीं है, क्योंकि आपने अवयवी अवृत्ति भी नहीं माना; कोईलोग इन्हें (७ + ८) भाष्यकार पक्ष कहते हैं; ८ ॥

एकत्वावयवेभ्योऽवृत्तेः ९ ॥

इस पर आशंका यह है, कि नैयायिक यदि अवृत्ति अवयवी माने, तोभी नहीं मान सकते क्योंकि अवयवों से एक भी अवयवी कहीं नहीं रहा; और पिछली युक्तिओं से सिद्ध है, अवयवों में भी अवयवी नहीं रहता; अवृत्ति (न रहनेवाले) द्रव्य न्याय में नित्य माने हैं, परंतु प्रत्यक्ष उत्पन्न और नष्ट होते पदार्थों को नित्यभी नहीं मान सकते; किंतु यह ही सिद्ध होता है, कि अवयवी नामका कोई पदार्थ जगत में नहीं है; कोईलोग इस सूत्र को ऐसे लगाते हैं कि संपूर्ण रूप से अथवा एकदेश से अवयवों में अवयवी न ही रहता, किंतु स्वरूप से ही रहता है; इस पर पूर्वपक्षी का यह कथन है, कि अवयवों से एक अवयवी कोई नहीं है; जिस से कहीं रह नहीं सकता, और अवृत्ति (न रहनेवाला) कोई कार्य नहीं होता; ॥ ९ ॥

नचावयव्यवयवाः ९० ॥

यदि कोई कहे, कि अवयवी का अवयवों के साथ अभेद (तादात्म्य) संबंध ही हो; इस का उत्तर यह है, कि तंतु पर है, मणि का गुण है, खंभा गुरु है, इत्यादि प्रतीतियों के ना होने से स्पष्ट प्रतीत होता है, कि अवयव और अवयवियों का अभेद (ऐक्य) मानना सर्वथा असंगत है; और अभेद मानने से आधाराधेयभाव की सिद्धि करनी भी अति कठिन होती है ९०

एकस्मिन्भेदाभावाद्भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरभ्रमः ९१ ॥

सिद्धांत यह है, कि एकपदार्थ (अवयवी) में यह (संपूर्ण अवयवी अवयवों में रहता है, अथवा अवयवी का एकदेश) भ्रम ही असंगत है; क्योंकि बहुत पदार्थों के पूर्ण समूह को कृत्स्न (संपूर्ण) और बहुतों में से प्रत्येक को एकदेश कहते हैं; इस से बहुतों के समूह और बहुतों में से प्रत्येक में होने के योग्य इन (कृत्स्न एकदेश) शब्दों का प्रयोग एक अवयवी में करना असंगत है; ९१ ॥ ❖ ❖ ❖

अवयवान्तराभावेऽप्यहेतेरहेतुः ९२ ॥

इस हेतु से भी सिद्ध होता है, कि अवयवी के होने में संदेह असंगत है; क्यों कि एक अवयव में समवाय संबंध से दूसरा अवयव रहे भी तो अपने (नैयायिक के) अर्थ (अवयवी) की सिद्धि नहीं हुई; किंतु अवयव ही सिद्ध हुआ; कोई यह अर्थ करते हैं, कि अव-

यवी के वर्त्तमान होने में छन्न (संश्लेष) और एक देश का विकल्प घटत आदि जातियों में भी होने लगेगा, अर्थात् घटत आदि जैसे समुदाय और एक देश की अपेक्षा त्याग के स्वरूप से ही रहते हैं; इसीरीति अवयवी भी स्वरूप से ही रहते हैं; ९२ ॥ ❊ ॥

केशसमूहैतैमिरिकोपलब्धिवज्जडप
लब्धिः ९३ ॥

तद संशय इत्यादि ५ वें सूत्र से अवयवी (स्थूलपदार्थ) की सिद्धि से बिना जगत में किसी पदार्थ का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा; इस पीछे कही युक्ति का स्मरण कराया है, इसेपक्षी उस आक्षेप का खंडन करता है; अंधेरे में जैसे एक केश नहीं दीखता और केशों का समूह (जटा) दीख पड़ता है; इसीरीति एक परमाणु का प्रत्यक्ष न भी हो, तो परमाणुओं के समूह (घट पट आदि) का प्रत्यक्ष होजावेगा, पुनः अवयवी के मानने का क्या प्रयोजन है ९३ ॥ ❊ ॥

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्यपटुमन्दभा
वाद्विषयग्रहणस्यतथाभावोनाविषये
प्रहणम्निः ९४ ॥ ❊ ॥

उत्तर यह है, पटु (तीक्ष्ण) होने से इंद्रिय अपने विषयों को शीघ्र ग्रहण करते हैं; और इंद्रिय मंद हों तो विलंब से विषयों को ग्रहण करते हैं; परन्तु अतितीक्ष्ण भी चक्षु कभी शब्द को नहीं ग्रहण करसकता, इस से स्पष्ट प्रतीत हुआ, कि इंद्रियों की तीक्ष्णता अथवा मंदता

अपने अपने विषयों में ही होती है; इन विषयों में कभी नहीं होती, और महत परिमाणके न होने से परमाणु में प्रत्यक्ष की योग्यता ही नहीं है; इस से परमाणु किसी इंद्रिय का विषय नहीं होसकता, जब एक परमाणु चक्षु का विषय नहीं है, तो परमाणुओंका समूह चक्षु का विषय कहां से होगा; अर्थात परमाणुओं के समूह ही मानों तो घट पट आदि किसी पदार्थ का भी प्रत्यक्ष न होवे; इस से अवयवी अवश्य मानना योग्य है ९४॥

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ९५।

इसपरभी और दोष देता है, कि अवयवी की नाईं अवयवों में भी यह दोष तुल्य ही है; कि वे अवयव अपने अवयवों में संश्लेष रूप से रहते हैं, अथवा एक देशसे परन्तु इन दोनोंमें से कोई पक्ष भी नहीं बन सकता, जबतक प्रलय (शून्य) न माना जावे, अर्थात जगत के सब पदार्थ शून्य (अभाव) रूप ही हैं, केवल भ्रम से रूप रस आदि की प्रतीति होती है; अभाव रूप मानने पर भी यह दोष है, कि प्रलय से अनंतर समवायि कारण के ना होने से सृष्टि की उत्पत्ति ना होवे, अभाव रूप मानने से यह कथन भी संगत होगया, कि अवयवी की सिद्धि ना होने से किसी का भी ग्रहण (प्रत्यक्ष) नहीं होगा; क्योंकि जब वस्तु का अभावही होगया, तो प्रत्यक्ष कहां से होना था ९५ ॥ ❊ ॥

न प्रत्येकाश्रयणसद्भावात् ९६ ॥ ❊ ॥

उत्तर यह है, कि आश्रय नाश आदि कोई भी परमाणु के

नाश की सामग्री ना मिलने से स्पष्ट प्रतीत होता है; परमाणु का नाश नहीं होता, किंतु परमाणु नित्य है; पुनः सब पदार्थों को शून्य (अभाव) रूप मानना, सर्वथा असंगत है; १६ ॥ ❊ ॥

परंवाऽणुतेः १७।

परमाणु किसे कहते हैं, इसका उत्तर करते हैं; त्रुटि (अणुक) से जो पर (अतिसूक्ष्म) वह परमाणु है; अर्थात् अणुक के अवयव अथवा अणुक के अवयव (द्व्यणुक) के अवयव को परमाणु कहते हैं। १७ ॥ ❊ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में अवयवी और अवयवों की सिद्धिका ५५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ॥

आकाशस्यनित्यत्वादनवयवत्वम्। १८।

सब पदार्थ जब शून्य रूप माने जावें तो परमाणु की संभावना भी नहीं होसकती; इसका उत्तर करने के अर्थ यह निरवयव प्रकरण चला है; आदिमें सर्व पक्षी की आशंका इस सूत्र में करी है, विभु होने से आकाश जब परमाणु के अंदर और बाहर भी रहता है; तो इसी अंदर बाहर के विभाग से प्रतीत होता है, कि परमाणु सावयव (अनित्य) है। १८ ॥ ❊ ॥

आकाशासर्वगतत्वेवा १९।

यदि परमाणु के अंदर और बाहर आकाश ना माना जावे तो आकाश सर्वगत (विभु) ना होवे, १९ ॥ ❊ ॥

अनवेक्ष्यैकार्थंद्रव्यस्यकारणान्तरवचना दकार्य्यैनदभावः २० ॥ ❊ ॥

उत्तर यह है, कि अंतर और बहिः शब्द से कार्यद्रव्य (अनित्यद्रव्य) के कारणांतरों (अवयवों) के कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है; कि अवयवों से हीन नित्यद्रव्य (परमाणु) में अंतर और बहिः शब्द का प्रयोग करना सर्वथा असंगत है; २० ॥ ❊ ॥

सर्वसंयोगशब्दविभवाच्चसर्वगतम् २१॥

आकाश में विभुत्व की हानि भी नहीं होगी, इस बात को सिद्ध करते हैं; सब स्थानों में शब्द की उत्पत्ति देखने से शब्द के कारण आकाश संयोग को सब मूर्त्तों में अनुमान प्रमाण से सिद्ध कर सकते हैं; अर्थात् सर्वमूर्त्तसंयोगित्व (सब मूर्त्तों के साथ संयुक्त होने) से आकाश आदि विभु कहाते हैं । २१ ॥ ❊ ॥

अस्खलविषमविभुत्वान्नाकाशधर्म्मः २२

आकाश यदि विभु (सब मूर्त्तों से संयुक्त) हो तो स्खलन (फैंके हुए पदार्थ का टकराके पीछे हटना) और विषमन (आगे जाने से रुक जाना) अवश्य होवे; इस आशंका का उत्तर करते हैं, कि आकाश का किसी के साथ स्खलन (अभिघात) भी नहीं होता; और आकाश किसी को विषंभ (रोक) भी नहीं सकता; क्योंकि अभिघात और रोकना मूर्त्तों का स्वभाव है; आकाश आदि विभुओं में इन (अभिघात और रोकने) की संभावना भी नहीं होसकती यद्यपि ये २ सूत्र शून्यता वादी के मत में नहीं संगति पा सकते, तो भी नैयायिक के मत से कहे जानते । २२ ॥ ❊ ॥

मूर्तिमत्त्वाच्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ३१।

श्वेपदी (शून्यतावादी) और आशंका करता है; जिन जिन घट पट आदि द्रव्यों की मूर्ति (आकृति) है, वे सब सावयव होने से अनित्य ही देखने में आते हैं; इसी रीति परमाणु भी जिससे मूर्ति (गोल आकृति) रखते हैं, इसीसे अनित्य और सावयव हैं; इस सूत्र में चकार धरने से यह भी जनाया है, कि परमाणु जिस से मूर्त (न्यून परिमाणवाले) हैं, इसी से घट आदि मूर्तों की नाईं सावयव हैं; और परमाणु जिस से सावयव हैं, इसी से घट आदि की नाईं अनित्य हैं; अर्थात् परमाणु जब अनित्य रूप तो सब जगत् शून्यरूप ही मानना योग्य है। ३२ ॥ ❊ ॥

संयोगोपपत्तेश्च ३३ ॥

श्वेपदी अपने मत (शून्यता) की सिद्धि में और युक्ति देता है, जिस से परमाणु में संयोग रहता है, इसीसे घट आदि की नाईं परमाणु भी सावयव है; क्योंकि सब संयोग अव्याप्यवृत्ति होते हैं, और जिसका भाव (होना) अभाव (नाहोना) एक आश्रय में रहें, उसे अव्याप्यवृत्ति कहते हैं, परन्तु विरुद्ध भाव और अभाव एक आश्रय में अवयवों के भेद से ही रह सकते हैं; अर्थात् अवयवों के भेद से ही संयोग और संयोगाभाव परमाणु में रहेंगे, तभी दो परमाणुओं का संयोग अव्याप्यवृत्ति होसकेगा, तो सिद्ध हुआ, कि परमाणु सावयव (अनित्य) हैं; इसपर नैयायिक यदि कहें

कि अवयवों के संयोग को अव्याप्यवृत्ति बनाने के अर्थ उन के भी अवयव अवयवों के अवयव उनके भी अवयव मानने से अनवस्था दोष लगेगा; शून्यतावादी का यह उत्तर है; कि इसी से परमाणु आकाश आदि के उक्त लक्षण को त्याग के केवल शून्यका मान लेना योग्य है २४ ॥ ❊ ॥

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः २५ ॥ ❊ ॥

उत्तर यह है, कि परमाणु को सावयव मानने से अनवस्था दोष लगता है; यदि अनवस्था को भी मानलो तो यह दोष है, कि सुमेरु और सरसों तुल्य होजावें; परमाणु में संयोग और संयोगभाव तो उक्त अवयः आदि देशों के भेद से रहता है; पुनः परमाणु में अवयवों की कल्पना सर्वथा असंगत है; और शून्यता का साधक कोई अन्य प्रमाण यदि मानो, तो वह (प्रमाण) ही शून्य से एथक हुआ; यदि प्रमाण से विना ही शून्यता मानो, तो शून्यता के मानने में क्या दोष है २५ ॥ ❊ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में परमाणु को निरवयव सिद्ध करने का २६ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ॥ ❊ ॥

बुद्धाविवेचनात्तभावानांयाथात्म्यानुपलब्धिस्तदनुपलब्धिः २६ ॥ ❊ ॥

बाह्य (ज्ञान से भिन्न) पदार्थ ही जगत में कोई नहीं है, तो अवयवी की सिद्धि आप कहां से करने हो, इस मत का

का खंडन करने के अर्थ बाह्य (ज्ञान से भिन्न) अर्थ की सिद्धि का प्रकरण चला है; उसमें सब प्रमेय ज्ञानही हैं, अथवा ज्ञान से भिन्न हैं यह संशय है; आदिमें यह पूर्वपक्षी (ज्ञानवादी) का सूत्र है, बुद्धि के साथ भावों (पदार्थों) का विवेचन (अभेदलिखने) से याथात्म्य (ज्ञानसे भेद) की उपलब्धि (सिद्धि) नहीं होसकती; क्योंकि "अयंघटः" यह घट का ज्ञान मुझेहुआ, इत्यादि प्रतीतियों से घट पट आदि पदार्थोंका ज्ञान के साथ अभेद ही प्रतीत होता है; इस से सिद्ध हुआ, कि ज्ञान से भिन्न उक्त प्रतीतियों का विषय कोई नहीं; जैसे तंतु पृथक् २ करने से अन्य कोई पट पदार्थ प्रतीत नहीं होता, तंतु भी अपने अवयवों से पृथक् कोई नहीं; इसी रीति विचार के देखें तो उक्त प्रतीतियों से घट पट आदि सब ज्ञान पदार्थ ही हैं; घटत्व आदि भी ज्ञान के ही आकार (आकांक्षा भेद) हैं २६॥

आवरणादेतः २७॥

उत्तर यह है, उक्त हेतु से घट आदि पदार्थों को ज्ञान रूप सिद्ध करना अभिचारदोषसेसर्वथा अयुक्त है, उक्त प्रतीतियों से तंतु और पट को ऐक्य नहिं सिद्ध होसकता क्योंकि तंतु से पट होता है ऐसी ही प्रतीति होती है; और ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती, कि तंतु पट है; और आवरण (ढांकना) भी पट से ही होता है, तंतु से नहीं होता; और "अयंघट" इत्यादि प्रतीतियों से ज्ञान का बोध ही नहीं होता, तो ज्ञान के भेद का बोध

कहां से होना था; और अनुव्यवसाय (ज्ञान के ज्ञान) से भी ज्ञान में घट की विषयता प्रतीत होती है; ज्ञान की अथवा अभेद की विषयता कभी नहीं प्रतीत होती २७

नदाश्रयत्वादश्यकग्रहणम् २८॥

इस पर आशंका यह है, कि घट यदि नेत्रों से भिन्न हो तो नेत्रों से एक घट अवश्य प्रतीत होवे, उत्तर यह है, घट का आश्रय नेत्र उत्पत्ति से लेकर नाशतक घट से विभक्त होके स्थित नहीं हो सकता, किंतु घट का प्रत्यक्ष होने के समय नेत्रों के साथ भी इंद्रिय संयोग आदि प्रत्यक्ष की सामग्री रहने से नेत्रों का प्रत्यक्ष होनेमें कोई न्यूनता नहीं आती; परन्तु इकट्ठा घट और नेत्रों का प्रत्यक्ष भी ऐसा होता है, कि नेत्रेषु घटः (नेत्रों में घट है) इसी प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है, कि नेत्र आधार और घट आधेय है; आधार और आधेय भिन्न २ होते ही हैं, इसलिये घट नेत्रों से भिन्न है; केवल नित्य संबंधी होने से इकट्ठा प्रत्यक्ष होता है। २८ ॥ ❊ ॥

प्रमाणनयार्थप्रतिपत्तेः २९।

इस पर आशंका यह है, घट का नेत्रों के साथ भेद मानो, अथवा अभेद मानो, इन दोनों मतों में ज्ञान पदार्थ तो अवश्य मानना पड़ता है, तो उसी ज्ञानके मानने से ही निर्वाह होजावेगा, पुनः ज्ञान से भिन्न पदार्थों के मानने में क्या प्रमाण है, उत्तर यह है कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से घट पट आदि पदार्थों की

प्रतिपत्ति (प्रतीति) होती है; तो प्रमाण से सिद्ध पदार्थों का गौरव दोष से खंडन करना सर्वथा असंगत है; यदि प्रमाण से सिद्ध पदार्थों का गौरव दोष से खंडन किया जावे, तो बुद्धि पदार्थ के मानने में भी बड़ा गौरव है, किंतु लाघव से सब जगत को शून्य रूप मानना ही योग्य है। २९ ॥ ❊ ॥

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ३०।

बाह्य (ज्ञान से भिन्न) अर्थ का अभाव भी नहीं सिद्ध होसकता; क्योंकि इस (अभाव) की सिद्धि यदि किसी प्रमाण से करो, तो वह प्रमाण ही बाह्य अर्थ सिद्ध होजावेगा; और यदि प्रमाण से विना ही उक्त अभाव की सिद्धि करो, तो अप्रमाणिक पदार्थ (बाह्य अर्थ के अभाव) का मानना सर्वथा असंगत है; और घट आदि पदार्थों का ज्ञान यदि किसी प्रमाण से हुआ है, तो उसी प्रमाण से घट आदि बाह्य पदार्थ भी सिद्ध होजावेंगे; यदि घट का ज्ञान किसी प्रमाण से भी नहीं होता, तो प्रमाण से विना घट आदि पदार्थों को ज्ञान स्वरूप मानना भी सर्वथा युक्ति से विरुद्ध है; ३० ॥

स्वप्नविषयाभिमानवदयंप्रमाणप्रमेयाभिमानः ३१। मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ३२ ॥

प्रमाण प्रमेय की कल्पना भी यथार्थ नहीं है, किंतु कारण सामग्री की अपेक्षा को त्याग करही केवल संस्कार से स्वप्न के पदार्थों की नाईं अथवा इंद्रजाल के पदार्थों

की नाईं विज्ञान ही जगत होते प्रतीत पड़ते हैं, इस अभिप्राय को लेकर दो सूत्रों में आशंका की गई है, कि स्वप्न के पदार्थ, माया के बने गंधर्व नगर, और मृगतृष्णा इन पदार्थों की नाईं प्रमाण प्रमेय आदि पदार्थ अयथार्थ ही हैं। २१। २२॥

हेत्वभावादसिद्धिः २३॥

उत्तर यह है, हेतु (प्रमाण) के अभाव (न होने) से बाह्य अर्थ का अभाव सिद्ध नहीं होसकता; अथवा हेतु (चक्षुआदिप्रमाणों) के न मानने पर ज्ञान भी नहीं सिद्ध होसकते; वासना (संस्कार) से भी ज्ञान की सिद्धि नहीं कह सकते, क्योंकि वासना नामी बाह्य पदार्थ ही सिद्ध होजावेगा; और जिसके मत में संस्कार अनेक हैं, उसके मत में चक्षु भी क्षण भेद से अनेक होजावेंगे; तो गौरव दोष आवेगा। २३॥

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः २४॥

इस पर यदि श्वेपती (ज्ञानवादी) कहे, कि बिना किसी विषय और कारण के स्वप्न के ज्ञान जैसे उत्पन्न होते हैं; इसीरीति अन्य भी सब ज्ञान उत्पन्न होंगे, इसका उत्तर सिद्धांती ने यह किया है, कि जिस पदार्थ का अनुभव हो चुका है, उसी का स्मरण उद्बोधक का संबंध होने पर संस्कार से होता है; इसीरीति स्वप्न में भी अनुभूत पदार्थों का ही ज्ञान होता है, पुनः विषय से बिना स्मरण अथवा स्वप्न का मानना सर्वथा असंगत है; इस पर यह आशंका है, कि स्वप्न में मनुष्य

अपने आपको भी खालेता है, अपना सिर कटा हुआ भी देखता है, परन्तु इन बातों का अनुभव तो अपने कभी नहीं हुआ, उल्टा यह है कि अपना खाने का, अपने सिर का, और काटने का अनुभव तो कईवेर होचुका है; केवल इन पदार्थों का परस्पर संबंध भ्रम से प्रतीत होता है; और स्मृति का कारण संस्कार और विशिष्ट बुद्धि का कारण विशेषण ज्ञान माना है, इसलिये कारण से विना स्मृति अथवा स्वप्न का कथन भी असंगत है; किन्तु किसी दोष से अथवा अदृष्ट से अनुभूत पदार्थों का ही परस्पर संबंध स्वप्न में भ्रम से प्रतीत होता है। ३४ ॥ ❊ ॥

मिथ्योपलब्धिर्विनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्न विषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ३५।

यदि भ्रम का भी यथार्थ विषय मानागया, तो उस (भ्रम) की निवृत्ति कैसे होगी; इसका उत्तर यह है प्रतिबोध (जागृत अवस्था) में स्वप्न के विषयों का ज्ञान जैसे निवृत्त होजाता है; इसीरीति तत्त्व (यथार्थ) ज्ञान से मिथ्या (अयथार्थ रजतत्वादि के) ज्ञान का नाश होजाता है; यथार्थ ज्ञान से भी यद्यपि दर्पण में प्रतिबिंब की निवृत्ति नहीं होती, तो भी उसमें भ्रमत्व का ज्ञान होही जाता है, कि दर्पण में दीखता बिंब मिथ्या है। ३५ ॥ ❊ ॥

उदेत्यनिमित्तसद्भावोपलम्भात्। ३६।

माध्यमिक (बौद्ध) तो बाह्य (ज्ञानसेभिन्न) पदार्थों का

खंडन करके ज्ञान (बुद्धि) को भी शून्य (अभाव) रूप ही मानता है; इस (बौद्धके) मत का खंडन करने के अर्थ यह सूत्र कहा है, जैसे बाह्य पदार्थ प्रमाण से सिद्ध और अपने अपने कारण के द्वारा उत्पन्न होने से खंडित नहीं होसकते, इसीरीति बुद्धि भी प्रमाण से सिद्ध और अपने कारण के द्वारा उत्पन्न होने से खंडित नहीं होसकती; क्योंकि असत् (अभाव) कभी उपादान कारण से नहीं उत्पन्न होता, और यदि बुद्धि की उत्पत्ति भी उपादान कारण से विना ही मानी जावे, तो यह नियम न रहे, कि बुद्धि कभी उत्पन्न हो, और कभी न हो; किन्तु सदा ही बुद्धि उत्पन्न होती रहे, अथवा कभी न उत्पन्न होवे; कोई (आचार्य) इस सूत्र को ऐसे लगाते हैं, बौद्ध कहते हैं कि भ्रम का भी यदि कोई विषय माना जावे, तो भ्रम को भी यथार्थ ज्ञान ही कहो; उत्तर यह है कि रज्जु और सर्प दोनों सत्य भी हैं, तो भी रज्जु में सर्प का अभेद अथवा सर्पत्व न रहने से विशेष्य में विशेषण प्रमाण का निमित्त नहीं रहा; इससे रज्जु में सर्पत्व का ज्ञान भ्रम ही है, इस सूत्र में उपलंभ पद अर्थ ज्ञानना। २९

नन्वप्रधानभेदान्नभिमाबुद्धेर्विषयो यमनिः । ३७ ॥

भ्रमका दृष्टान्त देके सब बुद्धियों का विषय अभाव ही मानो, अथवा कोई विषय नमानो, तो यह भी असंगत है, क्योंकि "रज्जौसर्पः" इस भ्रम में भी विशेष्य (रज्जु) को यथार्थ और विशेषण (सर्पत्व) को अ-

यथार्थ भ्रम भी मानने ही हो; पुनः इसी दृष्टान्त से प्रमाण के सब विषय अयथार्थ मानने सर्वथा असंगत हैं; कोई ऐं कहते हैं, जिस ज्ञान के विशेष्य में विशेषण रहे वह प्रमा और जिसके विशेष्य में विशेषण न रहे, वह भ्रम है; इसरीति विषय के भेद से कोई विरोध नहीं आता। ५७ ॥ ❊ ॥

इति न्याय सूत्रवृत्ति में ज्ञान से भिन्न पदार्थों की सिद्धि का ५७ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ॥ ❊ ॥

समाधि विशेषाभ्यासात्। ५८ ॥

यदि कोई आशंका करे, कि शास्त्र से उत्पन्न तत्त्वज्ञान दो क्षणों तक ही रहता है; तो तत्त्वज्ञान के नाश से पीछे तीसरे क्षण में पुनः मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होजावेगा; और ऐसा कोई तत्त्व ज्ञान नहीं है, जो मिथ्या ज्ञान के साथही अति दृढ़ सनातन संस्कार का भी नाश करदेवे; इसलिये तत्त्वज्ञान की वृद्धि का प्रकरण चला है, तत्त्वज्ञान की वृद्धि (वासना) से मिथ्या ज्ञान का बीज (संस्कार) के साथ ही नाश होजाता है; आदि में तत्त्वज्ञान की वृद्धि (संस्कार) का हेतु (कारण) कहा है; समाधि विशेष (अन्य विषयों से निवृत्त करके चित्त को वांछित विषय परमात्मा में स्थिर करने) के अभ्यास (बारंबार प्रवृत्ति) से तत्त्वज्ञान की वृद्धि (वासना) उत्पन्न होती है; जिसे निदिध्यासन भी कहते हैं, इस (तत्त्वज्ञान की वासना) से संस्कार सहित मिथ्या ज्ञान का नाश होजाता है; जैसा कि

योगसूत्र में भी कहा है, कि तत्त्वज्ञान का संस्कार अन्य संस्कारों का नाश कर देता है, अथवा अन्य संस्कारों को निष्फल कर देता है। ३८ ॥

नार्थविशेषप्राबल्यात्। ३९॥
क्षुदादिभिःप्रबन्धेनाच्च। ४०॥

पुनः दो सूत्रों से सर्वमती ने आशंका की है, अर्थविशेष (स्त्रीपुत्र आदि से प्रेम) के प्राबल्य (चिरकाल की प्रवृत्ति) से और क्षुधा, तृषा, भय आदि के प्रतिबंध से मनुष्य तत्त्वज्ञान में प्रवृत्त ही नहीं होसकेगा; किन्तु इन (क्षुधा आदि) के शांत करने में ही जन्मभर बंधा रहने से तत्त्वज्ञान के अर्थ शास्त्र आदि के विचार और समाधि में प्रवृत्त होनेका अवसर ही नहीं मिलना; किन्तु तत्त्वज्ञान से मोक्ष की कल्पना मनोराज्य की नाईं केवल भ्रम है। ३९। ४० ॥

दृष्टेकृतफलानुबन्धान्नोत्पत्तिः। ४१॥

उत्तर यह है दृष्ट (पिछले जन्म में) कृत (किये) फल (अभ्यास से उत्पन्न संस्कार) के अनुबंध (संबंध) से समाधि की उत्पत्ति (सिद्धि) होती है; इसीसे अनेक जन्मों की सिद्धि से पुरुष परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होताहै; यह गीता का कथन भी संगत होजाता है; इतिकार (विश्वनाथ पंचानन) इस सूत्र को यूं लगाते हैं, दृष्टेकृत (पिछले जन्म में किये ईश्वराराधन) के फल (पुण्यविशेष) के संबंध से समाधि की सिद्धि होती है; जैसा कि योगसूत्र में भी लिखा है, कि ईश्वर में चित्त की

स्थिति से समाधि की सिद्धि होती है; योगसूत्र में यह भी लिखा है, कि ईश्वर में चित्त की स्थिति से आप ही चित्त विषयों से निवृत्त होजाता है; और चित्त सब भी निवृत्त होजाते हैं। ५१ ॥ ❊ ॥

अरण्यगुहापुलिनादियोगाभ्यासोपदेशाः। ५२ ॥ ❊ ॥

योगाभ्यास करने के योग्य स्थान सूत्रकार ने दिखाये हैं; अरण्य (निर्जनवन) गुहा (पर्वत की कंदरा) पुलिन (नदी का तीर) इत्यादि चित्त की स्थिति के हेतु एकांतस्थानों में समाधि का अभ्यास करना योग्य है, कोई लोग इसे भाष्य ही कहते हैं। ५२ ॥

अपवर्गेऽपेक्षप्रसङ्गः। ५३ ॥

इसपर नटस्थ की यह आशंका है, कि इसी रीति अभ्यास की प्रबलता से मोक्ष से अनंतर भी ईश्वर आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष होनेलगे,। ५३ ॥

नानिष्पन्नावश्यंभावित्वात्। ५४॥

उत्तर यह है; कि ज्ञान के अवश्यंभावि (कारण) निष्पन्न (शरीर इंद्रिय आदि) के न होने से मोक्ष के समय कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता; अर्थात् शरीर आदि कारण सामग्री के नहोने से मोक्ष दशा में ज्ञान आदि की उत्पत्ति कभी नहीं होसकती। ५४ ॥

तदभावश्चापवर्गे। ५५ ॥

अपने कारण धर्म और अधर्म के न होने से मोक्षके समय शरीर नहीं होसकता, और शरीर विना ज्ञानन

हीं होसकता; । ४५ ॥

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः॥ ४६॥

यदि कोई आशंका करे, कि केवल समाधि से ही विघ्नों का नाश और मोक्ष की प्राप्ति होती है; अथवा किसी अन्य सामग्री की अपेक्षा भी पड़ती है; इस का उत्तर करते हैं, अथवा समाधि की कारण सामग्री दिखाते हैं; समाधि अथवा मोक्ष के अर्थ योगशास्त्र में कहे यम, नियम और (ईश्वर का प्रत्यक्ष कराने के हेतु) उपायों से आत्मा (अंतःकरण) का संस्कार (शुद्धि) करना योग्य है; पातंजल सूत्र में यम आदि कहे हैं, अहिंसा (जीवहिंसा का त्याग) सत्य (झूठ का त्याग), अस्तेय (चोरी का त्याग), ब्रह्मचर्य्य (मैथुन का त्याग), और अपरिग्रह (गृहस्थ आदि भोग साधनों का त्याग) ये पांच यम हैं; शौच (शरीर और अंतःकरण की शुद्धि), संतोष (जो कुछ मिले उसी पर धैर्य), तप (शास्त्र में कहे चांद्रायणआदि व्रत) स्वाध्याय (प्रणव आदि मंत्रों का जप) और ईश्वरप्रणिधान (कामना सब त्याग के सब कर्मों का ईश्वर में अर्पण) ये पांच नियम हैं; कोई आचार्य निषिद्ध कर्मों के त्याग को यम और वेद में कहे धर्मों के ग्रहण को नियम कहते हैं; आत्मा (अंतःकरण) का संस्कार मोक्ष प्राप्ति की योग्यता है, जैसा कि योगसूत्र में कहा है, योग के अंगों (यम नियम आदि) को अनुष्ठान (ग्रहण) करने से अंतःकरण की अशुद्धि (अज्ञान) नाश

होजाने से मोक्ष के कारण तत्त्वज्ञानरूप ज्ञान का प्रकाश होता है, अविद्या (अज्ञान) के नाश से प्रथम वह (ज्ञान का) प्रकाश कभी नहीं होसकता। पातंजलसूत्र में समाधि के अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये आठ कहे हैं; यम और नियम तो विस्तार करके पीछे दिखा दिये हैं, पद्मासन, कुशासन आदि आसन भी योगशास्त्र में लिखे हैं; आसन के स्थिर होने पर प्राणवायु को शरीर के अंदर जाने और बाहर आनेसे रोकना प्राणायाम पातंजल में कहा है; घ्राण आदि बाहर की इंद्रियों को गंध आदि विषयों से निवृत्त करना प्रत्याहार कहा है; बाह्य विषयों से निवृत्त करके नाभिचक्र आदि देशों (स्थानों) में चित्त को स्थिर करना धारणा कही है; इसी धारणा के निरंतर प्रवाह को ध्यान कहते हैं; उसी ध्यान में जब केवल अर्थ (परमात्मा) ही प्रतीत हो, और अर्थ के धर्म अथवा ज्ञान का स्वरूप न प्रतीत होवे, तो उसे समाधि कहते हैं; इन आठ अंगों में से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन योग के मुख्य (साक्षात् सहायक) अंग हैं, ये सब पदार्थ विस्तार से पातंजल शास्त्र में लिखे हैं। ४८॥

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विधैरभिहृतः। ४९॥

इसपर आशंका यह है, समाधि से जब मोक्ष की प्राप्ति कही, तो न्यायशास्त्र का पढ़ना व्यर्थ हुआ;

उत्तर यह है मोक्ष की प्राप्ति के अर्थ तत्त्वज्ञान के कारण न्यायशास्त्र का अध्ययन और मनन करके संस्कार को दृढ़ करना; और अपने अनुभव को दृढ़ करने के अर्थ वाद (तत्त्व निर्णय की कारण) कथा की रीति से पातंजल पढ़े विद्वानों के साथ विचार करना; योग के अंगोंका जानना इससे आवश्यक नहीं प्रतीत होता, और न्याय में कहे ध्येय (ध्यान के योग्य) परमात्मा के स्वरूप से योग में स्वरूप का बहुत अंतर है; किन्तु परस्पर अपेक्षा मात्र होने से अर्थ कोई नहीं होसकता। ४७ ॥ ❊ ॥

तैश्शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्ट
श्चेयोऽर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात्। ४८

संवाद (विचार) की रीति दिखाते हैं; निंदा, स्तुति, और जीतने की इच्छा से रहित, मोक्ष की कामनासे युक्त, तत्त्वज्ञान में निपुण, गुरु, शिष्य और सपाठियों से मिलकर विद्वानों के साथ संवाद (विचार) करना योग्य है,। ४८ ॥ ❊ ॥

प्रतिपक्षहीनमपिवा श्रयोजनार्थं
मर्थितेन। ४९ ॥

और केवल तत्त्व निश्चय की कामना से प्रतिपक्ष (परस्पर विरुद्धपक्ष) का हट जिस रीति ना हो, ऐसे तत्त्व के निश्चय तक विचार करना योग्य है; वात्स्यायन जी ने भी अपने भाष्य में लिखा है, कि अपने पक्ष का हठ त्याग के पुरुष अपने दर्शन (ज्ञान)

का शोधन करे; क्योंकि जय पराजय की इच्छा को त्याग के केवल तत्त्वनिर्णय की कामना से जब विचार हुआ, तो पतपात की संभावना ही नहीं होसकती; जिससे जीतने की इच्छा ही पतपात को उठाती है।५८

इति न्याय सूत्रहत्ति में तत्त्वज्ञान की वृद्धि (भावना नामी संस्कार की उत्पत्ति) का ५८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ॥

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थंजल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थंकण्टकशाखावरणवत् । ५९ ॥ ❊ ॥

विद्वानों में वेद के संवाद के द्वारा पदार्थों का निश्चय करना, इस कथन से वेद-विरुद्ध मतों के अनुयायी नास्तिक आदि से संवाद का भ्रम ना होवे; इसलिये तत्त्वज्ञान की रक्षा का प्रकरण चला है; तत्त्वनिर्णय की रक्षा (वादी के दूषणों का उद्धार करके अप्रमाण की शंका दूर करने) के अर्थ जल्प और वितंडा दर्ब कहे हैं; जैसे बोये हुए बीजों के प्ररोहों (अंकुरों) की रक्षा के अर्थ खेत को कांटों की शाखाओं से आवरण का (ढांप) देते हैं; । ५९ ॥ ❊ ॥

तात्पर्यविवरणकथनम् । ६० ॥

इन (जल्प-और वितंडा) से क्या सिद्ध होगा इसलिये कहा है; वेद विरुद्ध मतों के अभ्यास से अनिभंद ज्ञान में निपुण नास्तिक आदि यदि अपने (न्याय के) मत पर आक्षेप (आशंका) करें, तो जल्प और

विडंडा के क्रम से नास्तिक के आक्षेपों का खंडन करना; यदि कोई वैदिक विद्वान आक्षेप करे, तो वाद की रीति से भी उद्धार करने का कोई दोष नहीं है; सिद्धांत यह जानना, कि ज्ञानी पुरुष को नास्तिक अथवा आस्तिक से विवाद करने की और शास्त्र का पत्तन (वादियों से रक्षा) करने की कुछ अपेक्षा नहीं है, क्योंकि इन की रक्षा से विना शास्त्र का नाश नहीं हो सकता, किन्तु यह तात्पर्य है, कि ज्ञानी पुरुष शास्त्र का अभ्यास अवश्य करे; क ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में तत्त्वज्ञान की रक्षा का ५९ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में ४ थे अध्याय का २ य आह्निक समाप्त हुआ ॥ ❊ ॥

इतिन्यायसूत्रवृत्ति में ४ थे अध्याय समाप्त हुआ

५ वां अध्याय
अवतरणिका
नत्वा शङ्करचरणं
शरणं दीनस्य दुर्गमतरणम्।
सम्प्रति निरूपयामः
पञ्चममध्यायमतिगहनम्। १

उस्तार संसार समुद्र में तरने के साधन, दीन जनों के शरण, शंकर (महादेव) के चरण पर सीस नवा के अब अतिकठिन पांचवें अध्याय का निरूपण करते हैं;। १॥ जाति और निग्रहस्थान का सामान्य निरूपण, लक्षण दिखा के पीछे सूत्रकार ने कहा है; इन (जाति और निग्रहस्थानों) के चौबीस भेद बहुत हैं, परन्तु शिष्यों की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) के अनुसार प्रमाण आदि पदार्थों की परीक्षा के अनिबंध (रोकने) से वे भेद दिखाये नहीं गये; अब उनके दिखाने का अवसर आने से जातियों की परीक्षा, जाति और निग्रहस्थानों के विशेष लक्षण इस ५ वें अध्याय का प्रयोजन है; जातियों की परीक्षा और जातियों के विशेष लक्षण १म आह्निक का प्रयोजन है; इस आह्निक में सत्रह प्रकरण हैं, आदि में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास (सिद्धान्त विरुद्ध पक्ष के प्रयोग) का प्रकरण है; और प्रकरण जहां जहां आवेंगे, उनके नाम वहीं दिखाये जावेंगे; अब जातियों के विशेष लक्षण करने के अर्थ जातियों के विशेष (आन्तर) भेद

दिखाये हैं। यह पांचवें अध्याय की अवतारणिका है॥

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्याव
र्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्ग
तिदृष्टान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणहेत्व
र्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपल
ब्धिनित्यानित्यकार्य्यसमाः॥ १॥

इस सूत्र में साधर्म्य से लेकर कार्य तक पदों का द्वंद्व समास करके द्वंद के अंत में आम समा शब्द के साथ प्रत्येक पद का अन्वय करने से साधर्म्यसमा, वैधर्म्यसमा, उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा, साध्यसमा, प्राप्तिसमा, अप्राप्तिसमा, प्रसंगसमा, प्रतिदृष्टांतसमा, अनुत्पत्तिसमा, संशयसमा, प्रकरणसमा, हेतुसमा, अर्थापत्तिसमा, अविशेषसमा, उपपत्तिसमा, उपलब्धिसमा, अनुपलब्धिसमा, नित्यसमा, अनित्यसमा, और कार्यसमा, ये चौबीस प्रकार की जाति कही है; भाष्य और वार्तिक कार ने इस सूत्र में समा शब्द स्त्रीलिंग दी माना है, आगे के अन्य सूत्रों में समो इत्यादि प्रयोग देखने से पुंलिंग समशब्द के होने में किसी का कुछ विवाद नहीं हो सकता; इस (समशब्द) के साथ यद्यपि विशेष्य जाति शब्द का अन्वय नहीं होसकता, तो भी पुंलिंग प्रतिषेध शब्द को विशेष्य मानके समशब्द के साथ अन्वय होजावेगा; यह उत्तर भाष्य और वार्तिक में लिखा है; वृत्तिकार का यह उत्तर है, कि तदिकल्पाज्जाति निग्रह

स्थान बढ़ने इस सूत्र की संमति से विकल्प को विशेष्य मान के साधर्म्यसम आदि चौबीस जाति के विकल्प (विशेषभेद) हैं; इसीरीति अन्यसूत्रों में भी निषेद करना, और यदि जाति को विशेष्य मानें तो साधर्म्यसमा भी कहसकते हैं, यद्यपि सहेतु में व्याप्ति अधिक होती है, तौ भी साधर्म्य (साधारणधर्म) दोनों में एकसा है, ऐसी तुल्यता जनाने के अर्थ सम शब्द दिया है। १॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्युपसंहारेनहर्म्मविपर्य्ययोपपत्तेःसाधर्म्यवैधर्म्यसमौ २॥

साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम का लक्षण इस सूत्रमें किया है, साधर्म्य (अन्वयव्याप्ति) से अथवा वैधर्म्य (व्यतिरेकव्याप्ति) से जब वादी ने साध्य का उपसंहार (साधन) किया, तब व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के केवल साधर्म्य (साधारणधर्म) अथवा वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) से साध्य के विपर्य्यय (अभाव) की उपपत्ति (सिद्धि) से प्रतिवादी के हेतु में साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम नामी जाति दोष लगते हैं; अर्थात् व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के केवल साधर्म्य से साध्याभाव की आपत्ति देनी, साधर्म्यसमा और व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के केवल वैधर्म्य से साध्याभाव की आपत्ति देनी, वैधर्म्यसमा जाति कहाती है; साधर्म्यसमा का उदाहरण यह है, किसीने कहा घट आदि कार्यों की नाईं शब्द भी जिस से कार्य है, इससे अनित्य है, इस

पर प्रतिवादी ने दोष दिया, अनित्य घट के साधर्म्य (साधारणधर्म) कार्यत्व से यदि शब्द में अनित्य की सिद्धि करो; तो नित्य आकाश के साधर्म्य (साधारण धर्म) अमूर्त्तत्व (स्थानपरिमाण के अभाव) से शब्द में नित्यत्व ही क्यों ना सिद्ध होजावे; अथवा कुछ विशेष निवेश करो, वैधर्म्य-समा का उदाहरण यह है, किसीने कहा आकाश आदि नित्य पदार्थों का वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) कार्यत्व शब्द में रहने से अनित्य होना है, कि शब्द आकाश आदि नित्यों से विरुद्ध (अनित्य) है, इस पर प्रतिवादी का यह कथन है कि नित्य आकाश के वैधर्म्य (कार्यत्व) से यदि शब्द अनित्य माना जावे; तो अनित्य घट के वैधर्म्य (अमूर्त्तत्व) से शब्द नित्य ही क्यों ना माना जावे; नहीं तो कुछ विशेष निवेश करो। इसमें प्रतिवादी का यह तात्पर्य है, कि केवल साधर्म्य (साधारणधर्म) अथवा वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) से ही पदार्थ की सिद्धि होती है, इन (साधर्म्यसमा और वैधर्म्यसमा) दोनों को सत्प्रतिपक्ष देशनाभास (मिथ्याविरुद्धपक्ष का प्रयोग) भी कहते हैं; और वार्त्तिककार इन दोनों को अनैकांतिक देशनाभास (अयथार्थ अभिचार का प्रयोग) कहता है; इन्होंने यौगिक अर्थ से अनैकांतिक पद का अर्थ सत्प्रतिपक्ष ही माना है, क्योंकि ये नञो नियम से साध्य की सिद्धि कर सकेंगे और न साध्याभाव की सिद्धि कर सकें। २।

गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः । ३॥

अब इन दोनों को असत् (दुष्ट) उत्तर बतानें में बीज दिखाते हैं; गोत्व जाति जिसमें रहे उस में जैसे गो शब्द का प्रयोग होता है, इसी रीति कार्यत्व हेतु से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि होती है; यह संप्रदाय वेत्ताओं का सिद्धांत है, वृत्तिकार का यह आशय है, गोत्व (गौसे इतर में जो नारहे और गौमें जो रहे, ऐसे सास्ना आदि धर्म) से तादात्म्य (अभेद संबंध) से गौ की अथवा समवाय संबंध से गोत्वजाति की सिद्धि जैसे होती है; इसी रीति कार्यत्व हेतु से अनित्यत्व की सिद्धि होती है; अर्थात् व्याप्ति पक्षधर्मता सहित हेतुसे ही साध्य की सिद्धि होती है, और व्याप्ति पक्षधर्मता रहित हेतु (साधर्म्य) से साध्य की सिद्धि अथवा इतर (वैधर्म्य) पक्ष का खंडन भी नहीं होसकता, नहीं तो दोष देनें में असमर्थ के साधर्म्य (प्रमेयत्व) से तुमारा कथन भी दोष नदेने के यह ही विशेष निवेश है। ३॥

इतिन्याय सूत्र वृत्ति में सत्प्रतिपक्ष प्रयोगाभास का ६० वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ॥ ❊ ॥ ❊ ॥

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः । ५ ॥

क्रम से यान उत्कर्षसम, अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम और साध्यसम, इन छे जातियों का वर्णन इस प्रकरण में करते हैं; उत्कर्ष (अवि

द्यमान धर्म के आरोप) के साथ सम (साध्यबुद्धि की तुल्यता) को उत्कर्षसम और अपकर्ष (वर्तमान धर्म की निवृत्ति) के साथ सम को अपकर्षसम कहते हैं; वर्ण्यत्व (साध्यसंदेह) के साथ सम को वर्ण्यसम और अवर्ण्य (साध्यसंदेहाभाव) के साथसम को अवर्ण्यसम कहते हैं; विकल्प (अभिचार और व्याप्ति) की समता से विकल्पसम और साध्य (प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों से सिद्ध करने के योग्य) के साथ हेतु आदि की समता से साध्यसम होता है, साध्य (पक्ष) से आदि की पांच जातियां प्रगट होती हैं, साध्य और हेतु दोनों में पांच अवयवों से सिद्ध करने की योग्यता हो, तो छठी जाति प्रगट होती है; अर्थात् व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के पक्ष और दृष्टांतों में से किसी एक में साध्य के अथवा हेतु के होने से अविद्यमान धर्म की आपत्ति देनी, उत्कर्षसम जाति होती है; जैसे किसी ने कहा, घट आदि की नाईं कार्य होने से शब्द अनित्य है; इस पर जातिवादी ने कहा, कि तुमारे साध्य (अनित्यत्व) और हेतु (कार्यत्व) दोनों ही रूप के साथ एक अधिकरण (घट) में रहते हैं, इसलिये सहवासी अनित्यत्व और कार्यत्व के रहने से शब्द में रूप भी अवश्य रहे; वक्ता की इच्छा (अनित्यत्व सिद्ध करने की इच्छा) से विरुद्ध (रूप) की सिद्धि करने से यह विशेष विरुद्ध हेतु है; इससे उत्कर्षसम जाति को विरुद्ध देशनाभासा (मिथ्या विरुद्ध हेतु का प्रयोग) कहते हैं; इसी रीति

यह भी उत्कर्षसमा का उदाहरण है, कि शब्द का साधर्म्य (साधारणधर्म) कार्यत्व घट में भी रहने से शब्दकी नाईं घट कभी श्रोत्र इंद्रिय से प्रत्यक्ष होवे, सिद्धांत यह है कि श्रोत्र से घट के प्रत्यक्ष की आपत्ति देनी, अर्थांतर नामी निग्रहस्थान में आजावेगी; इस से उत्कर्षसमा के लक्षण में दृष्टांत पर और साध्यपद नहीं देना, अपकर्षसमा में तो साध्य सहचारी धर्म के विकल्प (न होने) से साध्य अथवा हेतु के अभाव की आपत्ति दीजाती है; आत्मि की अपेक्षा त्याग के किसी एक सहचारी धर्म के न होने से पक्ष में अथवा दृष्टांत में साध्य और हेतु इन दोनों में से किसी एक के अभाव की आपत्ति देनी अपकर्षसमा कहाती है; जैसे किसी ने कहा घट आदि अनित्य कार्यों की नाईं शब्द भी कार्य होने से अनित्य है; इस पर जातिवादी ने कहा; यदि अनित्य घट के साधर्म्य कार्यत्व से शब्द अनित्य माना जावे; तो कार्यत्व और अनित्यत्व के सहचारी घटके साधर्म्य रूप की आपत्ति (न रहने) से शब्द में कार्यत्व और अनित्यत्व भी नारहे; आदि में स्वरूपा सिद्धि देशना (स्वरूपासिद्धि) और अंत में बाध देशना (बाध) का प्रयोग जानना; इसीरीति शब्द में कार्यत्व के सहचारी श्रावणत्व (श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष की विषयता) का अभाव रहने से, संयोग में अनित्यत्व और कार्यत्व के सहचारी गुणत्व का अभाव रहने से घट में अनित्यत्व और कार्यत्व का अभाव भी अवश्य रहे; इसी

न में साध्य और हेतु के अभाव की आपत्ति देने से बाधाभास अथवा असिद्धाभास यह भी जानना; और जो कोई अपकर्षसमा का यह उदाहरण देते हैं, कि जिससे शब्द में रूप नहीं है, इसीसे घट में रूप ना रहे; परंतु घटमें रूपाभाव की आपत्ति देनी अर्थांतर नामी निग्रहस्थान में आजाने से यह उदाहरण योग्य नहीं है; और जो कोई वैधर्म्यसमा को भी अपकर्षसमा में मिलाते हैं, वह भी असंगत जानना; क्योंकि वैधर्म्यसमा में तो विरुद्ध धर्म के द्वारा साध्याभाव की आपत्ति देते हैं, और अपकर्षसमा में सद्धर्म के अभाव से साध्याभाव की अथवा हेत्वभाव की आपत्ति देते हैं; इस दूषकता बीज के भेद से भेद जानना, वर्ण्यसमा में साध्य (जिसमें साध्य का निश्चय ना हो, अथवा जिसमें साध्यका संदेह हो ऐसे पक्ष) के धर्म (साध्य संदेह युक्त पक्ष में वर्तमान हेतु) के विकल्प (होने) से दृष्टांत में भी साध्य के संदेह की आपत्ति देते हैं; अर्थात् पक्षमें वर्तमान हेतु ही गमक (अनुमिति का कारण) होता है, परंतु पक्ष में साध्य का संदेह होता है; और पक्ष (साध्यसंदेहयुक्त) में वर्तमान हेतु जबै दृष्टांत में भी अवश्यमान ना पड़ेगा; अर्थात् हेतु के आश्रय पक्षकी नाईं हेतु के आश्रय दृष्टांत में भी साध्य का संदेह होने से दृष्टांत भी एक पक्ष ही होजावेगा; सपक्ष (निश्चित साध्यवान्) कोई ना मिलने से सपक्ष सत्तिव का निश्चय ना होने पर यह हेतु असाधारण होजावेगा; इस

(वर्ण्यसमा) को असाधारण देशनाभासा (मिथ्या असाधारण का प्रयोग) कहते हैं; और यदि पक्षधर्मि हेतु दृष्टांत में ना माना जावे, तो दृष्टांत (सपक्ष) में हेतु का अभाव रहने से स्वरूपासिद्धि दोष लगेगा, यह जातिवादी का अभिप्राय जानना; अवर्ण्यसमा में तो निश्चय से साध्य के आश्रय दृष्टांत में वर्त्तमान हेतु के रहने से पक्ष में भी साध्य के निश्चय की आपत्ति दी जाती है; इस में जातिवादी का यह अभिप्राय है, कि जैसा हेतु दृष्टांत में है, वैसा ही हेतु यदि पक्ष में रहे, तो पक्षसिद्धि का कारण होता है; इस से दृष्टांत में जब साध्य निश्चय के साथ हेतु वर्त्तमान है, तो पक्ष में भी हेतु के साथ साध्य का निश्चय अवश्य होना योग्य है; और हेतु यदि पक्ष में नामानाजावे, तो पक्ष में हेतु का अभाव रहने से स्वरूपासिद्धि दोष लगेगा; इस से वह (साध्य के निश्चय का सहचारी) हेतु पक्ष में अवश्य मानना पड़ेगा; इसलिये पक्ष (साध्यसे दृष्टकाख्यान) कोई ना मिलने से पक्षासिद्धि दोष लगेगा; अर्थात् अवर्ण्यसमा को असिद्धि देशनाभासा (मिथ्या आश्रयासिद्धि का प्रयोग) कहते हैं; विकल्पसमा में तो पक्ष और दृष्टांत में वर्त्तमान धर्म का विकल्प (व्यभिचार) देके अथवा किसी अन्यधर्म का व्यभिचार देके दोष देते हैं, व्यभिचार भी हेतु का किसी अन्यधर्म के साथ, अथवा किसी अन्यधर्म का साध्य के साथ, अथवा किसी एक धर्म का अन्यधर्म के साथ लेते हैं;

अर्थात् किसी एक धर्म का कहीं अभिचार देख के सब धर्मों को एक भांति के मानने से हेतु में साध्य के अभिचार की आपत्ति देनी विकल्पसमा जाति होती है; जैसे किसी ने कहा, अनित्य कार्य घट आदि की नाईं शब्द भी कार्य होने से अनित्य है, इसपर जाति वादी ने कहा; कि कार्यत्व हेतु गुरुत्व का अभिचारी (गुरुत्व शून्य वायु आदिमें वर्त्तमान) है; गुरुत्व भी अनित्यत्व का अभिचारी (नित्यपार्थिव परमाणु आदिमें वर्त्तमान) है; और अनित्यत्व भी मूर्त्तत्व का अभिचारी (मूर्त्तत्व से शून्यरूप आदि में वर्त्तमान) है; परन्तु कार्यत्व गुरुत्व आदि धर्म सब एकसेही होते हैं; इसलिये अनित्यत्व के अभिचारी गुरुत्व का अभिचारी होने से कार्यत्व हेतु अनित्यत्व साध्य का अभिचारी भी अवश्य है; इस अभिचार देशनाभासा (मिथ्याभिचार के प्रयोग) को विकल्पसमा जाति कहते हैं; पक्ष दृष्टांत आदि कों में साध्य के साथ (सिद्ध करने की योग्यता) की आपत्ति देनी साध्यसमा जाति कही है; इस में जातिवादी का यह अभिप्राय है, कि प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों से सिद्ध करने के योग्य पदार्थ ही अनुमिति के विषय होते हैं; इसलिये पक्ष भी अनुमिति का विषय होने से अवश्य अवयवों से सिद्ध करने के योग्य है; क्योंकि पक्ष का निश्चय यदि पहिले ही माना जावे, तो पांच अवयवों से सिद्ध करने के योग्य न होने से पक्ष अनुमिति का विषय न होवे; और यदि पक्ष का निश्चय पहिले नहीं है, तो पक्ष (आश्रय) का

ज्ञान न होने से आश्रयासिद्धि दोष लगेगा; इसी से साध्यसमा को आश्रयासिद्धि देशनाभासा (मिथ्या आश्रयासिद्धि का प्रयोग) कहते हैं; इस सूत्र का तात्पर्य यह है, उभय (पक्ष और दृष्टांत दोनों) के हेतु आदि धर्मोंसे साध्य (इन के अधीन अनुमिति से ग्रहण करने के योग्य होने से पक्ष आदि में साध्य की कल्पना देते हैं; क्योंकि लिंगोपधान मन में लिंग (हेतु) भी अनुमिति का विषय होता है; इसरीति हेतु भी जब साध्य के तुल्य हुआ, तो हेतु का आश्रय दृष्टांत भी साध्य के तुल्य होजावेगा; । ४ ॥

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः। ५ ॥

इन (जातियों) के असद होने में युक्ति दिखाते हैं, किसी एकसाधर्म्य (आश्रियत धर्मेता सदृश धर्म) से उपसंहार (साध्य) की सिद्धि होगई, तो वैधर्म्य (आश्रितधर्म से तमाम किया प्रतिषेध (खंडन) नहीं होसकता; नहीं तो असाधक पदार्थों के साधर्म्य (प्रमेयत्व आदि) से तमाम कहा हुवा भी अपने पक्ष की सिद्धि न करसके; उस में यह क्रम है, अनित्यत्व के आप्य कार्यत्व से शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि करते हैं; और कार्यत्व हेतु रूपका आप्य नहीं है, कि शब्द में कार्यत्व हेतु से रूप की आपत्ति देवें; इसीरीति अनित्यत्व रूप का आप्य नहीं है, कि शब्द में आपक (रूप) के अभाव (न होने) से आप्य (अनित्यत्व) के अभाव (नित्यत्व) की आपत्ति देवें ;

इसीरीति वर्ण्यसमा में भी किसी एक साधर्म्य (आप्तिवि शिष्टदेत्व) से साध्य की सिद्धि कहीं है, और वैसे (आप्ति विशिष्ट) हेतु के रहने से दृष्टांत कहा जाता है; ऐसा नहीं है, कि पक्ष में हेतु जितने विशेषण रखता है, उन सबों को साथ लेके दृष्टांत में हेतु रहे, तो दृष्टांत कहें, नहीं तो हमभी जो दृष्टांतीय (पक्ष) को दृष्टांत देके अपने मत (दृष्टांत में साध्य निश्चय के अभाव) की सिद्धि करने हो, वह भी न होवे; इसीरीति अवर्ण्यसमा में भी दृष्टांत में देखे आप्तिविशिष्ट हेतु को पक्ष में देख के साध्य की अनुमिति की जाती है; इस बात की आवश्यता नहीं है, कि दृष्टांत में हेतु जितने विशेषण रखता हो, उन सब को साथ लेकर पक्ष में रहे; और विकल्पसमा में भी प्रकृत (प्रसंग से प्राप्त) साध्य के आप्त प्रकृत (प्रसंगप्राप्त) हेतु से साध्य की सिद्धि करने पर किसी एक (प्रसंग से विना प्राप्त) धर्म को लेकर हमारा किया प्रतिषेध (खंडन) नहीं होसकता; अर्थात् किसी एक धर्म में अभिचार देके प्रकृत हेतु का खंडन करना सर्वथा असंगत है; क्योंकि जिस धर्म में अभिचार दोष लगेगा, वही धर्म दुष्ट होगा, और उस एक धर्म के अभिचार से सब धर्म दुष्ट नहीं होसकते; इसीभांति साध्यसमा में भी आप्तिविशिष्ट हेतु से पक्ष में साध्य की सिद्धि करते हैं; और पक्ष दृष्टांत आदि की सिद्धि नहीं करते हैं, यदि साध्य की नाईं पक्ष दृष्टांत आदि की भी सिद्धि की जावे, तो कोई पदार्थ भी अनुमान से सिद्ध नहीं होसकेगा;

अर्थात् तुमारा कहा दृषण भी नहीं सिद्ध हो सकेगा,।५।

साध्यनिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः। ६॥

वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा और साध्यसमा में और समाधान दिखाया है; साध्य के अनिदेश (निश्चय) से ही दृष्टांतता की सिद्धि होती है, पक्ष के संपूर्ण धर्म दृष्टांत में नहीं रह सकते, यदि पक्ष के सब धर्म दृष्टांत में हैं, तो पक्ष और दृष्टांत एकही होजावें, भिन्न भिन्न ना हों, इस से पक्ष में साध्य की समता का भी खंडन होगया; क्योंकि साध्य के अनिदेश (साधन) से दृष्टांतता (पक्षरूपता) की सिद्धि होती है, साध्य की नांई पक्ष की सिद्धि नहीं करते हैं, यदि पक्ष आदि की भी सिद्धि करने लगें, तो कोई पदार्थ भी अनुमान के द्वारा सिद्ध नहीं होसकेगा, अर्थात् सब अनुमानों का खंडन होजाने से तुमारा दिया दृषण भी नहीं सिद्ध होसकेगा,। ६॥

इति न्यायसूत्रस्थिति में छे जातियों के वर्णन का ६१ वां प्रकरण समाप्त हुआ॥ ❊॥ ❊॥

प्राप्यसाध्यमप्राप्यवाहेतोः प्राप्तेरविशिष्टत्वादप्राप्तेः साधकत्वाच्च प्राप्ताप्राप्तिसमौ। ७॥

क्रम से प्राप्त प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम का लक्षण करते हैं; साध्य को प्राप्त (साध्य के अधिकरण में वर्त्तमान) होके हेतु साध्य की सिद्धि (अनुमिति) को करता है; अथवा साध्य को प्राप्त होने से विना ही हेतु

अनुमिति को उत्पन्न करता है; पहिले पक्ष (एक आश्रय में इकट्ठे रहकर अनुमिति उपजाने) में दोष यह है, कि साध्य और हेतु एक आश्रय में जब इकट्ठे रहे, तो हेतु से साध्य की अनुमिति मानते हो, साध्य से हेतु की अनुमिति क्यों ना होजावे, क्योंकि पक्ष में रहना दोनों का तुल्य ही है। दूसरे (अप्राप्ति) पक्ष में यह दोष है, अप्राप्त (असंबद्ध) पदार्थ साधक नहीं होसकता, क्योंकि अप्राप्त हेतु यदि साधक माना जावे, तो साध्य की नाईं साध्याभाव के साथ भी हेतु की प्राप्ति (संबंध) के नहोने से साध्य की अनुमिति का क्या नियम है, किन्तु साध्याभाव की अनुमिति को ही उत्पन्न करे; यहां साधक शब्द से ज्ञापक (वस्तु के ज्ञान का कारण) और कारक (वस्तु की उत्पत्ति का कारण) दोनों लिये जाते हैं; इसी रीति कार्य कारणों में भी दोष जानना, अर्थात् कार्य के अधिकरण में वर्तमान हो के कारण यदि कार्य को उत्पन्न करे, तो एक आश्रय में इकट्ठे रहने से यह नियम ना रहे, कि कौन कारण और कौन कार्य है; कोई यह भी दोष देते हैं, कि एक आश्रय में इकट्ठे वर्तमान पदार्थों का कार्य कारण भाव नहीं होसकता, कि जल लोन और पानी की नाईं एक रूपता होजावेगी; सिद्धान्त यह प्रतीत हुआ, कि प्राप्ति (इकट्ठे रहने) से कार्य, कारण और ज्ञाप्य, ज्ञापक को तुल्यता की आपत्ति देकर दोष (विरोध) देना, प्राप्तिसमा जाति होती है, और अप्राप्ति (इकट्ठे न रहने) से साध्य की नाईं साध्या-

भाव की अनुमिति हो, अथवा दंड चक्र आदि सामग्री से घट की नाईं पट आदि भी उत्पन्न हों; क्योंकि उक्त सामग्री का जैसे घट से संबंध नहीं ऐसे ही पट आदि से भी संबंध नहीं है; इन आपत्तियों को अप्राप्तिसमा जाति (सिध्या विरुद्ध तर्क का प्रयोग) कहते हैं। ७ ॥

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्पीडने चाभिचारात्प्रतिषेधः। ८ ॥

इन (प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा) के अमत (दुष्ट) उत्तर होने में बीज (मूलयुक्ति) दिखाते हैं; कि दंड आदि कारण सामग्री से घट आदि कार्यों की निष्पत्ति (उत्पत्ति) देखने (सब लोगों में प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध होने) से और श्येन आदि यत्नों से शत्रु का पीड़न भी प्रत्यक्ष दीख पड़ने से सिद्ध होता है, कि तुमारा कहा प्रतिषेध (खंडन) किसी रीति भी नहीं हो सकता; क्योंकि घट आदि कार्यों की उत्पत्ति से प्रथम दंड आदि कारण घट आदि कार्यों से संबंध नहीं रखते, किन्तु उन (घट आदि कार्यों) के उपादान कारणों (कपालमृत्तिका आदि) के साथ संबंध रखते हैं; इसी से ही कपाल आदि (उपादान कारणों) में घट आदि कार्य समवाय संबंध से उत्पन्न होते हैं; और श्येन आदि यत्न भी उद्देशता संबंध से शत्रु में रहते हैं, इसलिये उन (शत्रुओं) में समवाय संबंध से पीड़ा (दुःख) उत्पन्न होती है; अर्थात् वेद में और लोगों में प्रमाणों के द्वारा सिद्ध कार्य कारण भाव का विनाही किसी दुष्ट युक्ति के आप खंडन करें, अथवा स्वीकार

ना करें, तो तुमारा कहा खंडन भी किसीरीति नहीं सिद्ध हो सकेगा; सिद्धांत यह है, कारण के आश्रय में कार्य उत्पन्न होता है, और कार्य कारण के परस्पर संबंध का कोई नियम नहीं है; । ८ ॥

इति न्यायसूत्र हानि में प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम नामी दो जातियों के वर्णन का ९२ वां प्रकरण समाप्त हुआ।

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात्तत्त्वव्यवस्था नाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टा नप्रसङ्गौ । ९ ॥

क्रम से प्रथम प्रसंगसमा और प्रतिदृष्टांतसमा जाति का लक्षण करते हैं; दृष्टांत (दृष्टांत में साध्यसिद्धि) के कारण (प्रमाण) के अनपदेश (नकथन) से दोष देना प्रसंगसमा जाति होती है; यद्यपि इस जाति (दूषण) उत्तर कहना योग्य नहीं है, क्योंकि दृष्टांत में साध्य के साधक प्रमाण का विरह (अभाव) होने से दोष यथार्थ ही लगता है, तो भी दृष्टांत में प्रमाण कहना, पुनः उस प्रमाण में भी प्रमाण कहने की अपेक्षा पड़ती है, इत्यादि अनवस्था से दोष देने का तात्पर्य है, जैसा कि आचार्यों (ग्रंथकारों) ने भी कहा है, अनवस्थाभास (मिथ्या अनवस्था) के प्रसंग (प्रयोग) को प्रसंगसमा जाति कहते हैं, इस मत में एक हेतु का साधक अन्य हेतु उसका साधक अन्य हेतु इत्यादि अनवस्था को भी प्रसंगसमा जाति कहते हैं, और पहिले मत में हेतु की अनवस्था को वस्तुमात्र आक्षेपिगण के अंतर्गत मान

ते हैं, इस प्रसंगसमा को अनवस्था हेत्वाभास (मिथ्या अनवस्था का प्रयोग) कहते हैं, प्रतिदृष्टांत (विरुद्ध दृष्टांत) से दोष देना प्रतिदृष्टांतसमा जाति होती है; अर्थात् व्याप्ति आदि की अपेक्षा त्याग के केवल विरुद्ध दृष्टांत से दोष देने का तात्पर्य है, इससे साधर्म्यसमा का कारण होगया, यदि घट के दृष्टांत से शब्द अनित्य कहो, तो आकाश के दृष्टांत से शब्द नित्य ही क्यों न होवे; इस रीति बाध अथवा अनुमिति के प्रतिबंध की आपत्ति दी है, हेतु तो अनुमिति का अंगही नहीं है, केवल दृष्टांत केवल से अनुमिति का अभिमान है, बाध अथवा अनुमिति का प्रतिबंध इन दोनों का मिथ्या प्रयोग इस जाति में होता है । ९ ॥

प्रतीपादान प्रसङ्गनिवृत्त्यनवस्थानि वृत्तिः । १० ॥

प्रसंगसमा में प्रयोजन (प्रवृत्ति का बीज) यह है, कि निदर्शन (वादी और प्रतिवादी इन दोनों का संमत) स्थान होने से साध्य का निश्चय करने के अर्थ दृष्टांत की अपेक्षा पड़ती है, और दृष्टांत में दृष्टांत उसमें अन्य दृष्टांत इत्यादि अनवस्थित (स्थिति रहित) परंपरा (धारा) का मानना, सबरीति लोक व्यवहार और युक्ति से विरुद्ध है, नहीं तो घट आदि के प्रत्यक्ष का कारण दीप, दीप के प्रत्यक्ष का कारण कोई अन्य इत्यादि अनवस्थित परंपरा (धारा) भी मानो, अर्थात् इसी रीति हेतुओं की परंपरा से कमारा (दोष का साधक)

हेतु भी ना सिद्ध होसके; । १० ॥

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वेचनाहेतुर्दृष्टान्तः ११।

प्रतिदृष्टांतसमा का प्रस्तार यह है, इसमें उत्तर का यह क्रम है, कि मेरे पक्ष का खंडन करने के अर्थ अथवा मेरे पक्ष से विरुद्ध पक्ष की सिद्धि के अर्थ तुम प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) को ग्रहण करते हो; आदि के अर्थ में प्रतिदृष्टांत (विरुद्धदृष्टांत) यदि आपने पक्ष की सिद्धि करना हो, तो हमारा पक्ष अपने आपमें बलवान् और हमारा पक्ष अपने स्थान में बलवान् होने से खंडन किसी पक्ष का भी नहीं होसकता, अर्थात् बाध दोष (मेरे पक्ष का खंडन) नहीं होसकता; इसी अर्थ में भी प्रतिदृष्टांत (विरुद्धदृष्टांत) से अपने (विरुद्ध) पक्ष की सिद्धि करने पर भी आप्तिविशिष्ट हेतु के संबंध से मेरा हेतु ही बलवान् होगा; वास्तव यह है कि हेतु के संबंध से विना केवल दृष्टांत से सत्प्रतिपक्ष की संभावना भी नहीं होसकती, क्योंकि साध्याभाव आप्य का ज्ञान नहीं हुआ; यदि साध्याभाव का आप्य हेतु लिया जावे, तो जाति नहीं किन्तु यथार्थ सत्प्रतिपक्ष जानना । ११ ॥

इतिन्याय सूत्र वृत्ति में प्रसंग सम और प्रतिदृष्टांत सम जाति का दशवां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ॥

प्राप्तिप्राप्योः कारणाभावादप्राप्तिसमः १२।

क्रम से प्राप्त अप्राप्तिसमका लक्षण करते हैं, साधन (साध्यसिद्धि) के अंगों (पक्षहेत्वादि) की उत्पत्ति

से पहिले कारण (हेतु आदि) का अभाव होनेसे दोष देना अनुत्पत्तिसमाजाति होती है; अर्थात् सिद्धि के अंग पक्ष हेतु दृष्टांतों की उत्पत्ति से पहिले इन (पक्ष आदिकों) में हेतु का अभाव है; इसरीति अनुत्पत्ति के द्वारा दोष देने को अनुत्पत्तिसमाजाति कहते हैं; जैसे किसीने कहा, कि पट की नांई घट में भी गंध होने से रूप अवश्य है; इस पर जाति वादी का यह आक्षेप है, घट की और गंध की उत्पत्ति से पहिले हेतु (गंध) का अभाव होने से स्वरूपा सिद्धि दोष लगता है; गंध की उत्पत्ति से पहिले पट में हेतु (गंध) का अभाव होने से दृष्टांता सिद्धि भी आती है; इसी रीति उत्पत्ति क्षण में घट (पक्ष) में रूप (साध्य) का अभाव रहने से बाध भी जानना; क्योंकि इस (बाध) में भी अनुत्पत्ति के द्वारा ही दोष दिया है; जिस से उत्पत्ति के पहिले हेतु आदि के अभाव से प्रत्यवस्थान (दोषदेने) को ही अनुत्पत्तिसमा जाति कहते हैं; उत्पत्ति कालिक घट में गंध की सिद्धि करने पर जो बाध दोष आता है, यद्यपि उसमें भी अनुत्पत्ति से ही दोष दिया जाता है; तो भी वह जाति (दुष्टउत्तर) नहीं है, इसलिये अनुत्पत्तिसमा के लक्षण में जाति पद का निवेश करने से अतिव्याप्ति का वारण होजाता है; इस (अनुत्पत्तिसमा) को असिद्धादि देशनाभासा (मिथ्या असिद्धि आदि का प्रयोग) कहते हैं । १२ ॥

तेषामाद्यादुत्पन्नस्यकारणोपपत्तेर्न विप्रतिषेधः । १३ ॥

इस (अनुत्पत्तिसमजाति) का उत्तर यह है, उत्पत्ति से अनेक पदार्थों की घट आदि सेत्ता होती है; जिन (सत्ताओं) से कार्य कारण भाव की कल्पना की जाती है, पुनःकारण का विप्रतिषेध (खंडन) आप कैसे करते हो; अर्थात् पक्ष में हेतु के अभाव को स्वरूपा सिद्धि कहते हैं; परन्तु उत्पत्ति से प्रथम आश्रय (पक्ष) के ना होने से पक्ष में हेतु का अभाव हो ही नहीं सकता; और पक्ष की अपेक्षा त्याग के केवल हेतु के अभाव को भी स्वरूपासिद्धि नहीं कह सकते; क्योंकि तुम्हारे हेतु का भी अभाव कहीं प्रसिद्ध होने से तुम्हारे अनुमान में भी स्वरूपा सिद्धि दोष होगा; इसी से दृष्टांत सिद्धि का भी उत्तर कह दिया, कि कभी एकवेर हेतु के होने से ही दृष्टांत कहाता है; सर्वदा हेतु का होना दृष्टांत में अपेक्षित नहीं है, इसी रीति कभी एकवेर पक्ष में रहने से ही साध्य का आप्त (साध्य से विना जो कहीं ना रहे) धर्म हेतु कहाता है; सर्वदा पक्ष में रहने की आवश्यकता कोई नहीं है; केवल इतनी आवश्यकता है, कि हेतु वह ही है, जो साध्य से शून्य देश में कभी ना रहे; पक्ष के साथ हेतु के सदा रहने का नियम कोई नहीं है ।। १३ ॥

इति न्याय सूत्र हरि में अनुत्पत्ति सम जाति के वर्णन का ६५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ६५ ॥

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वेऽनित्यसाधर्म्यात्संशयसमः। १४।

क्रमसे प्राप्त संशयसम का लक्षण करते हैं, नित्य और अनित्य का साधर्म्य (साधारण धर्म) संशय का कारण दिखाया है; लक्षण यह सिद्ध हुआ, कि साधारण धर्मज्ञान आदि संशय के कारणों में से किसी एक कारण की सामर्थ्य से संशय मान के दोष देने को संशय समा जाति कहते हैं; और सूत्र के शेष पद उदाहरण को दिखाते हैं, जैसे किसीने कहा, घट आदि अनित्य कार्यों की नाईं कार्य होने से शब्द भी अनित्य है; इस पर जाति वादी की यह आशंका है, सामान्य (गोत्व आदि) में और दृष्टांत (घट) में ऐंद्रियकत्व (इंद्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष की योग्यता) तुल्य है, तो कार्यत्व हेतुकी सामर्थ्य से शब्द में अनित्यत्व का निश्चय ही होने का क्या नियम है; किंतु नित्य (गोत्व आदि) और अनित्य (घट आदि) में वर्त्तमान ऐंद्रियकत्व की सामर्थ्य से अनित्यत्व का संदेह ही क्यों न हो जावे; इसी रीति असाधारण धर्म (परमाणु आदि नित्य और घट आदि अनित्यों में अवृत्ति) शब्दत्व के संबंध से भी शब्द में अनित्यत्व के संदेह की आपत्ति जाननी; अर्थात् हेतु के ज्ञान में अप्रामाण्य (भ्रमत्व) के संदेह से साध्य का संशय ही हो निश्चय न होवे; इसी से संशय समा को सन्नपि पक्ष देशनाभासा (मिथ्याविरुद्ध पक्ष का प्रयोग) कहते हैं; ॥ १४ ॥

साधर्म्यात्संशयेनसंशयोवैधर्म्यादुभय
थावासंशयोऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गोनित्य
वान भ्युपगमाच्चसामान्यस्याप्रतिषेधः ९५।

इसका उत्तर यह है, साधर्म्य (साधारणधर्म का ज्ञान) यदि संशय का कारण माना जावे, तो वैधर्म्य (विरुद्धधर्म के ज्ञान) से संशय कभी ना होवे; क्योंकि कारण नामी विशेष धर्म के ज्ञान के होने पर भी यदि संशय माना जावे, तो अत्यंत संशय का प्रसंग (आपत्ति) लगेगी, अर्थात् संशय का नाशक भी नहीं होगा, परन्तु नित्य संशय का अभ्युपगम (स्वीकार) किसी ग्रंथकार ने भी नहीं किया है; तात्पर्य यह है, कि साधारणधर्म के ज्ञान को नित्यसंशय का कारण किसी रीति भी नहीं मान सकते; जिससे नित्य पदार्थ का कारण मानना सर्वथा असंगत है; जो कभी संशय नित्य हो, तो कोटि देने भी दूसरे पक्ष का प्रतिषेध (खंडन) ना कर सके; कोई लोग इस सूत्र को इसरीति लगाते हैं, कि साधारण धर्म का ज्ञान यदि संशय का कारण मानाजावे, तो आकाश आदि नित्यों और घट आदि अनित्यों में वर्तमान साधारण धर्म प्रमेयत्व के ज्ञान से गोत्व आदि सामान्यों (जातियों) में भी नित्यत्व की सिद्धि ना हो, किंतु नित्यत्व की सिद्धि ना हो, किंतु नित्यत्व का संशय ही सर्वस्थान में होजावे, ९५।

इति न्यायसूत्र हानि में संशय समजाति के निरूपण का ६५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❁ ॥ ॥

उभयसाधर्म्योपपत्तिप्रक्रियासिद्धेःप्रकरणसमः ॥ ९६ ॥

क्रमसे प्राप्त प्रकरणसम का लक्षण करते हैं, उभयसाधर्म्य (अन्वयसद्भाव और व्यतिरेकसद्भाव) से प्रक्रिया (साध्य अथवा साध्याभाव) की सिद्धि होजाने से प्रकरणसम होता है; अर्थात् अग्नि आदि सामर्थ्य की अधिकता से आरोपित (अयथार्थ) प्रमाण के द्वारा बाध दोष की आपत्ति देनी प्रकरणसमजाति होती है, जैसे किसी ने कहा, कि अनित्य कार्य घट आदि की नाईं शब्द भी कार्य होने से अनित्य है; इस पराजितवादी ने कहा, कि श्रोत्र के द्वारा प्रत्यक्ष होने से शब्द नित्य है, यह बाध दोष हमारे अनुमान में आता है; प्रकरणसमा को बाध देशनाभासा (मिथ्याबाध का प्रयोग) कहते हैं। ९६ ॥

प्रतिपक्षहेतूपपत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ ९७ ॥

इसका उत्तर यह है, प्रतिपक्ष (विपरीत साध्य नित्यत्व के साधक) श्रावणत्व से प्रकरण (विरुद्धपक्ष) की सिद्धि मान के जो तुम मेरे पक्ष (शब्द में अनित्यत्व) का खंडन करने हो, वह सर्वथा अयुक्त है; क्योंकि प्रतिपक्ष (तुमारे पक्ष से विरुद्ध मेरा पक्ष) अग्नि आदि की अधिक सामर्थ्य पाकर पहिले ही सिद्ध होचुका है; अर्थात् पहिले श्रावणत्व से नित्यत्व की सिद्धि करके जो बाध तुम देते हो, वह नहीं

लग सकता; क्योंकि पहिले सिद्ध किया पदार्थ बलवान् नहीं होता है, अथवा कभी कार्यत्व से अनित्यत्व ही पहिले सिद्ध किया हो, तो हमारे पक्षका ही खंडन होजावे; । १७ ॥

इति न्याय सूत्र वृत्ति में प्रकरण समजाति के निरूपण का ६६ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ॥

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः। १८॥

क्रम से प्राप्त हेतुसम का लक्षण करते हैं, कार्य का वर्तमान काल, उत्पत्ति से पूर्व (भूत) काल, और कार्य के नाश से अनंतर (भविष्य) काल इन तीन कालोंमें से एक में भी कारणता नहीं आसकती; क्योंकि घटादि कार्यों के पूर्व (पहिले) वर्तमान होके दंड आदि कारण नहीं होसकते, उस (उत्पत्ति से पहिले) समय जब घट आदि कार्य ही नहीं हैं, तो किस के कारण दंड आदि होंगे; इसीरीति घट आदि कार्यों के उत्तर (नाशसे अनंतर) काल में वर्तमान होके भी दंड आदि कारण नहीं होसकते; क्योंकि नाश से अनंतर घट आदि कार्य ही जब नहीं हैं, तो किसके कारण दंड आदि होंगे, और वर्तमान काल में यह दोषहै, कार्य और कारण दोनों पशु के सींगों की नांई जब तुल्यकाल में वर्तमान हुए तो यह नियम नहीं होसकता, कि कौन किसका कारण हो; इसरीति तीनों कालों में संबंध के खंडन से हेतु के खंडन को अहेतु समाजाति कहते हैं, यहां हेतु का अर्थ कारण और बोधक दोनों जानने, इस (अहे-

नसम) को प्रतिहल तर्क देशनाभास (मिथ्यानिरूढ तर्क का प्रयोग) कहते हैं; । १८ ॥

नहेतनः साध्यसिद्धेरैकान्त्यसिद्धिः १९।

उत्तर यह है, हेतु से साध्य की सिद्धि तुमने मानी है; तो ऐकान्त्य (संबंध) के खंडन से हेतु का खंडन स्वयं आपसे होगा; । १९ ॥

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेधस्याप्रतिषेधः । २० ॥

केवल प्रतिषेधादि होने से ही कारण होते हैं, नहीं तो तुमारे हेतु (संबंध के खंडन) से तुमारा साध्य (हेतु का खंडन) भी ना सिद्ध होवे, इससे कहा है, कार्य कारण भाव का खंडन करो, तो प्रतिषेध (खंडन) की सिद्धि ना होने से प्रतिषेधरूप (हेतु) का खंडन कभी नहीं होगा । २० ॥

इति न्याय सूत्र हरि में अहेतु सम जाति के निरूपण का ९७ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❋ ॥

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः । २१ ॥

क्रम से प्राप्त अर्थापत्तिसम का लक्षण करते हैं, प्रतिपक्ष (विरुद्धपक्ष) की सिद्धि के अर्थ अर्थापत्ति के आभास (भ्रम) से दोष देना, अर्थापत्तिसम होता है, तात्पर्य यह है, कहे हुए पदार्थ से अनुक्त (बिना कहे) पदार्थ का आक्षेप करना, अर्थापत्ति कहाता है; जैसे किसीने कहा, कि शब्द अनित्य है, तो अर्थ

से सिद्ध हुआ, कि शब्द से भिन्न घट आदि सब पदार्थ नित्य हैं, इसलिये दृष्टांत (घट आदि) में साध्य (अनित्यत्व) के ना रहने से दृष्टांतासिद्धि और विरोध दोष लगता है, इसीरीति कार्यत्व हेतु से अनित्यत्व की सिद्धि की तो अर्थ से सिद्ध हुआ, कि किसी अन्य हेतु से नित्यत्व की सिद्धि करके बाध और सत्प्रति पक्ष दोष भी आते हैं, और अनुमान प्रमाण से शब्द में अनित्यत्व सिद्ध किया, तो यह बात अर्थ से प्रतीत हुई, कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से नित्यत्व सिद्ध करने से भी बाध दोष आता है, एक पदार्थ के विशेष विधान से शेष पदार्थों का निषेध मान के जाति वादी प्रहस्त हुआ है, सर्वदोष देशनाभास (सिद्धा सब दोषों का प्रयोग) इसे कहते हैं, ॥ २९ ॥

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्ति
रनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥३०॥

उत्तर यह है, कहे हुए पदार्थ से किसी एक बिन कहे पदार्थ का आक्षेप करो, तो बिन कही तुमारे पक्षकी हानि का भी आक्षेप होजावे, और यदि कहे पदार्थ के साधक बिनकहे पदार्थ का आक्षेप मानो, तो तुमारी अर्थापत्ति किसी पक्ष को भी ना सिद्ध करने से व्यर्थ है, क्योंकि अनित्यत्व की सिद्धि नहीं होसकती, एक पदार्थ के विशेष विधान से शेषों का निषेध भी तात्पर्य के अधीन कहीं होता है, सर्वस्थान में नहीं होता, क्योंकि घट नील है ऐसा कहने से

यह नहीं सिद्ध होसकता, कि जगत में अन्य कोई भी नील नहीं है। ५२ ॥

इति न्यायसूत्र वृत्ति में अर्थापत्तिसमजाति के निरूपण का ४९ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥

एकधर्मोपपत्तेरविशेषसर्वाविशेष प्रसङ्गसाध्यत्वोपपत्तेरविशेषसमः। ५३

क्रम से प्राप्त अविशेषसम का लक्षण करते हैं, एक धर्म (कार्यत्व) को शब्द और घट में मानने से यदि घट की नाईं शब्द को अनित्य मानो, तो सतों (पदार्थों) के भावों (प्रमेयत्व सत्ता आदि धर्मों) के रहने से सब पदार्थ एक से ही होजावें; एक से होने से यदि सब का अभेद मानो तो पक्ष, विपक्ष आदि भेद (विभाग) ना होवें; और यदि सब में एक जाति मानें, तो अजांतर (छोटी) जातियों का निषेध होजावे; सब पदार्थों को अनित्य मानें, तो जाति आदि नित्य पदार्थों का खंडन होजावे; अर्थात किसी एक पदार्थ में वर्त्तमान वाचत्व आदि साधारण धर्म के संबंध से सब पदार्थों में अभेद की अथवा सादृश्य की आपत्ति देना अविशेष समाजाति होती है; इसे अतिस्थूल तर्क देशनाभासा (मिथ्या विरुद्ध तर्क का प्रयोग) कहते हैं। ५३

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः। ५४ ॥

उत्तर यह है, किसी धर्म (कार्यत्व) में देने का धर्म (आश्रितादि) रहना है, और किसी धर्म (प्रमेयत्वा-

दि) में उक्त धर्म (व्याप्तिआदि) नहीं रहता; इसलिये व्याप्ति सहित कार्यत्व हेतु का व्याप्ति हीन प्रमेयत्व आदि से निषेध करना सर्वथा असंगत है; किंतु व्याप्ति और पक्ष धर्मता की सामर्थ्य से कार्यत्व हेतु ही अनित्यत्व की सिद्धि शब्द में करेगा, । २५ ॥

इति न्यायसूत्र वृत्ति में अविशेष समजाति के निरूपण का ६९ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❀ ॥

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः । २५॥

क्रम से प्राप्त उपपत्तिसम का लक्षण करते हैं, उभय (पक्ष और प्रतिपक्ष) के कारण (प्रमाण) की उपपत्ति (सिद्धि) से उपपत्तिसम होता है; अर्थात् व्याप्ति को अपेक्षा त्याग के वादी के पक्ष को ही दृष्टांत बनाकर किसी एक धर्म से अपने पक्ष की सिद्धि के द्वारा दोष देने को उपपत्तिसमा जाति कहते हैं; जैसे किसी ने कहा, कि अनित्य कार्य घट की नाईं शब्द भी कार्य होने से अनित्य है; इस पर जाति वादी ने कहा, कि तुमारे सप्रमाण पक्ष (शब्द अनित्य है) की नाईं मेरा कथन (शब्द नित्य है) भी पक्ष होने से प्रमाण है; तो बाध दोष लगा, इसी से उपपत्तिसम को बाध देशनाभासा (मिथ्या बाध का प्रयोग) कहते हैं, । २५ ॥

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः। २६।

इस का उत्तर यह है, यह तुमारा किया प्रतिषेध नहीं होसकता, क्योंकि मेरे पक्ष में साध्य (अनित्यत्व) के साधक प्रमाण को तुमने भी मान ही लिया है; अर्थो

न दृष्टांत बनाने से ही सिद्ध होगया, कि मेरे पक्ष को तुम ने प्रमाण मान लिया है; पुनः उसका खंडन करना सर्वथा सामर्थ्य से बाहर है, और यदि माने हुए पदार्थ का भी खंडन करो, तो यह का नियम है, कि बादी के पक्ष का ही खंडन करो; किन्तु माने हुए अपने पक्ष (मत) का ही खंडन करदो । २६ ॥

इति न्यायसूत्र हानि में उपपत्तिसम जाति के निरूपण का १७ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः । २७ ॥

क्रम से प्राप्त उपलब्धिसम का लक्षण करते हैं, निर्दिष्ट (बादी के कहे) कारण (हेतु) से शून्य देश में साध्य के उपलंभ (प्रत्यक्ष) से दोष देने को उपलब्धिसम कहते हैं; जैसे किसी ने कहा, कि धूम हेतु से प्रतीत होता है, पर्वत में अग्नि है, इसपर जातिवादी ने कहा, केवल धूम से ही पर्वत में अग्निमाननी असंगत है, क्योंकि आलोक (प्रकाश) हेतु से भी पर्वत में अग्नि की सिद्धि हम कर सकते हैं; इस से सिद्ध हुआ, कि धूम हेतु वह्नि की सिद्धि नहीं कर सकता, यह विरुद्ध तर्क है, और धूम हेतु से केवल वह्नि की सिद्धि माननी भी असंगत है, क्योंकि धूम हेतु से इन्धन आदि की सिद्धि भी होसकती है, इसी रीति केवल पर्वत में ही वह्नि की सिद्धि माननी भी असंगत है, क्योंकि महानस में भी वह्नि रहती है,

नहीं तो महानस दृष्टांत भी ना होसके; वैसेही वह्निसे शून्य भी करे पर्वत होने से बाध दोष भी आता है; इसे सिद्धसाधन आदि का प्रयोग कहते हैं । २७ ॥

कारणान्तरादपिनद्धर्म्मोपपत्तेरप्रतिषेधः २८

उत्तर यह है, कारणांतर (आलोक आदि अन्य हेतु) से साध्य (वह्नि) की उपपत्ति (सिद्धि) करने से धूम हेतु का खंडन नहीं होसकता; अर्थात् केवल धूम सेही वह्नि की सिद्धि जनाने के अर्थ अनुमान का प्रयोग नहीं किया, किन्तु सौरिग्यसाध्य की सिद्धि के अर्थ प्रयोग किया है; नहीं तो किसी अन्य हेतु के संभव से तुमारे कहे खंडन की सिद्धि भी ना होवे, । २८ ॥

इतिन्याय सूत्र वृत्ति में उपलब्धि सम जाति के निरूपण का ७१ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ॥

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ
नहियौनोपपन्नरनुपलब्धिसमः। २९।

क्रम से प्राप्त अनुपलब्धिसम का लक्षण करते हैं, यद्यपि दूसरे अध्याय में विस्तार पूर्वक दिवा के अनुपलब्धि का खंडन भी कर दिया है; तो भी अनुपलब्धि समाजाति वहां नहीं दिखाई, अब जाति के प्रसंगसे दिखाते हैं; उसमें यह क्रम है, कि नैयायिक लोग शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि करते हैं, युक्ति यह देते हैं, यदि शब्द नित्य हो, तो उच्चारण (बोलने) से पहिले भी अवश्य सुनने में आवे; क्योंकि घट आदि के आवरण भीत (कुड्य) आदि की नाईं शब्द का आवरण (रोक

ने का हेतु) भी कोई नहीं देखने में आता; इस पर जाति वादी का यह आक्षेप है, आवरण का प्रत्यक्ष न होने से यदि आवरण का अभाव (न होना) माना जावे; तो अनुपलब्धि (प्रत्यक्ष ना होने) का प्रत्यक्ष ना होने से आवरण की सिद्धि ही होजावे; सिद्ध हुआ कि शब्द नित्यही है; किसी आवरण के होने से सदा प्रत्यक्ष नहीं होता, यदि कहो कि एक अनुपलब्धि को अन्य अनुपलब्धि की अपेक्षा नहीं है; किन्तु अपने अभाव के प्रत्यक्ष में वह आपही कारण है, तो सहज में ही आवरण की सिद्धि होजाने से नित्यशब्द सिद्ध होजावेगा, और यदि अनुपलब्धि को अन्य अनुपलब्धि की अपेक्षा हो, तो अनवस्यादूषित ही है; इसरीति दोष देने को अनुपलब्धिसम कहते हैं, इसेही प्रतिकूल तर्क देषाभासा (मिथ्याविरुद्ध तर्क का प्रयोग) भी कहते हैं। २९ ॥

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ३०

उत्तर यह है, कि अनुपलब्धि की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) ना होने से आवरण की सिद्धि मानी है; यह असंगत है, क्योंकि उपलब्धि (ज्ञान) के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं; जिस का प्रत्यक्ष सहज में ही मन से होजाता है, तो अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) की उपलब्धि (प्रत्यक्ष) ही होगई, अनुपलब्धि माननी योग्य नहीं है; और अनुपलब्धि (ज्ञानाभाव) का विषय कोई नहीं होसकता, कि अनुपलब्धि का विषय अनुपलब्धि

कहसकें; इसमें क्या विरोध आता है, घट का विषय न होने से क्या घट से भिन्न घट होसकता है; और आवरणाभाव अनुपलब्धि का विषय है, यह भी तुम अपनी ओरसे कहो, मेरा यह तात्पर्य है कि अनुपलब्धि के सामर्थ्य से इंद्रिय आवरणाभाव को ग्रहण करते हैं; इसीसे अनुपलब्धि को प्रत्यक्ष की हेतु मानलेते हैं; सिद्ध हुआ कि अनुपलब्धि की अनुपलब्धि मानना सर्वथा असंगत है, नहीं तो तुमारे हेतु में भी दोष की अनुपलब्धि की अनुपलब्धि से दोषही जानना योग्य है । ३० ॥

ज्ञानविकल्पानांचभावाभाव
संवेदनादध्यात्मम् । ३१ ॥

यदि अनुपलब्धि अपनी सिद्धि को नहीं करसकती, तो अनुपलब्धि की सिद्धि किस से होगी, आत्मा में वर्तमान ज्ञान विशेषों के भाव और अभाव का मन से ही प्रत्यक्ष होता है, घट को प्रत्यक्ष से देखता हूं, इत्यादि प्रतीतियों से अनुपलब्धि का मन से ही प्रत्यक्ष जानना, ॥ ३१ ॥

इति न्यायसूत्र वृत्ति में अनुपलब्धि समजाति के निरूपण का १२ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❊ ॥

साधर्म्योपलब्धर्म्योपपत्तेः संशयनिवृत्तिप्रसङ्गादनित्यसमः । ३२ ॥

क्रम से प्राप्त अनित्यसम का लक्षण करते हैं, यदि हेतु होन घट के साधर्म्य कार्यत्व से कल्पना किया के

शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि की जावे; तो सत्ता प्रमेयत्व आदि साधारण धर्म के संबंध से जगत के संपूर्ण पदार्थों में अनित्यत्व की सिद्धि होजावे; सब में अनित्यत्व की सिद्धि करने से व्यतिरेकव्याप्ति का ज्ञान कहीं भी न होनेसे अनुमान का खंडन करने से ही इष्ट सिद्धि मानी है; क्योंकि तादी ने केवल अन्वय व्यतिरेकी को ही अनुमान माना है; इसी से अव्योमा दोष का भी संकर नहीं हो सकता, अर्थात् व्याप्ति की अपेक्षा त्याग के दृष्टांत के किसी एक साधर्म्य से सब पदार्थों में साध्य की आपत्ति देने को अनित्य समा जाति कहते हैं; अविशेष समा में तो सब पदार्थों में सादृश्य दिया जाता है, और इस (अनित्यसमा) में साध्य (अनित्यत्व) की आपत्ति सब पदार्थों में देते हैं; इतना भेद है; और जो अनित्यत्व की समता (आपत्ति) देनी अनित्य समा है, यह अक्षरोंसे ही लक्षण निकालते हैं; यह असंगत जानना, क्योंकि पर्वतो वह्निमान्धूमात्तदानसवत् इस अनुमान में महानसदृष्टांत के साधर्म्य प्रमेयत्व के संबंध से सब पदार्थों में वह्नि की आपत्ति भी एक दूषक जाति होवे, आचार्य कहते हैं, कि आकाश के वैधर्म्य कार्यत्व से शब्द की नाईं आकाश के वैधर्म्य आकाश भेद से सभी अनित्य हैं; यह भी अनित्य समा जाननी, इतना भेद है, कि सब को नहीं किन्तु आत्मा आदि में अनित्यत्व की आपत्ति देनी है; इससे अव्योमादोष भी लगेगा, ऐसे मिथ्याविरुद्ध तर्क का प्रयोग करते हैं। २५॥

साधर्म्यादपि हेतोः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च । ३३ ॥

उत्तर यह है, यदि किसी एक धर्म से सब पदार्थों में साध्य की आपत्ति देने रूप तुम ने साधर्म्य से कार्य की सिद्धि का खंडन किया है, तो प्रतिषेध्य (खंडन करने के योग्य) मेरे हेतु (कार्यत्व) के साधर्म्य से यह तुम हमारा किया खंडन भी ना सिद्ध होवे, तुम यह ही सिद्ध करने हो, कि सत्ता आदि की नाईं दृष्टांत (घट आदि) का साधर्म्य (साधारणधर्म) होने से कार्यत्व हेतु साध्य (अनित्यत्व) की सिद्धि का कारण नहीं होसकता, इस अनुमान में तुमारा हेतु (साधारण धर्म होना) खंडन करने के योग्य मेरे हेतु (कार्यत्व) और दृष्टांत सत्ता आदि में भी रहने से साधारण धर्म है, इस से यह भी किसी कार्य (खंडन) की सिद्धि नहीं करसकेगा, । ३३ ॥

दृष्टान्तेच साध्यसाधनभावेन प्रज्ञानसधर्मस्यदेतुत्वान्नयचोभयथाभावान्नाविशेषः । ३४ ॥

यदि कहो कि सब साधारण धर्म साधक नहीं हैं, किन्तु अग्निसहित साधारणधर्म साधक हैं, तो अग्निसहित होने से कार्यत्व हेतु साधक है, और अग्नि के ना होने से सत्ता आदि साधक नहीं हैं; इसी विशेषता को सूत्रकार दिखाते हैं, कि दृष्टांतमें अन्वय अग्नि और व्यतिरेक अग्नि के द्वारा यथार्थ

रूप से जाना हुआ हेतु ही साध्य की सिद्धि का कारण होता है; कार्यत्व हेतु में उक्त दोनों व्याप्ति पाई जाती हैं, और समा आदि में एक व्याप्ति भी नहीं आसकती, इससे कार्यत्व में समा आदि की समता देकर दोष देना सर्वथा असंगत है। २४ ॥

इतिन्याय सूत्र हानि में अनित्य सम जाति के निरूपण का ७२ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥

नित्यमनित्यभावादनित्येनित्यतोपपत्तेर्नित्यसमः। २५ ॥

क्रम से प्राप्त नित्यसम का लक्षण करते हैं, अनित्य पदार्थों में अनित्यत्व यदि नित्य (सदा) माना जावे; तो शब्द भी नित्य हो, इस आपत्ति को नित्यसमा जाति कहते हैं; तात्पर्य यह है, कि अनित्यत्व यदि सदा न माना जावे, तो उस समय अनित्यत्वाभाव के रहने से नित्यत्व अवश्य रहे; क्योंकि दंड के नहोने पर कोई पुरुष दंडी नहीं कहा सकता; इसीरीति जिस समय अनित्यत्व नहीं रहा, उस समय कार्य अनित्य नहीं कहा सकता, किन्तु नित्य ही कहावेगा; इससे अनित्य पदार्थों में अनित्यत्व नित्य (सदा) ही मानना योग्यहै, परन्तु आश्रय की नित्यता से विना धर्म का नित्य रहना असंभव है; इससे शब्द भी नित्य ही मानना पड़ेगा, अर्थात् बाध अथवा सत्प्रतिपक्ष दोष लगेगा, इसीसे नित्यसमा को (मिथ्याबाध का प्रयोग अथवा मिथ्या सत्प्रतिपक्ष का प्रयोग) कहते हैं; इसीरीति

अनित्यत्व आप यदि नित्य है, तो शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि कैसे करेगा, कभी एकवर्ण का क्रमेभा अन्य पदार्थ को नील नहीं कर सकता; और यदि अनित्यत्व अनित्य है, तो उस (अनित्यत्व) के नाश से पुनः नित्यत्व होना योग्य है, इसी क्रम से लक्षण भी नाना योग्य है, यह याज्ञिकों का मत है; सिद्धान्तक यह कथन है, कि अनित्यत्व यदि नित्य माना जावे, तो अनित्य पदार्थ भी नित्य होजावें, जैसे घट आदि को नाई कार्य होने से इच्छी कर्त्ता से जन्य है; इसमें अनित्य इच्छी का धर्म कर्त्तासे जन्यहोना यदि सदा इच्छीमें ना मानो, तो परमाणु में बाध है, और इस का नित्य (सदा) मानना विरुद्ध है, इसी से मिथ्या विरुद्ध का प्रयोग भी कहते हैं । ३५ ॥

प्रतिषेध्यो नित्यमनित्यभावादनित्येनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः । ३६ ॥

उत्तर यह है, प्रतिषेध्य (खंडन करने के योग्य) मेरे पक्ष (शब्द) में सदा ही अनित्यत्व रहता है, इस से शब्द अनित्य कहाता है, परन्तु ऐसा नहीं होसकता, कि शब्द में सदा अनित्यत्व रहने से अनित्यत्व नित्य होजावे, अथवा उस (अनित्यत्व) के ना रहने से शब्द ही नित्य होजावे, और नित्य पद का अर्थ यहां तीनों (भूत भविष्य और वर्त्तमान) कालों में वर्त्तमान नहीं करना, किन्तु उत्पत्ति से लेकर विनाश तक का समय नित्य पद से लेना, अर्थात् उत्पत्ति से लेकर विना-

शब्द शब्द में सदा ही अनित्यत्व रहता है, उनने समय के बीच बीच ऐसा कभी नहीं होता, कि शब्द में अनित्यत्व कभी ना रहे, जिससे शब्द को नित्य कहने लगें; इन हेतुओं से सिद्ध हुआ, तुमारा किया प्रतिषेध (खंडन) किसी रीति भी नहीं होसकता, कोई ग्रंथकार इन अक्षरों को ऐसे लगाते हैं, कि अनित्य (अनित्यत्वयुक्त) पदार्थ में जो आपने हेतु (कार्यत्व) का प्रतिषेध (खंडन) किया है, वह नहीं होसकता । २६ ॥

इति न्याय सूत्रहारि में नित्यसमजाति के निरूपण का ५४ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ * ॥

प्रयत्नकार्य्यानेकत्वात्कार्य्यसमः २७।

क्रमसे प्राप्तकार्यसम का लक्षण करते हैं, प्रयत्न के कार्य (संपादन करने के योग्य) अनेक (कई भांति के) होने से कार्यसम दोष आता है, अर्थात् किसी ने कहा, प्रयत्न से विना कभी ना उत्पन्न होने से सिद्ध है, कि शब्द अनित्य है; इस पर जाति वादी ने कहा, कि प्रयत्न से विना ना होना प्रयत्न के कार्य घट में भी पाया जाता है, और प्रयत्न से अनन्तर अनीत होने कालक आदि में भी पाया जाता है, परन्तु कालक आदि प्रयत्न से जन्य नहीं है, इसीरीति क्या शब्द भी प्रयत्न से जन्य नहीं है, अर्थात् सामान्यरीति से कहे हेतु का किसी अप्रसंग पदार्थ के खंडन से खंडन करना, कार्यसमा जाति है, मिथ्या असिद्ध का प्रयोग इसे कहते हैं, अथवा प्रयत्न के कार्यों का

ने नेरे (एक हमेका विरोध) देने के विरोध देने को कार्य समा कहते हैं; इसे आकृतिगण मान के सूत्र में जाकर ही जातियों का भी ग्रहण कर लेना; जैसे तेरे पक्ष में भी कोई ना कोई दोष अवश्य होगा, ऐसे दूसरे के वाक्य को प्राप्तीसमा जाति कहते हैं; और कार्य कारण की परस्पर अपेक्षा दिखाकर अनवस्था दोष देना, अनुपकारसमा जाति कहाती है; इत्यादि और भी ऊहा करके जान लेनी; । ३७ ॥

कार्य्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः । ३८ ॥

उत्तर यह है, कि वक्ता के प्रयत्न से शब्द में कार्यत्व का खंडन तब हो; यदि अनुपलब्धि (प्रत्यक्ष न होने) के कारण आवरण आदि कोई प्रत्यक्ष दीख पड़ें, परन्तु शब्द के आवरण आदि (रोकने वाले) कोई नहीं दीख पड़ते; जिनोंने जातियों को आकृतिगण माना है, वे ऐसा अर्थ करते हैं; कार्यों (जातियों) के बहुत आकार भेद होने में यह उत्तर है; तुमारा दोष देने का प्रयत्न खंडन ना कर सकने से निष्फल है; क्योंकि व्याप्ति आदि नियमों की अपेक्षा के त्याग देने से तुमारा वाक्य अपने पक्ष (मत) का ही खंडन कर देता है; पुनः पराये मत (शब्द में अनित्यत्व) का खंडन कैसे करेगा; । ३८ ॥

इति न्याय सूत्र इति में कार्यसमजाति के निरूपण का ७५ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ॥

ऐसा पीछे कह आये हैं, कि कथा (वाद आदि) में दोनों (वादी और विवादी) पक्षों को उचित है; यथार्थ उत्तरों के द्वारा अपने अपने पक्षों से दोषों का उद्धार करें, परन्तु दोनों पक्षों में यथार्थ उत्तर दों, तो पदार्थ के निश्चय और जय का होना असंभव के समान है; और यदि दोनों पक्षों में असत् (दुष्ट) उत्तर दी दिये जायें, तौभी दोनपक्षों के संयोग की नाईं अर्थ दी हैं, फल (तत्त्वनिश्चय अथवा जय) की सिद्धि कभी नहीं होगी; इस बात को प्रगट करने के अर्थ शिष्यों की बुद्धि बढ़ाने के लिये कथाभास (अयथार्थ कथा) के प्रकरण में उत्तरोत्तर छे मिथ्योत्तर दिखाये हैं ॥

प्रतिषेधोऽपि समानो दोषः । ३९॥

अभिचारी होने से प्रयत्नजन्यत्व हेतु शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि नहीं करा सकता, यह दोष जो तुमने दिया है, वह तुम्हारे हेतु प्रयत्नाभिव्यङ्ग्यत्व (प्रयत्न से प्रगट होने) में भी दोष तुल्य ही है; अथवा अभिचार दोष से असाधक बना के जो मेरे हेतु का खंडन किया है, वह प्रतिषेध (खंडन) भी अभिचारी होने से असाधक (अप्रमाण) है; क्योंकि वह (खंडन) सब को असाधक नहीं बना सकता, जिससे अपने आप को ही असाधक नहीं बनाता, ३९ ।

सर्वमेवम् ४० ।

यह मनाकरना (सेच्छासे आशंका की आज्ञा) कार्य

समा में दी है; इस संशय की निवृत्ति के अर्थ कहा है, सब जातियों में ऐसे ऐसे उत्तर हो सकते हैं; जैसे कि कार्य होने से शब्द अनित्य है, इस पर नित्य जो आकाश के साधर्म्य से शब्द नित्य हो, इस साधर्म्यसमा का उत्तर आकाश के साधर्म्य से यदि शब्द नित्य हो, तो आकाश की नाईं शब्द में परम महत्परिमाण रहे, यह उत्कर्षसमा है; इसी रीति और भी जाननी, यद्यपि यह क्रम वादपत्ती दिखा के पीछे से दिखाना योग्य था; तो भी विपत्ती साधिका स्थापन करने के अर्थ यहां ही दिखाया है, दोनों (वादी और विवादी) की अति अज्ञता जनाने के अर्थ वादपत्ती करी है; विपत्ती में भी यह कल्प ही है, तीन पक्षों में ही जब मध्यस्थ पर्यंत वो ज्योपेक्षण नामी निग्रहस्थान को प्राप्त करेगा, तो कथा (विचार) समाप्त होजावेगी, पुनः जेपक्ष कहांसे प्राप्त होंगे, इसका उत्तर यह है, कि सब्यों के ज्ञान की विचित्रता से ये प्राप्त होते हैं। ५०

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ५१

तुल्य सामर्थ्य के दो पदार्थों का परस्पर विरोध विप्रतिषेध कहाता है, प्रतिषेध (खंडन) के विप्रतिषेध (विरोध) में भी खंडन के समान ही दोष है; जैसे कि यत्न से विना कभी ना होसकने से घट आदि की नाईं शब्द अनित्य है, यह सिद्धांती का एक पक्ष है; प्रयत्न से विना नहोने के योग्य कील कादि

की नाई शब्द भी यत्न का कार्य नहीं है, तो कार्यसम (मिथ्याखरूपासिद्धि) दोष लगा, यह प्रतिवादी का २ य पक्ष है; दोनों पक्षों में व्यभिचार दोष तुल्य है, यह वादी (सिद्धांती) का ३ य पक्ष है; यह (तुल्य विरोध) ही विप्रतिषेध है, इस पर भी व्यभिचार अथवा कोई अन्य दोष देना, यह ४ थे पक्ष है; । ५२ ॥

प्रतिषेधे सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्र
तिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ५२

पांचवां पक्ष दिखाते हैं, कि दोष युक्त प्रतिषेध (द्वितीय) पक्ष को मान के अर्थात् दोष का उद्धार ना करके प्रतिषेध (२ य पक्ष) के विप्रतिषेध (खंडन) ३य पक्ष में तुल्य दोष देने से तुम (जातिवादी) मतानुज्ञा नामी निग्रहस्थान में आगये हो; अर्थात् दोषों का उद्धार नाकरने से प्रतीत हुआ, कि मेरा मत (वेदोष) तुमने मान लिये, इससे तुम पराजय हो, यह ५ वां पक्ष है । ५२ ॥

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे
हेतुनिर्देशोपपक्षदोषाभ्युपगमा
त्समानो दोष इति । ५३ ॥

छठा पक्ष दिखाते हैं, स्वपक्ष (सिद्धांती के १म पक्ष) पर प्रसन्न २ य पक्ष में दोष कोई भी ना देके अपने पक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) करने के अर्थ जो तुमने हेतु दिया है, कि दोनों पक्षों में व्यभिचार दोष तुल्य है; इसलिये तुमने भी मेरे मत १म (खंडन) पक्ष

का स्वीकार कर ही लिया, तो नय (सिद्धांत) भी मता-
दर्जा नामी निग्रहस्थान में आजाने से पराजय हुए;
यह ८ वां पक्ष है, इसरीति दो पक्षों के विचार में
दोनों असंगत कहते जाते हैं; इससे प्रयोजन कुछ
नहीं सिद्ध होसकता, और यदि सिद्धांती जाति वा-
दी को यथार्थ उत्तर देता जावे, तब ये छै पक्ष प्रह-
ण ही नहीं होसकते । ५२ ॥

इति न्यायसूत्र इति में कथाभास (मिथ्याविचार)
के निरूपण का ७८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥
इतिन्यायसूत्र इति में २ रे अध्याय का ९ म
आह्निक समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञा
विरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्त
रमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थं
मपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधि
कं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञान
मप्रतिभाविक्षेपो मतानुज्ञा पर्य्यु
नुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयो
गोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्र
हस्थानानि । २ ॥

अब निग्रहस्थानों के विशेष लक्षण किये हैं, यही इस आह्निक का प्रयोजन है, इस आह्निक में सात प्रकरण हैं, जिन में से आदि में प्रतिज्ञा और हेतु के आश्रित पांच निग्रहस्थानों के विशेष लक्षणों का प्रकरण है; अन्य प्रकरणों के नाम उन के स्थान पर लिखे जावेंगे, विशेष लक्षण करने की इच्छा से आदि में निग्रहस्थानों के विशेष विभाग दिखाये हैं; कि प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्य्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास, ये २२ बाईस निग्रहस्थान हैं, इस सूत्र में चकार पढने का यह तात्पर्य्य है, कि ये तो निग्रहस्थान हैं, परन्तु किसी योग से

अथवा शीघ्रता से वाणी का रुक जाना आदि निग्रहस्था
न नहीं कहावेंगे, यह प्राचीनों का सिद्धांत है; नवीन क
हते हैं, चकार से दृष्टांत में हेतु का न होना आदि भी वि
न कहे निग्रहस्थानों में गिन लेने । १ ॥

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञास्वदृष्टा
न्ते प्रतिज्ञाहानिः । २ ॥

अब क्रम से प्रतिज्ञाहानि आदि निग्रहस्थानों के विशे
ष लक्षण करने के अवसर में आदि में सब से प्रथम
निग्रहस्थान प्रतिज्ञा हानि का लक्षण किया है; कि
स (अपने) दृष्टांत (पक्ष) में प्रतिदृष्टांत (विरुद्धपक्ष)
के धर्म की अभ्यनुज्ञा (स्वीकार) को प्रतिज्ञाहानि कह
ते हैं, अर्थात् विशेष करके कहे मत को त्याग के अन्य
(विरुद्ध) मत के स्वीकार को प्रतिज्ञाहानि कहते हैं; सि
द्धांत तो विशेष करके आप नहीं कहा जाता, कि इसे अ
पसिद्धान्त से मिलावें, पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, साध्य और
किसी अन्य अंग की हानि के भेद से यह (प्रतिज्ञाहानि)
पाँच प्रकार की है, जैसे किसी ने कहा, कार्य होने से
शब्द अनित्य है, इस पर वादी यह शब्द है, इस अन्य-
भिचार केवल से किसीने बाध दोष दिया, तो उत्तर दे
ना कि हमने शब्द नहीं पक्ष किया, किन्तु घट पक्ष
किया है, इसी रीति उक्त अनुमान में पैंदियकत्व हेत
रखने से किसीने अभिचार दोष दिया, तो उत्तर देना,
कि कार्यत्व ही हेतु हो, और पर्वत में वह्नि की सिद्धि
करने के अर्थ लोह पिंड का दृष्टांत देने पर जो किसी-

ने दृष्टांत में स्वरूपादिदि दोष दिया, तो उत्तर देना कि महानसदी दृष्टान्त होवे, पर्वत में सिद्ध साधन का उत्तर देना कि इंधन (काष्ठ) ही साध्य होवे, विशेषण हानि को अन्य हानि कहते हैं, उक्त अनुमान में नील धूम देख करने से नील विशेषण को व्यर्थ कहा, तो उत्तर देना कि धूम ही देख होवे । २ ॥

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पा
न्नर्थनिर्देशःप्रतिज्ञान्तरम् । २ ॥

प्रतिज्ञान्तर का लक्षण करते हैं, प्रतिज्ञात (माने हुए) अर्थ का प्रतिषेध (खंडन) होजाने पर धर्म (अन्य विशेषण) के विकल्प (निवेश) से उसी (माने हुए) अर्थ का निर्देश (कथन) प्रतिज्ञान्तर होता है; अर्थात माने हुए अर्थ में जब किसीने कोई दोष दिया, तो उस दोष का उद्धार करने के अर्थ अन्य विशेषण देके उसी अर्थ को पुनः कहना, प्रतिज्ञान्तर होता है; इस से वादन शीघ्र करे पदार्थ में आपही दोष जान कर विलंब से भी कोई विशेषण दिया जावे, तो प्रतिज्ञान्तर नहीं कहावेगा, यहां प्रतिज्ञात अर्थ देख से भिन्न अर्थ को जनाता है, इस से उदाहरण में अथवा उपनय में अन्य विशेषण देना भी प्रतिज्ञान्तर में ही आजावेगा, पक्ष और साध्य में विशेषण के भेद से ये प्रत्येक प्रतिज्ञान्तर दो दो प्रकार के हैं; जैसे कि शब्द अनित्य है, इस पर किसी ने ध्वनि को नित्य मान के बाध दोष दिया, तो पक्ष (शब्द) में व-

र्णात्मक विशेषण देके उत्तर देना, कि वर्णात्मक शब्द ही पक्ष होवे, यह प्रकृत का उपयोगी होनेसे अर्थात्तर नहीं है; और पहिले कहे अर्थका त्यागना करने से प्रतिज्ञाहानि भी नहीं है; इसी रीति धूमोपयुक्त मलिन धूम देख कर पर्वतमें वह्नि की अनुमिति करनेसे किसीने दोष दिया, कि हेतु (धूम) में सधूम और मलिन विशेषण व्यर्थ हैं, तो उत्तर देना कहे अगर की आगसाध्य है; इसी रीति उदाहरण आदि में अन्य विशेषण देने से भी प्रतिज्ञान्तर जानना ॥ २ ॥

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ४।

प्रतिज्ञा विरोध का लक्षण करते हैं, इस सूत्र में प्रतिज्ञा और हेतु शब्द से कथा (विचार) में कहे वाक्य लेने; अर्थ यह हुआ, विचार के समय कहे हुए अपने दो वाक्यों के परस्पर विरोध को प्रतिज्ञाविरोध कहते हैं; यद्यपि स्थूणे के पर्वत में वह्नि की सिद्धि के समय पक्षासिद्धि, पर्वत में स्थूणे की वह्नि सिद्ध करने के समय साध्यासिद्धि और स्थूणे के धूम से वह्नि की सिद्धि करने के समय हेत्वसिद्धि आदि दोष भी लगते हैं; तो भी दोषों के भेद से एकता नहीं आसकती; और प्रतिज्ञाविरोध से विना अन्य दोष जहां कोई न आवे, वह यह है; धूम के देखने से प्रतीत होता है, कि पर्वत में अग्नि है; जहां २ धूम होता है, वहां वह्नि होती है इस उदाहरण में, पर्वतमें भी वह्नि नहीं है, इस उपनय में, और वैसे निगमन में

प्रतिज्ञाविरोध दोष दी जाता है; । ४ ॥

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं
प्रतिज्ञासंन्यासः । ५ ॥

प्रतिज्ञा संन्यास का लक्षण करते हैं, पक्ष (अपने मत) का प्रतिषेध (खंडन) हो करने के अर्थ माने हुए अर्थ के अपनयन (परित्याग) को प्रतिज्ञा संन्यास कहते हैं; यथा इंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होने से सिद्ध हुआ कि शब्द अनित्य है, इस अनुमान पर किसीने जाति में अभिचार दोष दिया, तो उसका उत्तर देना, कि हमने कब कहा है, शब्द अनित्य है । ५ ॥

अविशेषोक्ते हेतौ विशेषमिच्छतो
हेत्वन्तरम् । ६ ॥

हेत्वंतर का लक्षण करते हैं, पहिले कहे हुए हेतु (साधक) में प्रतिपक्षी के दिये दोषों का उद्धार करने के अर्थ उसी हेतु में अन्य विशेषण देना, अथवा इस हेतु को त्याग के अन्य हेतु कर लेना, इन दोनों को हेत्वंतर नामी निग्रहस्थान कहते हैं; अर्थात् प्रतिवादी के दिये हुए दोषों का उद्धार करने की इच्छा से पहिले सोहुत हेतुना वच्छेदक (हेतु के विशेषण) को त्याग के अन्य हेतुना वच्छेदक (विशेषण) से हेतु का कथन हेत्वंतर है, पहिले हेतु में अन्य विशेषण देने से ही हेत्वंतर प्राचीनों ने माना है; पहिले माने हुए हेतु अथवा उदाहरण लेने, जैसे किसी ने कहा, वायु की इंद्रिय से प्रत्यक्ष होने से

सिद्ध है, कि घट आदि की नाईं शब्द भी अनित्य है, इस पर जातिवादी ने सामान्य (जाति) में अभिचार दोष दिया, तो हेतुमें सामान्यवत्व विशेषण देना, अथवा हेतु में ऐसा विशेषण देके भी जिस जिस का बाहर की इंद्रिय से अत्यंत होना है, वे सब अनित्य हैं, इस उदाहरण में भी न्यूनता को दूर करने के अर्थ अन्य विशेषण देना, इसी रीति उपनय में अन्य विशेषण देना आदि देखेंना जानने । ६ ॥

इति न्याय सूत्र हानि में प्रतिज्ञा और हेतु के आश्रित प्रतिज्ञा हानि आदि पांच निग्रहस्थानों के निरूपण का ७ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् । ७ ॥

अर्थांतर का लक्षण करते हैं, प्रकृत (कार्यके अनुकूल) अर्थ की उपेक्षा (त्याग) करके असंबद्ध अर्थ का कथन अर्थांतर कहाता है, अर्थात् प्रकृत (कार्यकी सिद्धि) में जिस की कुछ भी अपेक्षा ना हो, विना प्रसंग के ऐसे पदार्थ का कथन अर्थांतर नामी निग्रहस्थान होता है, जैसे किसीने कहा कार्य होने से शब्द अनित्य है, इस पर कहना कि शब्द तो गुण है, और आकाश में रहता है । ७ ॥

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् । ८ ॥

निरर्थक का लक्षण करते हैं, शक्ति (अभिधा),

विरुद्ध (प्रबोन प्रमाणों से सिद्ध) लक्षण और शास्त्र की परिभाषाओं के द्वारा जो शब्द किसी अर्थ का भी बोध नहीं करा सकते; गजउदव इन शब्दों की नाईं ऐसे शब्दों के प्रयोग को निरर्थक नामी निग्रहस्थान कहते हैं; परन्तु जहां कोई संकेत ना हो, वहां ही इस की प्राप्ति है, क्योंकि जहां अपभ्रंश (व्याकरण से विरुद्ध) शब्दों से व्यवहार करने का संकेत हो, वहां अपभ्रंश शब्दों से ही व्यवहार होता है; शीघ्रता से चित्त का विभ्रम होजाने पर कोई निग्रहस्थान नहीं होता, यह पीछे कह दी आए हैं; यह (निरर्थक) प्रमाद से होता है। ८॥

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्य विज्ञातमविज्ञातार्थम् । ९ ॥

अविज्ञातार्थ का लक्षण करते हैं, प्रमाद से चित्त का चांचल्य दूर करने की कामना से वादी जिस अर्थ को तीन वार भी कहे, परन्तु एक ओर चित्त को स्थिर करके सुनने पर भी कोई सभासद विद्वान अथवा प्रतिवादी भी जिस अर्थ को ना जान सके; तो ऐसे अर्थ के कथन से वादी अविज्ञातार्थ नामी निग्रहस्थान में आके पराजित होजाता है; और इस (अविज्ञातार्थ) में शक्ति (अभिधा) के द्वारा पदार्थ का कथन होने से निरर्थक और अपार्थक से भेद आजाता है; अन्य पुरुषों की बुद्धि में पदार्थ के ना आने से मैं जीतजाऊंगा, इस भ्रम से पुरुष ऐसे वाक्य

कहनाहै, जिस किसी उपाय से जब दूसरे को जीतले ना है, तो ना समझने से अज्ञान नामी निग्रहस्थान ही प्रतिवादी पर लगा दो; सभासदों की बुद्धि में जो पदार्थ आजावे, और प्रतिवादी की बुद्धि में ना आवे, तब अज्ञान नामी निग्रहस्थान की प्राप्ति हो; नहीं तो हानि के समय अति दुर्बोध पदार्थ कहके सब कोई जीत जावे, यह (अविज्ञानार्थ) तीन रीति से प्रवृत्त होता है, केवल एक शास्त्र में प्रसिद्ध पदार्थों को लेकर जैसे बौद्धों के ५ स्कंध कहे हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द, चक्षु, रसना, घ्राण, त्वचा, और श्रोत्र इन्हें रूपस्कंध कहते हैं; सविकल्पक ज्ञान को संज्ञास्कंध, राग, द्वेष और अभिनिवेश को संस्कारस्कंध, सुख और दुःख को वेदनास्कंध, और निर्विकल्पक को ज्ञानस्कंध कहते हैं; दूसरे जो अर्थ जगत में और शास्त्र में कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, जैसे कि शिवजी की धजा देखने से प्रतीत होता है, कश्यप के पुत्र (वामन) के धैर्य का कारण यह मनुष्य महादेव के तुल्य नाम रखना है; तीसरे क्लिष्ट (अनेकार्थक) शब्दों के प्रयोग (उच्चारण) से जैसे श्येनो धावति और वडव शीघ्र कहने से भी अविज्ञानार्थ होता है, यह भाष्य की सम्मति है; यहां पहिला भेद नहीं आसकता, क्योंकि मध्यस्थ जब दो शास्त्र में अभिज्ञ हैं, तो दो शास्त्रों में अभिज्ञों का ही विचार होसकता है; तो भी जहां नैयायिक और मीमांसकों के विचार में

कोई एक चौदोंकी परिभाषा से बोले तो वह निग्रहीत (पराजित) होगा; और जहां एकने कहा, जिस परिभाषा से इच्छा हो कहो; वहां इस (अविज्ञातार्थ) निग्रहस्थान का तीनों में से कोई एक भेद भी नहीं आसकता; किन्तु पौर्वापर्य्य करने से वहां किसी वा किसी परिभाषा के अज्ञान से निग्रहीत हो जाता है।

पौर्वापर्य्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम्। १० ॥

क्रम से प्राप्त अपार्थक का लक्षण करते हैं; पौर्वापर्य्य (कार्यकारणभाव) के अयोग (नाहोसकने) से अप्रतिसंबद्ध (असंगत) अर्थ के कथन को अपार्थक नामी निग्रहस्थान कहते हैं; यद्यपि दस दाडिम, छे पूड़े, कुंड, अजा, चर्म इत्यादि निराकांक्ष वाक्यों में भी अवांतर वाक्यार्थबोध होते ही हैं; इस से अव्याप्ति और निरर्थक में अतिव्याप्ति दोष लगता है, तो भी अभिलषित वाक्यार्थ बोध के अनुकूल आकांक्षा, योग्यता आदि से रहित शाब्दबोध के कारण पद का उच्चारण अपार्थक नामी निग्रहस्थान होता है, अविज्ञातार्थ में तो मध्यस्थ और प्रतिवादी को बोध नाभी हो, परन्तु वादी को बोध होता ही है; इस से अविज्ञातार्थ आदि में अतिव्याप्ति नहीं लगी, शाब्दबोध के कारण योग्यता ज्ञान, आकांक्षा ज्ञान आदि की सामग्री (समूह) जिस वाक्य में ना होवे, वह वाक्य इस अपार्थक का उदाहरण जानना, । १० ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में अभिलषित वाक्यार्थ बोध के प्रतिबंधक चार निग्रहस्थानों के निरूपण का ५८ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

अवयव विपर्य्यासवचनमप्राप्तकालम् । ९९ ॥

क्रम से प्राप्त अप्राप्त काल का लक्षण करते हैं, अवयव (कथा के एकभाग) का विपर्यास (विपरीतता) से वचन (कथन) अप्राप्तकाल है; अर्थात् संकेत से माने रूप कथा के क्रम को त्याग के विपरीत (विरुद्ध) क्रम से कथा के किसी अवयव (खंड) का कथन अप्राप्त काल निग्रहस्थान होता है; इसका यह क्रम है, कि वादी भलीभांति अपने पक्ष की सिद्धि करके सामान्य रूप से हेत्वाभासों का उद्धार करेगा; यह १ म पक्ष है, इस पर प्रतिवादी ने दोष देने यह २ य पक्ष है; और अपने पक्ष की सिद्धि करके उस में से हेत्वाभासों का उद्धार करना यह प्रतिवादी (विरोधी) का ३ य पक्ष है; इस की जय और इस की हानि हुई यह जय पराजय की व्यवस्था बांधनी ४ र्थ पक्ष है; इसीरीति प्रतिज्ञा आदि पांच अवयव जिस क्रम से सूत्रकार ने कहे हैं, सभा के भय से अथवा किसी अन्य क्रम से उन अवयवों को आगे पीछे करके कह देना अप्राप्त काल नामी निग्रहस्थान कहाता है; सूत्रों का अर्थ यह है, अन्य पदार्थ के अवसर में अन्यपदार्थ का कथन अप्राप्त काल है । ९९ ॥

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेनन्यूनम् ९२

न्यून का लक्षण करते हैं, अपने शास्त्र में निश्चित अवयवों में से अन्यतम (किसी एक) अवयव से हीन कहा में न्यून नामी निग्रहस्थान होता है; बौद्ध शास्त्र में दो ही अवयव माने हैं, इस से बौद्धों को दो अवयवों के कहने पर भी कोई न्यूनता नहीं है; यदि कोई कहे, कि अवयव हीन कहने से प्रतीत होता है, कि अवयवों का सामान्य निषेध होने से न्यून होता है; तो अकथन (अनुभाषण) ही कहे; उस से सूत्र में अन्यतम पद दिया है, अर्थात् किसी एक अवयव को त्याग के अन्य अवयवों का कथन न्यून है; इसे अपसिद्धान्त भी नहीं कह सकते, क्योंकि सिद्धान्त से विरुद्ध कुछ नहीं कहा, किन्तु समा के लोभ से कहा नहीं गया; । ९२ ॥

हेत्वुदाहरणाधिकमाधिकम् । ९३ ॥

अधिक का लक्षण करते हैं, किसी प्रयोजन से कहे हुए हेतु, उदाहरण, दोष आदि को विना प्रयोजन के पुनः कहना अधिक नामी निग्रहस्थान है; अनुवाद में पुनः कथन अर्थ नहीं होता, प्रतिज्ञा का पुनः कथन पुनरुक्त होता है, महानस की नाईं, चत्वर की नाईं धूम से, आलोक से पर्वत में आग है; विना संकेत के दहना के भ्रम से कहे हेतु आदि अधिक हैं; महानस की नाईं महानस पद अधिक नहीं किन्तु पुनरुक्त है । ९३ ॥

इति न्यायसूत्र इति में अपने सिद्धांत के अनुकूल मिथ्या प्रयोग ३ तीन निग्रहस्थानों के निरूपण का वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

शब्दार्थयोः पुनर्वचने पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् । १४ ॥

पुनरुक्त का लक्षण करते हैं, अनुवाद से विना शब्द और अर्थ का पुनः कथन पुनरुक्त है, अनुवाद में किसी प्रयोजन से पुनः कथन होता है, और इस (पुनरुक्त) में अर्थ पुनः कथन होता है, इतना भेद है; शब्दार्थयोः इस द्विवचन से प्रतीत हुआ, कि शब्द पुनरुक्त और अर्थपुनरुक्त इसरीति पुनरुक्त दो प्रकार का है; अर्थात् एक शब्द से कहे अर्थ को उसी शब्द से अर्थ पुनः कहना शब्द पुनरुक्त है; और एक शब्द से कहे अर्थ को किसी अन्य शब्द से अर्थ पुनः करना अर्थ पुनरुक्त है; यथा घटः घट शब्द पुनरुक्त और घटः कलसः यह अर्थ पुनरुक्त है, प्रमाद आदि दोषों से इस की प्रवृत्ति होती है; । १४॥

अनुवादेत्वपुनरुक्तंशब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः । १५ ॥

पुनरुक्त का अनुवाद से भेद दिखाते हैं, अनुवाद में तो विशेष अर्थ के ज्ञान का कारण होने से पुनः कथन अर्थ नहीं होसकता; । १५ ॥

अर्थादापन्नस्यस्वशब्देन पुनर्वचनम् १६।

पुनरुक्त का अन्य भेद दिखाते हैं; जिस शब्द के का

हने से जिस अर्थ की स्वाभाविक प्रतीति हो, उस अर्थ का पुनः कथन अर्थपुनरुक्त कहा जाता है; जैसे वह्नि उष्ण है, यहां उष्ण (वह्नि) से ही उष्णता का बोध होजाने से उष्ण कहना व्यर्थ है, ऐसे ही उष्ण वह्नि यहां उष्ण (वह्नि) पद से ही आक्षेप होगा, पुनः उष्ण पद व्यर्थ है, वैसे घर में है यहां बाहर न होने का आक्षेप है, वैसे घर में नहीं है, यहां बाहर होने का आक्षेप है; ये तीन भेद पुनरुक्त के भाष्य में भी लिखे हैं, कोई कहते हैं, कि शब्द पुनरुक्त दो प्रकार के हैं, उसी शब्द से और पर्याय से पुनः कथन और सब अर्थ पुनरुक्त हैं; । १५ ॥

इति न्यायसूत्रटीका में पुनरुक्त नामी निग्रहस्थान के निरूपण का ८० वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

विज्ञातस्यपरिषदात्रिरभिहितस्या प्यप्रतिष्ठारणमननुभाषणम् । १६ ॥

अननुभाषण का लक्षण करते हैं, परिषत् (सभा) ने जिस अर्थ को भली भांति विशेष रूप से जान लिया है; और वादी ने जो अर्थ तीन बार कह दिया है, पुनः प्रतिवादी सुन के भी मौन धारण करे, कुछ भी न बोले तो अननुभाषण नामी निग्रहस्थान में आके प्रतिवादी पराजित होजाता है; इस से यह भी जनाया, कि एक बार कहने से जो अर्थ प्रतिवादी की बुद्धि में न आवे, तो वह अर्थ तीनवार

अवश्य कहना योग्य है; इस में प्राचीन आचार्यों का यह आशय है, कि अज्ञान और विक्षेप में अतिव्याप्ति दूर करने के अर्थ जो अज्ञान को नहीं प्रकाश करना और छल आदि से जिसने कथा में विक्षेप (विघ्न) नहीं पाया, ऐसा अतिवादी तीनवार सूत्र के मौन धारण करने से निग्रहीत होता है; उत्तर ज्ञान के भी मौन करने से अननुभाषण होता है, इससे अप्रतिभा में अतिव्याप्ति नहीं लगती; यह (अननुभाषण) चार रीति से ग्रहण होता है; १म एक देश का अनुवाद करने से, २य विरुद्ध अनुवाद करने से, ३य केवल दोष देने से और ४थे मौन धारण करने से, आचार्य कहते हैं, ५म से वे नाम शब्दों के द्वारा अनुवाद करने से, जहां अज्ञान अप्रतिभा और अननुभाषण तीनों रूप प्रतीत हों, वहां जो एक निश्चित हो, उसे प्रकाश कर देना; ॥ १७ ॥

अविज्ञानेचाज्ञानम् । १८ ॥

अज्ञान का लक्षण करते हैं, जिस अर्थ को परिषत् (सभा) ने भलीभांति विशेष रूप से जान लिया और वादीने दृढ़ निश्चय कराने के अर्थ जिसे तीनवार कह दिया; उस अर्थ के न जानने को अज्ञान कहते हैं; इस सूत्र में सभा करके ज्ञान इत्यादि अर्थों को जनाने के अर्थ चकार पढ़ा है; क्या करने से हमने तो कुछ नहीं समझा, ऐसे २ वाक्य सूत्र के इस (अ-

ज्ञान) को जान सकते हैं; । १८ ॥

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा । १९ ॥

क्रम से प्राप्त अप्रतिभा का लक्षण करते हैं, उत्तर देने के योग्य वादी के कहे पदार्थ को भलीभांति जान के भी उत्तर के समय जहां उत्तर ना दियाजावे, वहां अप्रतिभा नामी निग्रहस्थान होता है; और इसे अननुभाषण में भी नहीं लासकते, क्योंकि जहां वादी के कहे पदार्थ का अनुवाद भी ना कियाजावे, केवल मौन ही करलिया जावे, वहां अननुभाषण होता है; जहां भली भांति अनुवाद करके भी उत्तर ना दियाजावे, वहां अप्रतिभा नामी निग्रहस्थान होताहै; उत्तर ना देके अपनी प्रशंसा के अर्थ पढ़े श्लोक आदि से मनुष्य इस (अप्रतिभा) को जान सकता है; अर्थात समय पर सहज उत्तर का ना फुरना अप्रतिभा है। १९ ॥

कार्य्यव्यासङ्गतःकथाविच्छेदोविक्षेपः २०।

क्रम से प्राप्त विक्षेप का लक्षण करते हैं, कथा (चर्चा) के समय अन्य समय में ना होने के योग्य किसी आवश्यक कार्य के व्यासंग (रोध) का उद्भावन (जान) करके कथा में विच्छेद (अंतर) डालना, विक्षेप नामी निग्रहस्थान होता है; ऐसा अर्थ करने से यदि राजा के यहां बंधा चलाजाय, अथवा किसी यथार्थ आवश्यक कार्य के लिये गृह में चलाजावे, अथवा घर में आग लगी हुई देख के चलाजावे, अथवा शिर आदि अंगों की यथार्थ पीड़ा से रुका हो, तो उत्तर ना

देने पर भी विक्षेप नामी निग्रहस्थान में नहीं आसकता, इस पर आशंका है, कि कार्य का व्यासंग (रोध) कैसे कहा है; सभा के क्षोभ (भय) से कहो, तो अननुभाषण ही होवे, उत्तर के ना स्मरण से कहो, तो अप्रतिभा ही होवे; उत्तर यह है, कि समय (उत्तर का अवसर) ना होने से विक्षेप होता है; वास्तव यह है, उत्तर करने पर भी अन्यदोष के भय से विक्षेप होसकता है; जैसे किसीने कहा कार्य होनेसे शब्दी कर्तृ से जन्य है, इस पर अंकुर में व्यभिचार देना मुझे योग्य है, परन्तु वादी अंकुरको भी पक्ष ही मान लेगा, तो मैं क्या उत्तर देऊंगा, इसका उत्तर एक ग्रंथमें लिखा तो है, मैं किसी कार्य के व्याज से जा चल के उसे देखूं; ऐसे स्थान में विक्षेप होता है; २० ॥

इति न्यायसूत्र हाति में अननुभाषण आदि चार निग्रह स्थानों के निरूपण का ८१ वां प्रकरण समाप्त हुआ।

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात्परपक्षदोष प्रसङ्गोमतानुज्ञा । २१ ॥

मतानुज्ञा का लक्षण करते हैं, अपने पक्ष से दोष का उद्धार करने से विवादी पर (शत्रु के) पक्ष में दोष देना मतानुज्ञा नामी निग्रहस्थान होता है; जैसे किसी ने कहा, श्रोत्र के द्वारा प्रत्यक्ष होने से सिद्ध है, कि शब्द अनित्य है; इस पर किसी ने ध्वनि में व्यभिचार दोष दिया; वादी ने इस (व्यभिचार) का वारण करने से विना ही कह दिया, कि कार्य होने से शब्द अनित्य है,

इस तमारे अनुमान में भी स्वरूपासिद्धि दोष लगताहै, इसका नाम मनानुज्ञा है । २१ ॥

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम् । २२ ॥

पर्य्यनुयोज्योपेक्षण का लक्षण करते हैं, निग्रहस्थान (पराजय होने के योग्य असद्भूत पदार्थ) में प्राप्त पुरुष का निग्रह (दोषप्रगट) नहीं करना, पर्य्यनुयोज्योपेक्षण होता है; परन्तु जहां कई निग्रहस्थानों की प्राप्ति है, और उनमें से कोई एक भी बता दिया हो, तो वहां यह (पर्य्यनुयोज्योपेक्षण) नहीं मानना, किन्तु एक अथवा कई निग्रहस्थानों की प्राप्ति पर कोई भी निग्रहस्थान न दिखावे, तब यह माना है; यद्यपि अपनी को योग्य को नहीं इसे वादी तो नहीं दिखा सकता, तो भी मध्यस्थ को दिखाना योग्य है; और बाद में वादी के दिखाने पर भी कोई हानि नहीं है । २२ ॥

अनिग्रहस्थानेनिग्रहस्थानाभियोगोनिरनुयोज्यानुयोगः । २३ ॥

क्रम से प्राप्त निरनुयोज्यानुयोग का लक्षण करते हैं, समय पर प्रगट करने के योग्य निग्रहस्थान से भिन्न निग्रहस्थान को बिना अवसर के प्रगट करना निरनुयोज्यानुयोग नामी निग्रहस्थान होता है; इस अर्थ के करने से समय पर निग्रहस्थान के प्रगट करने में और एक निग्रहस्थान पर अन्य निग्रहस्थान के प्रगट क-

रने में लक्षण के ना जाने से अतिव्याप्ति दोष नहीं ल
गा; (निरनुयोज्यानुयोग) चार प्रकार का है, छलजा-
ति, आभास और अनवसरग्रहण, इनमें से अभिचा
र आदि के ऊपर असिद्धि आदि दोष देने को आभास क
हते हैं; बिना अवसर के दोष को प्रगट करना अनव
सरग्रहण कहाता है; जैसे कि यदि तुम अपने पक्ष
को त्यागो, तो प्रतिज्ञाहानि और यदि कोई अन्य वि
शेषण देवो, तो हेत्वंतर नामी निग्रहस्थान आता है;
इसी रीति समय बिना के दोष देना भी निरनुयोज्यानु
योग है, जैसे कहने के समय प्रतीत होने के योग्य
अपशब्द को कथा की समाप्ति होने पर प्रगट करना
अथवा मौन धारण करने से प्रतीत होने के योग्य अ
ज्ञान आदि को समय पर प्रगट ना करके अपना बो
ध प्रगट कराने के अर्थ वादी कुछ जब कहने लगा,
तो प्रगट करना; इत्यादि । २३ ॥

इति न्यायसूत्रहार्त्ति में प्रतिज्ञा आदि तीन निग्र-
हस्थानों के निरूपण का ८२ वां प्रकरण समाप्त
हुआ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥ ❖ ॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथा
प्रसङ्गोऽसिद्धान्तः । २४ ॥

क्रम से प्रथम असिद्धान्त का लक्षण कहते हैं, सि-
द्धान्त (अपने शास्त्र में माने पदार्थ) का स्वीकार क
रके अनियम (शास्त्र के विरुद्ध रीति) से कथा प्रसंग
(बातों का कथन) असिद्धान्त है; अर्थात् अपने

शास्त्र में स्वीकृत पदार्थ का कथा में परित्याग अपसिद्धांत है, जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की मैं सांख्य के मत से कहूंगा, पुनः कथा का आरंभ होने पर आविर्भाव का आविर्भाव मानने से अनवस्था दोष लगा; इस का उद्धार करने के अर्थ असत् मान के यदि आविर्भाव की उत्पत्ति मानी जावे, तो अपसिद्धांत नामी निग्रहस्थान आता है; क्योंकि असत् पदार्थ के मानने से ही माने हुए सांख्य के सिद्धांत का परित्याग होगया; और जो मनुष्य एक देशी के मत से कथा का आरंभ करता है, उस के कथन में किसी शास्त्रकार के सिद्धांत का कोई विरोध आभी जावे तो अपसिद्धांत नहीं आता; इतनी बात जनाने के अर्थ सूत्र में अभ्युपेत्य कहा है; क्योंकि एक देशी किसी सिद्धांत का भी स्वीकार नहीं करता; सो गत (बीत) अपसिद्धांत को दोषों में नहीं गिनने यह अन्यवाद है। २४ ॥

हेत्वाभासास्त्रयथोक्ताः।२५।

क्रम से प्राप्त हेत्वाभासों के लक्षण न करने का बीज (निमित्त) दिखाते हैं; इस सूत्र में चकार का अर्थ पुनः जानना, हेत्वाभास जिन २ धर्मों से पीछे कहे हैं, वैसे ही जानने, क्योंकि उन्हीं हेत्वाभासों के प्रयोग निग्रहस्थान हैं, इसलिये पुनः उन (हेत्वाभासों) के लक्षण करने की कोई अपेक्षा नहीं है; कोई लोग ऐसे कहते हैं, कि इस सूत्र में

चकार से बिन कहे दृष्टांत में हेतु का नाहोना आदि ले लेने, परन्तु यह कथन असंगत है, क्योंकि यथोक्त इन अवयवों की संगति नहीं लगेगी। २५ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में अप्रसिद्धांत आदि दो निग्रहस्थानों के निरूपण का ८२ वां प्रकरण समाप्त हुआ ॥ ॥

इति न्यायसूत्रवृत्ति में निग्रहस्थानों के विशेष लक्षणों का ५ वें अध्याय का २ य आह्निक समाप्त हुआ ॥

ऋषियों में श्रेष्ठ गौतमजी के सूत्रों की सहज वृत्ति (व्याख्या) श्रीकृष्णदेव के परम भक्त श्रीमत् शिरोमणी के वाक्यों का आशय लेकर श्रीविश्वनाथने बनाई ॥ ॥

इतिश्री महामहोपाध्याय श्रीविद्यानिवास के पुत्र श्रीविश्वनाथभट्टाचार्य की बनाई न्यायसूत्रवृत्ति का न्यायभाषा श्रीमत्पंडित जोझा जयपाल जी के पुत्र पंडित सुखदयाल शास्त्री का बनाया हिन्दी में अनुवाद समाप्त हुआ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

न्यायसूत्रवृत्ति का सूचीपत्र।

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
मंगलाचरण	क	३
पहिले अध्याय की अवतरणिका	ग	६
न्यायशास्त्र के प्रयोजन और पदार्थों का उद्देश	१	३
तत्त्वज्ञान से मोक्ष की उत्पत्ति का क्रम	७	१
१ म प्रकरण की समाप्ति	८	१५
प्रमाणों के विभाग और लक्षण	९	१
प्रत्यक्ष का लक्षण	”	१५
अनुमान का लक्षण और विभाग	१२	१
उपमान का लक्षण	१३	१७
शब्द का लक्षण और विभाग	१४	११
२ य प्रकरण की समाप्ति	१५	४
प्रमेयों के विभाग और लक्षण	१६	१
आत्मा के लक्षण	”	२०
शरीर के लक्षण	१७	१४
इंद्रियों के विभाग	१८	१२
भूतों के विभाग	२०	१९
अर्थों के विभाग	२१	७
बुद्धि का लक्षण	२२	४
मन का लक्षण	२३	१
प्रवृत्ति का लक्षण और विभाग	”	२०
दोषों के लक्षण	२४	१५
प्रेत्यभाव का लक्षण	२५	११

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
फल का लक्षण	२६	५
दुःख का लक्षण	२७	१
अपवर्ग का लक्षण	,,	१८
१२ वें प्रकरण की समाप्ति	२८	१०
संशय का लक्षण और विभाग	२९	१
प्रयोजन का लक्षण	३०	१६
दृष्टान्त का लक्षण	३१	११
१३ वें प्रकरण की समाप्ति	३२	४
सिद्धान्त का लक्षण	३३	१
सिद्धान्त के विभाग	,,	११
सर्वतन्त्रसिद्धान्त का लक्षण	३४	३
प्रतितन्त्रसिद्धान्त का लक्षण	,,	१२
अधिकरणसिद्धान्त का लक्षण	३५	४
अभ्युपगमसिद्धान्त का लक्षण	३७	१
१५ वें प्रकरण की समाप्ति	३७	१६
अवयवों के विभाग	३८	१
प्रतिज्ञा का लक्षण	,,	११
हेतु का लक्षण और विभाग	३९	१७
उदाहरण का लक्षण	४०	१३
व्यतिरेकिउदाहरण का लक्षण	४१	७
उपनय का लक्षण	४२	१
निगमन का लक्षण	,,	२१
१६ वें प्रकरण की समाप्ति	४३	१४

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
तर्क का निरूपण	५५	१
निर्णय का लक्षण	५७	३
७ वें प्रकरण की समाप्ति	"	१९
प्रथम अध्याय के १म आह्निक की समाप्ति	"	२१
आह्निकों की संगति	५८	१
वाद का लक्षण	५९	१
जल्प का लक्षण	५०	१७
वितंडा का लक्षण	५२	१२
८ वें प्रकरण की समाप्ति	५३	५
हेत्वाभासों के विभाग और लक्षण	५४	१
सव्यभिचार का लक्षण	५६	१०
विरुद्ध का लक्षण	५८	१६
प्रकरण सम का लक्षण	५९	१२
साध्य सम का लक्षण	६१	२
अतीत काल का लक्षण	६३	७
९ वें प्रकरण की समाप्ति	६४	१३
छल का लक्षण	६५	१
छलों के विभाग	६६	१
वाक् छल का लक्षण	"	६
सामान्य छल का लक्षण	६७	१
उपचार छल का लक्षण	"	१९
छलों के विभाग पर आक्षेप	६९	९
उस का समाधान	"	१४

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
उत्तर का सहायक	६९	२०
१० वें प्रकरण की समाप्ति	७०	७
जाति का लक्षण	७१	१
निग्रहस्थान का लक्षण	,,	२२
११ वें प्रकरण की	७२	१८
दूसरे आह्निक की समाप्ति	७२	२५
प्रथम अध्याय की समाप्ति	७२	२०
२ य अध्याय की अवतारणा का	७३	१
संशय के कारणों पर आशंका	७४	२५
संशय का सिद्धान्त	७८	१०
संशय की परीक्षा में अन्यों की परीक्षा	८०	१
१२ वें प्रकरण की समाप्ति	,,	१६
प्रमाणों पर आशंका	८१	१
उत्तर	८३	१६
और उत्तर	,,	२२
और आशंका	८६	९
समाधान	८७	५
१३ वें प्रकरण की समाप्ति	८८	१५
प्रत्यक्ष के लक्षण पर आशंका	८९	१
उत्तर	,,	१५
पुनः आशंका	९०	३
उत्तर	,,	११
मन की अणुता की सिद्धि	,,	२०

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
प्रत्यक्ष का सिद्धान्त	९१	११
पुनः आक्षेप	९३	२
उत्तर	,,	५
प्रत्यक्ष को अनुमिति मानने का आक्षेप	९४	१
उत्तर	,,	१३
अवयवी के अनुमान का खण्डन	९५	१
१४ वें प्रकरण की समाप्ति	,,	२७
अवयवी का खण्डन	९६	१
उत्तर	९७	१
और उत्तर	,,	२१
पुनः बौद्धों की आक्षेप और उत्तर	९८	५
१५ वें प्रकरण की समाप्ति	,,	२३
अनुमान का खण्डन	९९	१
समाधान	१००	१८
१६ वें प्रकरण की समाप्ति	१०१	१२
वर्त्तमान काल का खण्डन	१०२	१
उत्तर	,,	२२
१७ वें प्रकरण की समाप्ति	१०४	१२
उपमान पर आक्षेप	१०५	१
समाधान	,,	१७
उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव	१०६	१
रस का खण्डन	,,	१२
१८ वें प्रकरण की समाप्ति	१०७	८

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
शब्द का खण्डन	१०८	१
समाधान	११०	११
१९ वें प्रकरण की समाप्ति	१११	१७
वेदों में प्रामाण्य का खण्डन	११२	१
उत्तर	,,	११
वेदवाक्यों के विभाग	११४	२०
विधि का लक्षण	११५	१
अर्थवाद के विभाग	,,	९
अनुवाद का लक्षण	११६	४
वेदों को प्रमाण मानने में युक्ति	११७	१०
२० वें प्रकरण की समाप्ति	,,	१९
२ य अध्याय के १ म आह्निक की समाप्ति	,,	२०
प्रमाणों की चार संख्या पर आक्षेप	११८	१
उत्तर	११९	१७
चार से अधिक प्रमाणों का खण्डन	१२०	९
२१ वें प्रकरण की समाप्ति	१२४	१५
शब्द में अनित्यत्व के संदेह की युक्ति	१२५	१
शब्द के अनित्यत्व में गौतम का सिद्धान्त	,,	११
सिद्धान्त पर आक्षेप	१२७	१
सिद्धान्ती का उत्तर	१२८	१
किसी भ्रांत की आशंका	१३०	१५
पुनः आक्षेप	१३१	१
समाधान	,,	१३

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
पुनः आशंका	१३२	१
उत्तर	,,	५
पुनः आशंका	,,	१०
उत्तर	१३३	३
आशंका	,,	१३
उत्तर	१३४	७
आशंका	,,	१५
उत्तर	,,	२३
भेद का खण्डन	१३५	७
समाधान	,,	१७
पुनः आक्षेप	१३६	३
उत्तर	,,	५
सिद्धान्त	,,	२१
आशंका	१३७	३१
उत्तर	१३८	१
२२ वें प्रकरण की समाप्ति	,,	१९
शब्द को परिणाम मानने का संदेह	१३९	१
इस का खण्डन	,,	१९
सांख्य कार का आक्षेप	१४०	७
उत्तर	,,	११
पुनः आशंका	१४१	९
समाधान	,,	१७
शब्द में विकार का व्यवहार	१४७	७

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
२१ वें प्रकरण की समाप्ति	१५८	२
पद का वर्णन	,,	४
पद के अर्थ में संदेह	१५९	१
केवल व्यक्ति में शक्ति का मत	,,	१५
केवल व्यक्ति में शक्ति का खण्डन	१५०	१४
आकृति में शक्ति का मत	१५२	१४
केवल जाति में शक्ति	१५३	१
केवल जाति में शक्ति का निषेध	,,	१५
पदार्थ का सिद्धान्त	१५४	९
व्यक्ति का लक्षण	,,	२०
आकृति का लक्षण	१५५	१४
जाति का लक्षण	,,	२१
२४ वें प्रकरण की समाप्ति	१५६	१३
२य अध्याय में २य आह्निक की समाप्ति	,,	१४
२य अध्याय की समाप्ति	,,	१६
३य अध्याय की अवतारणिका	१५७	१
इंद्रियों को चेतन मानने का खण्डन	१५८	४
आशंका	,,	१५
सिद्धांती का उत्तर	,,	२१
२५ वें प्रकरण की समाप्ति	१५९	११
शरीर को चेतन मानने का खण्डन	,,	१५
आशंका	१६०	३
समाधान	,,	१५

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
२६ वें प्रकरण की समाप्ति	१६१	८
चक्षु इंद्रिय में एकता की सिद्धि का प्रकरण	१६१	१०
इस का खण्डन	१६२	१
समाधान	१६२	६
२७ वें प्रकरण की समाप्ति	१६५	७
मन को चेतन मानने की आशंका ...	"	६
उत्तर	"	१४
२८ वें प्रकरण की समाप्ति	१६६	१२
आत्मा में नित्यत्व की सिद्धि	"	१४
आशंका	१६७	१०
सिद्धान्ती का उत्तर	"	२८
२९ वें प्रकरण की समाप्ति	१७०	१
शरीर में एक भूत से उत्पन्न होने की सिद्धि	"	२
शरीर को पार्थिव मानने में अन्य युक्ति	१७१	१०
३० वें प्रकरण की समाप्ति	१७१	१२
इंद्रियों में भौतिकत्व की परीक्षा	"	१४
सांख्य के मत से बौद्धों का खण्डन ...	१७३	२१
इंद्रियों के विषय में सांख्य का खण्डन	१७५	१
बौद्धों की आशंका	"	१३
उत्तर	"	८
चक्षु का प्राप्यत्व न होने में युक्ति ...	१७५	९
३१ वें प्रकरण की समाप्ति	१८१	२३
बहुत इंद्रियों के मानने की परीक्षा	"	२४

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
२१ वें प्रकरण की समाप्ति	१८५	१५
शब्दों की परीक्षा	"	१६
२२ वें प्रकरण की समाप्ति	१९०	४
४ थे अध्याय के १ म आह्निक की समाप्ति	"	५
बुद्धि में अनित्यता का संदेह	१९१	३
बुद्धि को नित्य मानने में सांख्य का मत	"	१९
सिद्धान्ती का उत्तर	१९२	६
बुद्धि को नित्य मानने में सांख्य की अन्य युक्तियों का खंडन	"	११
न्याय के मत से एक क्षण में अनेक ज्ञानों के न उत्पन्न होने की युक्ति	१९३	६
क्षणिक विज्ञान वादी बौद्ध की आशंका	१९४	९
इस का खण्डन	"	१९
२३ वें प्रकरण की समाप्ति	१९५	५
सब पदार्थों को क्षणिक मानने में बौद्धों का मत	१९५	७
न्याय मत से बौद्धों का खण्डन	१९६	४
सिद्धान्त की साधक युक्ति	"	११
पुनः बौद्धों की आशंका	"	१७
न्याय का सिद्धान्त	१९७	१
बौद्ध के मत पर सांख्य का आक्षेप	"	९
सांख्य का खंडन और न्याय का सिद्धान्त	"	१९
२४ वें प्रकरण की समाप्ति	१९८	१९
बुद्धि आत्मा का गुण है, इस की सिद्धि	१९९	१
२५ वें प्रकरण की समाप्ति	२११	१७

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
उत्पत्ति से अनंतर तीसरे क्षण में बुद्धि के नाश	२११	१९
२७ वें प्रकरण की समाप्ति	२१४	१
शरीर में विशेषरूपसे आत्मा का खण्डन	,,	३
२८ वें प्रकरण की समाप्ति	२१८	१५
परीक्षा के द्वारा अनित्य शरीर में एक मनकी सिद्धि	,,	१७
२९ वें प्रकरण की समाप्ति	२२०	७
जीवों के अदृष्ट से देहकी उत्पत्ति की सिद्धि	,,	९
३० वें प्रकरण की समाप्ति	२२६	१६
२ य अध्याय के २य आह्निक की समाप्ति	,,	१८
२ य अध्याय की समाप्ति	,,	१९
३ य अध्याय की अवतरणी का	२२७	१
प्रवृत्ति की परीक्षा	,,	२३
दोषों की परीक्षा	२२८	२७
३१ वें प्रकरण की समाप्ति	,,	२३
दोषों के तीन समूहों की सिद्धि	२२९	२
३२ वें प्रकरण की समाप्ति	२३१	९
प्रेत्यभाव का सिद्धांत	,,	११
पदार्थों की उत्पत्ति का क्रम	२३५	१९
३३ वें प्रकरण की समाप्ति	२३९	३
अभाव से पदार्थों की उत्पत्ति का मत	,,	५
इस का खण्डन	,,	१९
३४ वें प्रकरण की समाप्ति	२४९	२३
ईश्वर को जगत का कारण मानना	,,	२५

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
४५ वें प्रकरण की समाप्ति	२४१	३
कारण से विना (अकस्मात्) जगत की उत्पत्ति का मत और खंडन	"	५
४६ वें प्रकरण की समाप्ति	२४३	७
सब पदार्थों को अनित्य मानने का मत और खंडन	"	९
४७ वें प्रकरण की समाप्ति	२४५	११
सब पदार्थों को नित्य मानने का मत और खंडन	"	१३
४८ वें प्रकरण की समाप्ति	२४७	१३
शून्यवाद और उसका खंडन	"	१५
४९ वें प्रकरण की समाप्ति	२४९	१८
सब पदार्थों को अभावरूप मानने का मत और खंडन	"	१९
५० वें प्रकरण की समाप्ति	२५१	२२
पदार्थों के संख्या भेद और सिद्धान्त	२५२	१
५१ वें प्रकरण की समाप्ति	२५४	३
फल की परीक्षा	२५५	४
५२ वें प्रकरण की समाप्ति	२५९	१३
दुःख की परीक्षा	"	१५
५३ वें प्रकरण की समाप्ति	२६१	१९
मोक्ष की परीक्षा	"	१९
५४ वें प्रकरण की समाप्ति	२६९	११
४ थे अध्याय के २ य आह्निक की समाप्ति	"	१३
तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति	२७०	१
५५ वें प्रकरण की समाप्ति	२७२	२२

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
अवयवी (स्थूलपदार्थों) का खंडन और सिद्धि	२७३	२
५८ वें प्रकरण की समाप्ति	२७९	१०
परमाणु के अवयवों की आशंका और खंडन	"	१२
५९ वें प्रकरण की समाप्ति	२८३	२०
बाह्य (ज्ञानमेभिन्न) पदार्थोंका खंडन समाधान	"	२२
५९ वें प्रकरण की समाप्ति	२९९	७
तत्त्वज्ञान की दृढ़ता पर आशंका और समाधान	"	९
योगाभ्यास के योग्य स्थान	२९१	५
५९ वें प्रकरण की समाप्ति	२९५	५
तत्त्वज्ञान की रक्षा का क्रम	"	८
६० वें प्रकरण की समाप्ति	२९६	१०
४ थे अध्याय के २य आह्निक की समाप्ति	"	१२
४ थे अध्याय की समाप्ति	"	१४
५ वें अध्याय की अवतरणिका ...	२९७	१
जातियों के विशेष विभाग का सूत्र ...	२९८	२
साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम का लक्षण	२९९	६
इन दोनों के उक्त होने में हेतु	३०१	१
६१ वें प्रकरण की समाप्ति	"	६
उत्कर्षसम आदि ६ जातियों का वर्णन	"	१९
इन सबों की उक्तता का बीज	३०७	११
६२ वें प्रकरण की समाप्ति	३०९	१६
प्राप्तिसम और अप्राप्तिसम का निरूपण	"	१९
इन की उक्तता का बीज	३११	६

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
९२ वें प्रकरण की समाप्ति	३१२	५
प्रसंगसम और अतिदृष्टांतसम का निरूपण	"	७
प्रसंगसम का खण्डन	३१३	१३
अतिदृष्टांतसम का खण्डन	३१४	२
९४ वें प्रकरण की समाप्ति	"	२०
अनुत्पत्तिसम का लक्षण	"	२१
इस का उत्तर	३१५	९
९५ वें प्रकरण की समाप्ति	"	११
संशयसम का लक्षण	३१६	१
इस का उत्तर	३१८	१
९६ वें प्रकरण की समाप्ति	"	२३
प्रकरणसम का लक्षण	३१९	१
इस का उत्तर	"	१५
९७ वें प्रकरण की समाप्ति	३२०	५
अहेतुसम का लक्षण	"	७
इस का उत्तर	३२१	३
९८ वें प्रकरण की समाप्ति	"	१५
अर्थापत्तिसम का लक्षण	"	१७
इस का खण्डन	३२२	१४
९९ वें प्रकरण की समाप्ति	३२३	३
विशेषसम का लक्षण	"	५
इस का उत्तर	"	११
१०० वें प्रकरण की समाप्ति	३२४	६

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
उपपत्ति सम का लक्षण	३२४	८
उपपत्ति सम का उत्तर	"	२१
७१ वें प्रकरण की समाप्ति	३२५	७
उपलब्धि सम का लक्षण	"	९
इस का उत्तर	३२६	४
७२ वें प्रकरण की समाप्ति	"	१३
अनुपलब्धि सम का लक्षण	"	१५
इस का उत्तर	३२७	१५
७३ वें प्रकरण की समाप्ति	३२८	१९
अनित्य सम का लक्षण	"	२१
इस का उत्तर	३३०	१
७४ वें प्रकरण की समाप्ति	३३१	६
नित्य सम का लक्षण	"	८
नित्य सम का उत्तर	३३२	१४
७५ वें प्रकरण की समाप्ति	३३३	९
कार्य सम का लक्षण	"	११
कार्य सम का उत्तर	३३४	९
७६ वें प्रकरण की समाप्ति	"	२३
मिथ्या विचार का प्रकरण	३३५	१
७७ वें प्रकरण की समाप्ति	३३८	८
५ वें अध्याय के १म आह्निक की समाप्ति	"	१०
निग्रहस्थानों के विशेष विभाग	३३९	१
प्रतिज्ञा हानि का लक्षण	३४०	५

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
प्रतिज्ञानर का लक्षण	३४१	७
प्रतिज्ञाविरोध का लक्षण	३४२	१०
प्रतिज्ञासंन्यास का लक्षण	३४३	२
हेत्वंतर का लक्षण	”	११
७८ वें प्रकरण की समाप्ति	३४४	१०
अर्थांतर का लक्षण	”	१३
निरर्थक का लक्षण	”	२२
अविज्ञातार्थ का लक्षण	३४५	१२
अपार्थक का लक्षण	३४६	७
७९ वें प्रकरण की समाप्ति	३४८	१
अप्राप्तकाल का लक्षण	”	४
न्यून का लक्षण	३४९	१
अधिक का लक्षण	”	१५
८० वें प्रकरण की समाप्ति	३५०	१
पुनरुक्त का लक्षण	”	४
पुनरुक्त का अनुवाद से भेद	”	१८
८१ वें प्रकरण की समाप्ति	३५१	१२
अननुभाषण का लक्षण	”	१५
अज्ञान का लक्षण	३५२	१७
अप्रतिभा का लक्षण	३५३	२
विक्षेप का लक्षण	”	१५
८२ वें प्रकरण की समाप्ति	३५५	१४
मतानुज्ञा का लक्षण	”	१८

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
अर्थापत्त्युपपादनोपपत्ति का लक्षण	३५५	३
निरर्थापत्त्युपपादनोपपत्ति का लक्षण	,,	१७
८३ वें प्रकरण की समाप्ति	३५८	१८
अपसिद्धान्त का लक्षण	,,	१९
हेत्वाभास का लक्षण	३५७	१७
८४ वें प्रकरण की समाप्ति	३५९	४
५ वें अध्याय के २य आह्निक की समाप्ति ..	,,	६
न्यायसूत्रवृत्ति की समाप्ति	,,	१२

इति ॥ ॐ ॥

न्यायसूत्रवृत्तिमें अशुद्धि और शुद्धि पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
र्म्म,	र्म्म	१	९	ते	हो	२५	२२
ग,)	ग),	,,	१५	मे	नि	२५	१
क	क	,,	२०	अर्थमेनय	अर्थप्रेत्यभा	,,	१३
ये	यें	२	६	व्याकरण	व्याकरण	,,	१३
ओ के	ओंके	६	९	है	हैं	२६	२
ग,)	ग),	७	५	म्म	न्य	३०	९
प)	प),	,,	५	देमभाव	देन्त	३१	१६
य	प	४	१९	वेंगे	वेगा	३३	२०
ज्ञान	ज्ञान	११	८	ष	ष	३४	१५
हैं	है	१४	४	ाथि	ाधि	,,	२१
गा	ण	,,	२१	अ	अ	,,	२३
को	को	१८	२३	ह्रास	ह्रसरा	,,	२४
वे	वें	१७	१९	अर्थवा	अथवा	,,	,,
अरम्भी	यदृच्छी	१८	२२	म,	मा	३५	७
य	र्थ	,,	२३	ण)	ण	,,	१५
के	में	२१	१५	वृत्तिके	वृत्तिमें	३७	१५
ऐसीउक्त	ऐसीयुक्त	,,	१९	मा	मा	४१	२२
न्य	न्ना	२२	१८	यद्द	यद	४२	१०
त	तर	,,	१९	विशेष	विशेषण	,,	११
य	प	२३	१	हैं,	है;	४३	१
में	मेंभी	२५	१	मे	मे	४४	१४
नासत्त	नासत्त	,,	१५	म	ग्र	४७	,,

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
नत्र	नत्र	४८	१७
उस	उसे	,,	२०
वि	नि	४८	१
दः	दः	४९	३
मे	ने	,,	७
दिये	दिये	,,	१८
राम	राग	,,	२४
है	है	५३	३
लों	हो	५४	१७
-भायाहै,	जनायाहै,	५४	२४
इष्ट	इष्ट	,,	२४
त	स	५५	१८
भिचारी	अभिचारी	५७	३
भाव	भाव	५९	३
प्रकरण	प्रकरणं	,,	२१
ा र्थ	अर्थ	,,	२३
त्रका	त्रका	६१	११
था	र्थो	६५	६
है,	है,	,,	१८
होहै,	होहै,	६८	२४
निश्चित्र	निश्चित	६९	७
हता	हठ	,,	२२
श्चिरुद्ध	विरुद्ध	७०	३

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
इनरकावणे नकठ	उनरकावणे नकर	७१	२०
यहांजानि	जानि	७२	१८
लिये	लिये	७३	१९
अध्याप्र	अध्याय	७४	११
ऊभी	कभी	७५	४
के	के	७८	१३
विषा	विशे	७९	२०
सकला	सकते	,,	२२
मुत्र	मुत्र	८०	१
केपहिले	में २रे	,,	१८
यदा	यत्र	८१	३
व,	न,	,,	४
है;	है;	,,	१२
वा	का	,,	११
सं	एं	,,	,,
का	मा	,,	१४
गा	ए	,,	,,
भेद	भेद	८३	११
मान	मान	८७	१७
अन्यत्रनहीं	अन्यत्र	९०	२
भेद	भेद	९१	२०
कांपते	कांपते	९८	१६
दही	दही	९८	९

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
वत	बन	९८	१५	न	उ	१२९	१९
बा	या	९९	१	किंव	किंव	१३१	५
से	सं	१०१	४	होना	होती	१३४	१९
कौं	कों	,,	,,	यो	यो	१३५	२४
केचन	केवल	१०२	२०	ती	तो	१३७	२
ओं	औं	,,	२२	या	वा	,,	१६
कौं	को	१०९	१४	नित्य	अनित्य	,,	२०
ई	१	,,	१९	२	२२	१३८	२०
शेष	शेषे	१११	८	ख	स	१४७	५
१८	१९	,,	१७	च	उ	,,	२२
भतीजे	शाउ	११४	९	हा	हो	१४८	२४
मे	से	,,	१७	उचा	उपचा	१४९	२०
१९	२०	११७	१९	तिनो	तिनो	१५०	२
वि	ति	१२१	२	बोध	बोध	१५१	१
सं	एं	,,	५	विनाशिणो ह(विनो	विनाशिणो ह(विनो	,,	३
ज्र	न	,,	१३	जिन	इन	,,	७
षि	सि	१२२	३	न्य	व्य	१५२	२२
प्रय	मेय	१२३	२४	त्रि	क्रि	१५३	३
च	व	१२५	२१	पदार्थों के	पदार्थों के	१५७	२
र	व्व	१२८	८	से	में	,,	१२
ना	ना	,,	११	नामवदां	नामवदां	,,	१८
ग	न	१२७	१८	इंद्रियों सों	इंद्रियों में	,,	१७
स	त	,,	१३	लोकोचंत्र	लोकोचेत्र	,,	१८

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
है,	है,	१५७	१४
सा	से	"	१४
व	न	१५८	४
(चत्व)	(चत्व)	"	१०
स्वर्श	स्पर्श	"	११
ना	ना	१५९	७
स्य	स्य	१६१	४
ड़ि	ड़ि	१६२	५
ड़	ड़	"	१४
ये	षे	"	१७
२	२	१६९	१४
किअवश्य	किआत्मा अवश्य	"	२३
वे	ने	१७९	१८
ति	ति	१८४	१
टी	ही	१८६	९
ड	ड	"	११
गम	सम	१८७	२३
षे	ये	"	२४
य	ग	१९६	४
साए	माए	२०६	७
है,	है,	"	८
ति	ति	२०७	१

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
आ	आ	२०८	१८
गुण	गुण	२०९	१०
आनि	आनि	"	१९
ओ	के	२१०	२२
डुदि	डुदिको	२११	१७
पि	पि	"	१९
नीष	नीस	"	२२
ड	ड	२१३	९
त्ते	त्तें	२१३	२१
रो	या	२१४	२१
ष	ष	२१६	१५
के अर्थ	अर्थे	२२४	१८
आश	नाश	२२५	२२
ए	गु	२२८	८
आ	आ	२२९	२४
ड	है	२३०	९
व	न	"	१८
२	ट	"	२१
ध	धः	२३१	२०
औं	औं	"	२३
ओष	दोष	२३२	७
ड	ड	"	१३
यदि	यदा	"	१७

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
म्त	न्त	२३५	२१	संयोग	संयोग	२४९	१
(परमाण)	(परमाणु)	२३५	१	मे	म	"	९
माश	नाश	२३८	२१	बना	बाना	२५०	१०
ग्र	ग्रं	२३८	७	थिवीआ	थिवीआ	"	११
ष्य	ष्क	२४०	१८	थतीति	थतीति	"	१३
ग्रम	ग्रम	२४१	२२	अर्थात्	अर्थात्	"	१४
का	का	२४३	१	में	में	"	१७
गै	वै	"	१	आनने	मानने	"	१७
वहीं	नहीं	"	३	ए	व	"	२०
उनो	नोड़	"	८	जैरजातिया	जैरजातियां	२५१	८+९
योंने	यौंमें	"	११	का	ता	"	१६
या	ग	"	१२	एकेली	एकही	२५२	७
वा	दा	"	१५	एदार्थ	पदार्थ	"	८
गा	ना	"	२५	पेदार्थ	पदार्थ	"	९
ग्रम	मन	२४४	८	वेदैन्य	वेदना,	"	२३
थनिता	थनित्यता	"	१०	फ	फ	२५४	७
थचि	थग्नि	"	१५	मे	ने	"	८
में	में	"	२१	हें	वें	२५५	८
सेही	सेही	२४८	१३	जा	व्या	"	१२
दौं	हौं	"	१५	ज्ञास	जाल	"	१८
नौनो	नौ	२४७	११	त्व	त्व	२५७	१७
स्या	स्या	१४८	१८	ट	ल	"	१४
उनीथतीति	उनथतीति	२४९	१	त्व	त्व	२६०	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
नि	त्रि	२६१	२४	साध	साम्य	३०६	१५
भर	भर	२६२	१६	मा	ना	३०८	१३
फोग	कोत्याग	२६३	७	६१	६२	३०९	१६
यम	मय	२६५	७	६२	६३	३१२	६
स्वर्ग	स्वर्ग	२६७	९	सूमा	सुमा	"	१२
रो	से	२७०	२०	कारण	कारण	३१३	६
ना	ना	२७४	१२	अयोग	प्रयोग	"	१२
क्यो	क्यों	२७५	११	६३	६४	३१४	२१
५५	५६	२७९	११	६	३	३१५	२
५६	५७	२८२	१९	६४	६५	३१६	२४
३	३	"	२०	किंतुनित्य त्वकीसि द्धि नाहो	०	३१८	२१
५	५	२८५	१९				
षाण	षाण	२८६	४	६५	६६	"	२४
३	३	२८८	१९	६६	६७	३२०	६
५७	५८	२८९	८	६७	६८	३२१	१६
ष्या	ष्या	"	१३	६८	६९	३२३	४
सो	सो	२९१	६	ना	नी	"	१८
६८	६०	२९४	२१	६९	७०	३२४	७
५८	५९	२९५	६	७०	७१	३२५	८
५९	६०	२९६	१०	७१	७२	३२६	१३
रेष्मा	रेकष्मा	२९९	१३	७२	७३	३२८	२१
६०	६१	३०१	१९	नादो	वादी	३२९	६
थ्यो	थो	३०२	१२	लगे	दा	"	८

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
७३	७४	३३१	७
७४	७५	३३३	३
मे	ने	,,	१५
मेसे	नेसे	,,	१५
ष्ठ	ष्ण	३३४	४
ण	ण्य	,,	५
७५	७६	,,	२४
न	न्न	३३५	१७
ना	नौ	३३६	१९
यात्न	यत्न	,,	११
कीवाईं	कीनाईं	,,	१३
७६	७७	३३८	१९
स	से	३४१	२३
७७	७८	३४४	१२
ग	ग्र	३४५	२०
सें	मैं	,,	२४
७८	७९	३४८	२
का	के	,,	७
स	ब	३४९	९
७९	८०	३५०	२
९	८	,,	२४
८०	८१	३५१	१३
भोलिविशेष	भोलिविशेष	,,	१८

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
बाले	बोले	३५१	२१
मिहों	मिले	३५२	१४
ष	ष्ठ	,,	१५
गमनप्रा	नो कुछन हीं समुझा	,,	२४
स्या	स्था	३५४	१
८१	८२	,,	१५
८२	८३	३५६	१७
८३	८४	३५८	५
	नत्सन्		

BINDING SECT. JUL 28 1969

B
132
N8G678
1883
c.1
ROBA

Gotama, Called Aksapada
Nyaya sutra

PLEASE DO NOT REMOVE
CARDS OR SLIPS FROM THIS POCKET

UNIVERSITY OF TORONTO LIBRARY

UTL AT DOWNSVIEW
D RANGE BAY SHLF POS ITEM C
39 13 08 11 09 014 1